बेनीपुरी-ग्रंथावली

दूसरा खंड



बेनीपुरी-ग्रंथावली

दूसरा खंड

नाटक :: एकांकी :: रूपक

बेनीपुरी-प्रकाशन

पटना : : मुज़फ़्फ़रपुर

प्राप्ति-स्थान

बेनीपुरी-प्रकाशन

पटना, ६

मूल्य

प्रति खंड १२॥)

पूरी ग्रंथावली का १००) अग्रिम

मुद्रक

संजीवन प्रेस

दीघा घाट

पटना

प्रथम संस्करण

फरवरी १९५५

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

के

अनन्य सेवक, संस्थापक और सभापति



स्वर्गीय भाई रामधारी प्रसाद की स्मृति में

रामवृक्ष बेनीपुरी

निवेदन

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी—यह नाम हिन्दी-संसार के कोने-कोने में एक विशेष प्रकार की साहित्य-साधना और भाषा-शैली के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है।

लगभग एक दर्जन मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाओं के जन्मदान, सम्पादन और संचालन के अतिरिक्त, राजनीति के संघर्षमय जीवन में रहते हुए और आठ वर्षों तक जेल की चहारदीवारियों में बंद रखे जाने पर भी, बेनीपुरीजी ने हिन्दी-साहित्य को जितने अनमोल रत्न दिय हैं, उनकी संख्या और विशिष्टता पर ध्यान देने से महान आश्चर्य होता है!

लगभग सत्तर पुस्तकें उनके नाम की छाप लेकर आज भी प्रचलित हैं, यद्यपि उन्होंने कितने ही पुस्तकें भिन्न-भिन्न उपनामों से भी लिखी हैं और कुछ प्रकाशित रचनायें समय मे पीछे भी पड़ गई हैं, जिनकी चर्चा भी फिजूल है।

बच्चों के लिए छोटी-छोटी मनोरंजक पुस्तकों से लेकर साहित्य और राजनीति को उन्होंने कितने ही ऐसे ग्रंथ दिये हैं, जो अपनी मौलिकता और प्रमाणिकता के लिए सुधि-समाज से शतशः प्रशंसायें प्राप्त कर चुकी हैं। विषयों की विभिन्नता की दृष्टि से देखिए, तो और भी आश्चर्य होता है—नाटक, एकांकी, उपन्यास, कहानी, जीवनी, संस्मरण, भ्रमण, निबन्ध, विश्लेषण; जिस विषय पर बेनीपुरीजी की लेखनी चली, उसने कमाल दिखलाया। अपने अनूठे शब्दचित्रों के लिए तो बेनीपुरीजी को समूचे हिन्दी-संसार से सर्वश्रेष्ठता का प्रमाणपत्र मिल ही चुका है!

किन्तु बेनीपुरी-साहित्य के प्रेमियों के लिए दुख की बात यह रही कि उनकी पुस्तकें भिन्न-भिन्न प्रकाशकों द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों से प्रकाशित हुईं और वे इस तरह बिखरी-बिखरी पड़ी हैं कि उनका संकलन तो मुश्किल रहा ही है, उनके परिणाम और गुण का मूल्यांकन भी सम्यक रूप से नहीं हो पाया है।

इसी अभाव की पूर्त्ति के लिए आज से चार साल पहले हमने बेनीपुरी-प्रकाशन का जन्म दिया, किन्तु कई कारणवश इस सम्बन्ध में वैसी प्रगति नहीं हो सकी, जैसी हम चाहते थे। कुछ फुटकल पुस्तकों के प्रकाशन तक हम सीमित रहे; यद्यपि हिन्दी-संसार से हमें प्रोत्साहन यथेष्ट मिला।

किन्तु, अब परिस्थिति ऐसी आ गई है कि हम इस ओर ठोस कदम बढ़ा सकें और जिस महान आयोजन का श्रीगणेश हम करने जा रहे हैं, निस्सन्देह, हिन्दी में यह एक अभिनव प्रयास है।

हम बेनीपुरीजी की सारी रचनाओं को ग्रंथावली के रूप में प्रकाशित करने जा रहे हैं। यह ग्रंथावली दस खंडों में अलग-अलग जिल्दों में इस प्रकार प्रस्तुत की जायगी—

पहला खंड

शब्दचित्र : कहानियाँ : उपन्यास

१. माटी की मूरतें
२. पतितों के देश में
३. लाल तारा
४. चिता के फूल
५. कैदी की पत्नी
६. गेहूँ और गुलाब

दूसरा खंड

नाटक : एकांकी : रूपक

१. अम्बपाली
२. सीता की माँ
३. संघमित्रा
४. अमर ज्योति
५. तथागत
६. सिंहल-विजय
७. शकुन्तला
८. राम-राज्य
९. नेत्रदान
१०. गाँव के देवता
११. नया समाज
१२. विजेता

तीसरा खंड

संस्मरण : निबंध : भाषण

१. जंजीरें और दीवारें
२. मुझे याद है !
३. मेरी डायरी
४. नई नारी
५. सुनिये !
६. मशाल
७. वन्दे वाणी विनायकौ
८. कुछ मैं, कुछ वे

चौथा खंड

बाल-साहित्य : पहली जिल्द

१. अमर कथायें: मनु से गांधी तक (दो भाग)
२. अमर कथायें : लाओजे से लेनिन तक (दो भाग)
३. हम इनकी संतान हैं (दो भाग)
४. पृथ्वी पर विजय (दो भाग)
५. प्रकृति पर विजय (दो भाग)
६. संसार की मनोरम कहानियाँ (दो भाग)
७. इनके चरण चिह्नों पर

पांचवां खंड

बाल-साहित्य : दूसरी जिल्द

१. बगुला भगत
२. सियार पांड़े
३. बिलाई मौसी
४. हिरामन तोता
५. बेटे हों तो ऐसे
६. बेटियाँ हों तो ऐसी
७. शिवाजी
८. गुरु गोविन्द सिंह
९. अमृत की वर्षा
१०. बच्चों के बापू
११. जीव-जन्तु
१२. अनोखा संसार
१३. झोपड़ी से महल
१४. सतरंगा धनुष

छठा खंड

राजनीति : जीवनियाँ

१. कार्ल मार्क्स
२. रोजा लुक्जेम्बुर्ग
३. रूस की क्रांति
४. लाल चीन
५. जयप्रकाश : जीवनी
६. जयप्रकाश की विचार-धारा

सातवां खंड

साहित्य : टीकायें

१. विद्यापति की पदावली
२. रवीन्द्र-भारती
३. इक़बाल
४. बिहारी-सतसई
५. टुलिप्स
६. जोश

आठवाँ खंड

यात्रा : भ्रमण

नवाँ खंड

दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में लिखे अग्रलेख और टिप्पणियाँ!

दसवाँ खंड

ग्रंथावली के प्रकाशन के मध्य की रचनायें

प्रति खंड में डिमाई अठपेजी के ५०० से ७०० पृष्ठ होंगे। बढ़िया कागज पर मोनो की सुन्दर छपाई। हर खंड सुप्रसिद्ध कलाकारों द्वारा सचित्र। रेक्सिन की पक्की जिल्द; मनोहर तिरंगा आवरण। ये दसो खंड किसी के भी अध्ययन-कक्ष के लिए श्रृंगार सिद्ध होंगे।

प्रति खंड का मूल्य १२॥) होगा और पूरे सेट का १२५)। किन्तु, जो लोग अग्रिम स्थायी ग्राहक बन जायेंगे, उन्हें १००) में ही यह अनमोल प्रकाशन उपलब्ध हो सकेगा।

हिन्दी में अभी तक इस प्रकार का प्रकाशन नहीं हो सका है। जिस तरह बेनीपुरीजी की लेखनी ने हिन्दी-साहित्य में नई लकीर खींची है, हिन्दी-प्रकाशन में भी एक नया आदर्श उपस्थित करने का प्रयास हम करने जा रहे हैं। बहुत बड़ी संख्या में इस तरह का प्रकाशन किया नहीं जा सकता; इसलिए हमने इन खंडों को परिमित संख्या में ही प्रकाशित करने का निर्णय किया है। अतः साहित्य-प्रेमियों को चाहिए कि शीघ्र स्थायी ग्राहकों में नाम लिखा कर अपनी प्रतियाँ सुरक्षित करा लें। इससे हमारा उत्साह भी बढ़ेगा और हम इस महान आयोजन को शीघ्र ही पूरा कर सकेंगे।

पहले खंड के प्रकाशन के पूर्व तथा बाद में हमें हिन्दी संसार से जैसा सहयोग मिला है; उससे हमारी यह आशा पुष्ट हुई है कि हम इस योजना को शीघ्र ही पूर्ण रूप से कार्यान्वित कर सकेंगे। यह सहयोग देने वाले सज्जनों के हम हार्दिक कृतज्ञ हैं और उनके नाम अन्यत्र हम सादर प्रकाशित कर रहे हैं।

बसंत-पंचमी, माघ
२०११ वि०

—प्रकाशक

पुनश्च

लीजिये, बेनीपुरी-ग्रंथावली का यह दूसरा खंड। इसमें बेनीपुरी जी के नाटक, एकांकी और रूपक संग्रहीत हैं। इस खंड में कुल मिला कर बारह पुस्तकें हैं, यद्यपि पहली सूचना में सात पुस्तकें देने का ही निर्देश था।

अपने शब्दचित्रों की तरह बेनीपुरीजी अपने नाटकों के लिए भी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। स्वतंत्र भारत ने जो प्रथम 'राष्ट्रीय नाटक महोत्सव' दिल्ली में आयोजित किया, उसमें 'अम्बपाली' को अभिनीत होने का सौभाग्य मिला। नाटक के क्षेत्र में बेनीपुरीजी की सफलता का इससे बढ़ कर और क्या प्रमाण चाहिये ?

इस खंड के प्रकाशित होने में कुछ देर हुई, इसके लिए हम अपने उन उदार स्थायी ग्राहकों से क्षमा चाहते हैं, जिनकी कृपा के बल से ही ग्रंथावली का प्रकाशन सम्भव हो सका है।

प्रथम खंड के प्रकाशन के बाद जिन सज्जनों ने स्थायी ग्राहक बन जाने की कृपा की, तथा इस कार्य में जिन्होंने सहायता पहुँचाई, उनकी नामावली इस खंड के अन्त में हम सादर प्रकाशित कर रहे है।

इस खंड के साथ ही हम बेनीपुरी-प्रकाशन की एक शाखा मुज़फ्फरपुर में खोल रहे हैं। आशा है, उत्तर बिहार के साहित्य-प्रेमी सज्जनों की सेवा हम इस शाखा-द्वारा अच्छी तरह कर सकेंगे।

बसंत-पंचमी, माघ
२०११ वि०

देवेन्द्र कुमार बेनीपुरी
व्यवस्थापक

बेनीपुरी :: परिचय

जन्म-तिथि :: अज्ञात, सम्भवतः पौषसंवत् १९५८; जनवरी १९०२ ई०

जन्म-स्थान :: बेनीपुर; थाना कटरा; जिला मुज़फ्फरपुर; बिहार।

परिवार :: पिता, श्री फूलवन्त सिंह; पितामह, श्री यदुनन्दन सिंह। साधारण किसान। बचपन में ही माता-पिता का स्वर्गवास।

शिक्षा :: अक्षरारम्भ, बेनीपुर। प्राथमिक शिक्षा; बंशीपचरा, ननिहाल में। फिर भिन्न-भिन्न स्कूलों में अध्ययन करते हुए जब मैट्रिक में ही पहुँचे थे, असहयोग-आन्दोलन के कारण १९२० में नियमित शिक्षा का परित्याग।

साहित्य-प्रेम :: तुलसीकृत रामचरित मानस के पठन-पाठन से साहित्य की ओर रुचि। कविता की ओर प्रारम्भिक प्रवृत्ति। प्राचीन काव्यों का स्वतः अध्ययन। १५ वर्ष की उम्र में ही हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विशारद। इसके पहले से ही पत्र-पत्रिकाओं में कवितायें।

पत्र-कारिता :: १९२१—'तरुण भारत' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।

१९२२—'किसान मित्र' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।

१९२४—'गोलमाल' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।

१९२६—'बालक' (मासिक) के सम्पादक।

१९२९—'युवक' (मासिक) के सम्पादक और संचालक।

१९३०—'क़ैदी' (हस्तलिखित) का सम्पादन, हज़ारी-बाग जेल में।

१९३४—'लोक संग्रह' (मुज़फ्फरपुर) और 'कर्म-वीर' (खंडवा) के कार्य-कारी सम्पादक।

१९३५—'योगी' (साप्ताहिक) के सम्पादक।

१९३७—'जनता' (साप्ताहिक) के सम्पादक।

१९४२—'तूफान' (हस्तलिखित); हज़ारीबाग जेल में सम्पादन।

१९४६—'हिमालय' (मासिक) के सम्पादक, आचार्य शिवपूजन सहायजी के साथ।

१९४६—'जनता' (साप्ताहिक) के पुनः सम्पादक।

१९४८—'जनवाणी' (मासिक), काशी के सम्पादक-मंडल में; आचार्य नरेन्द्रदेवजी के साथ।

१९५०—'नई धारा' और 'चुन्नू-मुन्नू' के प्रधान सम्पादक—(दोनों ही मासिक)

१९५१—'जनता' (दैनिक) के प्रधान सम्पादक।

पुस्तक-निर्माण :: १९२५—(१) बगुला भगत (२) सियार पाँड़े (३) बिहारीसतसई की टीका (४) प्रेम (अनुवाद) (५) कविता-कुसुम (संग्रह)।

१९२७-२८—(१) विद्यापति की पदावली (सटिप्पण) (२) बिलाई मौसी (३) हिरामन तोता (४) आविष्कार और आविष्कारक (५) शिवाजी (६) गुरुगोविन्द सिंह (७) विद्यापति (८) लंगटसिंह

१९३०-३२—(१) पतितों के देश में (२) फुटकल कहानियाँ, जो 'चिता के फूल' में संग्रहीत हुईं।

१९३५-३६—(१) साहस के पुतले (२) झोपड़ी से महल (३) रंगविरंग (४) बहादुरी की बातें (५) क्या और क्यों (ये दो पुस्तकें अप्रकाशित) (६) दीदी (उपन्यास : चार फार्म छपी, मूल प्रति अप्राप्य)

१९३७-३९—(१) लाल तारा (२) लाल चीन (३) जान हथेली पर (४) फलों का गुच्छा (५) पद-चिह्न (६) सतरंगा धनुष (७) झोपड़ी का रुदन (कहानी संग्रह)।

१९४०—(१) क़ैदी की पत्नी (२) लाल रूस (३) सात दिन (उपन्यास : अप्रकाशित) (४) जोश (अप्रकाशित)

१९४१-४५—(१) माटी की मूरतें (२) अम्ब-पाली (३) रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग (४) रवीन्द्र-भारती (अप्रकाशित) (५) इक़बाल (अप्रकाशित) (६) रूस की क्रांति (७) टुलिप्स (अप्रकाशित)

१९४७—(१) जयप्रकाश : जीवनी (२) जय-प्रकाश की विचारधारा (३) तथागत (४) चिता के फूल।

१९४८-५०—(१) गेहूँ और गुलाब (२) नेत्र-दान (३) सीता की माँ (४) नई नारी (५) संघमित्रा (६) मशाल (७) हवा पर (८) बेटे हों तो ऐसे (९) बेटियाँ हो तो ऐसी (१०) हमारे पुरखे (११) हमारे पड़ोसी (पीछे ये ही दो पुस्तकें 'अमर कथायें' नाम से चार भागों में प्रकाशित) (१२) पृथ्वी पर विजय (१३) प्रकृति पर विजय (१४) संसार की मनोरम कहानियाँ (१५) हम इनकी संतान हैं (१६) इनके चरण-चिह्नों पर (१७) अनोखा संसार (१८) अपना देश, तीन भाग।

१९५१—(१) पैरों में पंख बाँधकर (२) कार्ल मार्क्स (३) अमर ज्योति (४) नया समाज

१९५२—(१) पेरिस नहीं भूलती (२) उड़ते चलो, उड़ते चलो (३) अमृत की वर्षा (४) जीव-जन्तु।

१९५३-५४—(१) वन्दे वाणी विनायकौ (२) मुझे याद है (३) विजेता (४) कुछ मैं, कुछ वे!

१९५५—इन पुस्तकों पर काम हो रहा है—(१)—जंजीरें और दीवारें (२) धरती की धड़कनें (३) मेरी डायरी।

जेल-यात्रा :: १९३०—छः महीने की सजा, हजारीबाग जेल।

१९३२—डेढ़ वर्ष की सजा, हजारीबाग और पटना कैम्पजेल।

१९३७—तीन महीने की सजा; हजारीबाग जेल।

१९३८—दो दिन हाजत में—सीटी जेल, पटना जेल।

१९३९—दो सप्ताह की सजा—पटना जेल।

१९४०—एक वर्ष की सजा—हजारीबाग जेल। (इसी दरम्यान एक मुकदमे के सिलसिले में छपरा जेल, सिवान जेल)

१९४१—छः महीने की सजा, हाजीपुर जेल, मुजफ्फरपुर जेल।

१९४२—डेढ़ साल की सजा, सीतामढ़ी जेल।

१९४२—छः महीने की सजा, मधुबनी जेल, दरभंगा जेल।

अगस्त १९४२ से १९४५ जुलाई तक } हजारीबाग जेल में नजरबंद—तीन वर्ष।

संस्थाओं से सम्बन्ध:: बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन संस्थापन (१९१९) में सहयोग: उसके सहकारी मंत्री, संयुक्त मंत्री। प्रधान मंत्री (१९४६ से १९५०) तक फिर सभापति (१९५१)। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रचार मंत्री (१९२९) जब श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी उसके सभापति थे।

१९२० से १९४६ तक कांग्रेस में। पटना शहर कांग्रेस कमिटी के सभापति। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के सदस्य। १९२९ में बिहार राजनीतिक कान्फ्रेन्स (मुंगेर) में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पेश किया, जो नेताओं के विरोध के बावजूद पास हुआ। फैजपुर कांग्रेस में जमीन्दारी उन्मूलन का प्रस्ताव पेश किया। १९३७ के आम चुनाव के बाद दिल्ली में संयोजित नेशनल कान्वेन्शन के सदस्य।

बिहार सोशलिस्ट पार्टी (१९३१) के संस्थापकों में। अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की पहली कार्य-समिति के सदस्य। सोशलिस्ट पार्टी (बिहार) के पार्लियामेन्टरी बोर्ड के अध्यक्ष १९५०।

बिहार प्रान्तीय किसान सभा के सभापति। भारतीय किसान सभा के उप-सभापति। ज़मीन्दारी उन्मूलन का नारा सबसे पहले दिया।

बिहार-राष्ट्रभाषा के संचालक-मंडल के सदस्य।

वर्तमान : : 'नई धारा' (मासिक) के सम्पादक।
पता : : बेनीपुरी प्रकाशन; पटना ६।
घर का पता : : ग्राम बेनीपुर, पो० भरथुआ, जिला मुज़फ्फरपुर (बिहार)

अनुक्रमणिका

अम्बपाली

[नाटक]

भारतीय नटराज

भाई पृथ्वीराज कपूर

और

उनकी अन्यतम

कलाकृति

पृथ्वी थियेटर्स

को

सप्रेम

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

मेरी अम्बपाली

अपनी यह पहली नाट्य-कृति हिन्दी-पाठकों के निकट रखते हुए मुझे संकोच नहीं हो रहा है—क्योंकि पुस्तकाकार प्रकाशन के पूर्व ही इसे इतनी प्रशंसा और प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी है कि स्वयं आश्चर्यचकित हूँ।

अम्बपाली बौद्धयुग की एक अतिप्रसिद्ध नारी है। उसको लेकर भारतीय भाषाओं में कितनी ही रचनायें हुई हैं—काव्य, कहानी, नाटक, उपन्यास के रूप में। किन्तु मैंने इस रचना-द्वारा अपना नाम सात सवारों में लिखाने की कोशिश नहीं की है।

क्योंकि, यह मेरी आदत में शामिल नहीं है। अपने पैरों का वज़न और वक़्त मुझे मालूम है, लेकिन, किसी के पदचिह्न-मात्र पर चलना मैं कलाकार की मौत मानता हूँ।

बचपन में ही मेरा झुकाव नाटक-रचना की ओर हुआ था। हाई स्कूल के चौथे या तीसरे वर्ग में ही मैंने एक नाटक लिखा था, लंगोटिया यारों को सुनाया था; उन्हें पसन्द आया, उसके खेलने का आयोजन भी हुआ और एक मारवाड़ी दोस्त ने उसे छपवाने के लिए चार रुपये का चंदा भी उगाहा था।

लेकिन, बाद में मैं कवि बन गया, तब लेखक हुआ, फिर पत्रकार बनकर रह गया। किन्तु हजारीबाग सेंट्रल जेल के निश्चिन्त एकान्त में जब एक दिन बादल घिर आये कि अचानक मेरा नाटककार जग उठा!

और, अपने लिए पात्र के रूप में अम्बपाली का चुनाव भी मेरे लिए स्वाभाविक ही था। जहाँ अम्बपाली का जन्म हुआ था, उसी भूमि ने मुझे भी उत्पन्न किया है और एक पुरातत्त्वज्ञ ने तो यहाँ तक कह डाला है कि वृज्जियों के आठ कुलों में शायद मेरा वंश है, जिनकी संघशक्ति ने वैशाली को महानता और अमरता प्रदान की थी।

किन्तु, क्या मेरी यह अम्बपाली पच्चीस सौ साल पहले रची गई विधाता की अम्बपाली का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकती है ?

विधाता की किसी कृति को जब कलाकार अपनी कलाकृति के लिए चुनता है, तब उसके कलात्मक रूप देने की प्रक्रिया में एक अजीब बात हो जाती है। विधाता की कृति धीरे-धीरे विलीन होने लगती है और समाप्त करते-न-करते कलाकार आश्चर्य से देखता है, एक दूसरी ही नवीन आकृति उसके सामने आ खड़ी है !

और, यह कौन कहे कि सुन्दर कृति किसकी--विधाता की या कलाकार की ? वह, जो पचास या सौ साल जीकर धूल में मिल गई, विधाता की वह शकुन्तला अच्छी; या दो हजार साल के बाद भी जो जीवित है, कालीदास की वह शकुन्तला अच्छी !

पुरातत्त्वज्ञ मेरी इस अम्बपाली को इतिहास के पन्नों में अंकित अम्बपाली से मिलावें, घटनाओं के तारतम्य में कुछ त्रुटियाँ पावें और मुझे गालियाँ भी दे लें; किन्तु मैं कहूँ, मुझे तो मेरी अम्बपाली ही सच्ची अम्बपाली प्रतीत हुई है। सच्ची और अच्छी भी—क्योंकि सत्य ही सुन्दर और सुन्दर ही सत्य है न !

अब भी वे दिन भूले नहीं हैं, जब हजारीबाग सेन्ट्रल जेल के वार्ड नं० १ के सामने, सघन पत्तियों वाली एक आम्र-विटपी के तने से उँगठ कर, मैं अपनी अम्बपाली की रचना किया करता था—सामने फूलों से लदे मोतिये और गुलाब के झाड़ थे, ऊपर आस्मान पर बादलों की घुड़दौड़ होती थी और इधर मेरी लेखनी कागज पर घुड़दौड़ करती थी। दिन भर में जो कुछ रचता, शाम को मित्रों को सोल्लास सुनाता। उस पाषाणपुरी में मेरी इस कुसुम-तनया की अलौकिक चरितावली उनके शुष्क हृदयों को हरा-भरा और रंगीन बना देती और वे मुझपर और मेरी इस कृति पर प्रशंसा की पुष्प-वृष्टि करने लगते ! बेचारे विधाता को ऐतिहासिक अम्बपाली की सृष्टि करने में ऐसा सुन्दर वातावरण और ऐसा निराला प्रोत्साहन कहाँ प्राप्त हुआ होगा ?

अपनी अम्बपाली की सुन्दरता और पूर्णता पर मुझे पूर्णतः सन्तोष है; अम्बपाली और वैशाली की आत्मा के चित्रण में, अपने जानते, मैंने कोई त्रुटि नहीं आने दी है। हाँ, प्रथम नाट्य-रचना होने के कारण इसमें टेकनिक की त्रुटियाँ हो सकती हैं—जिनके लिए क्षमा माँगने की ज़रूरत भी मैं महसूस नहीं करता, क्योंकि मेरे सहकर्मियों ने क्षमाप्रार्थना को भी एक बाज़ारू माल बना रखा है।

आशीर्वाद दीजिये, कुछ ऐसी ही नाट्य-कृतियाँ मैं आपके सामने उपस्थित करने में समर्थ हो सकूँ।

बेनीपुर
उमड़ते सावन की
एक बरसती अध-रतिया
१९४७

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पुनश्च

मेरी यह 'अम्बपाली' कितनी सौभाग्यशालिनी निकली! सात वर्षों में इसके कई संस्करण निकल चुके। इस नये संस्करण में एक छोटा-सा परिवर्द्धन, कुल पांच पक्तियों का, किया गया है। इसकी आवश्यकता थी। अजातशत्रु से मिलने पर, जब बात बहुत बढ़ रही थी, अम्बपाली ने उसे एक छोटी-सी तस्वीर दिखाई। वह तस्वीर किसकी थी? उस समय का साहित्य कहता है, अम्बपाली के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अजातशत्रु का पिता बिम्बसार भी उसकी रंगशाला में चुरचोरी प्रणय की भीख लेने गया था! पिता की इस तस्वीर को देखकर भी क्या अजातशत्रु वहाँ टिक सकता था?

पात्र-पात्रियाँ

पात्रियाँ

अम्बपाली

वैशाली की राजनर्तकी

मधूलिका

अम्बपाली की सहेली

सुमना

अम्बपाली की मौसी

पुष्पगंधा

वैशाली की भूतपूर्व राजनर्तकी

चयनिका

अम्बपाली की परिचारिका

पात्र

अरुणध्वज

अम्बपाली का ग्रामीण प्रेमी

भगवान बुद्ध

संसार प्रसिद्ध धर्म प्रचारक

आनन्द

बुद्ध के प्रधान शिष्य

चेतक

वैशाली के महामात्य

अजातशत्रु

मगध के सम्राट

सुनीथ

मगध-सम्राट का सखा-मंत्री

वस्सकार

मगध का प्रधान मंत्री

अश्वसेन

वैशाली का नागरिक

वसुबंधु

वैशाली का नागरिक



अम्बपाली

पहला अंक

१

[एक विस्तृत सघन अमराई—आम की डाल-डाल मंजरियों से लदीं, झुकीं; भौंरे जिनपर गुंजार कर रहे, वसंती हवा जिनसे खेलवाड़ कर रही—आम के पेड़ों के बीच की जमीन में सरसों की फूली हुई क्यारियाँ—वृक्षों से लिपटी लताओं से जहाँ-तहाँ बन गई कुंजें—सूरज की किरणों से अभी सोना नहीं गया है—मंजरियों, पत्तों, फूलों पर की ओस की बूँदें उसके स्पर्श से चमचम कर रहीं—चिड़ियों की चहचह में दूर से सुनाई पड़नेवाली कोयल की कुहू—

अमराई का मध्य—एक फैला हुआ आम का वृक्ष—उसकी एक मोटी डाल से एक झूला लटक रहा—जहाँ-तहाँ कमाचियों के बने पिंजड़े झूल रहे—

एक किशोरी झूलेवाले वृक्ष की ओर आती दिखाई पड़ती है—कमर में प्राचीन ढंग का हरा परिधान, जो मुश्किल से घुटनों के नीचे पहुँचता है—कमर के ऊपर के हिस्से में सिर्फ स्तनों को ढकनेवाली पतली कंचुकी, हरे रंग की ही—गले में फूलों की माला, जो कमर तक लटक रही—

बालों के जूड़े में सरसों के फूल खोंसे—सुन्दर सुडौल गोरी बाँहों में सिर्फ फूलों के ही कंगन—हाथ में आम की मंजरियों का गुच्छा—

किशोरी उस पेड़ के नजदीक पहुँचती है—झुकी डालों की मंजरियों को चूमती है—उसे देखते ही पिंजड़ों से पंछी चहचहा उठते हैं—उन पिंजरबद्ध पंछियों के निकट जाकर उन्हें दुलराती है—मुँह से सीटी देती हुई एक श्यामा के पिंजड़े को लेती झूले के नजदीक आती है—धीरे-धीरे झूलती हुई, श्यामा की ओर देखती, वह गाती है]

मेरी श्यामा ने वंशी फूँकी,
कोइलिया क्यों कूकी ?
कुहरे की झीनी चदरिया में सोई
धरती थी ऊँघ रही सुधि खोई
किसने अचानक उसे गुदगुदाया
चारों तरफ छा गई जैसे माया—
सरसों की क्यारियाँ फूलीं
आमों में मंजरियाँ झूलीं,
भौरों की भामिनियाँ भूलीं
पुरवाई मस्ती में यों सनसनाई—
कि भूली हुई बात फिर याद आई, कलेजे म हूकी,
कोइलिया कूकी,
मेरी श्यामा ने वंशी फूँकी ।

[जब किशोरी गा रही, उसी रंगरूप वेशभूषा की दूसरी किशोरी बगल से आती है—पहली किशोरी गाने की तन्मयता में उसे नहीं देखती—वह धीरे-धीरे, दबे पाँव आम के पेड़ के नजदीक आती और उसकी डाल पर चढ़ जाती है—ज्योंही गाना खत्म होता है, वह कोयल की बोली का अनुकरण कर कुहू-कुहू बोल उठती है—संगीतमग्ना किशोरी चकित होकर पेड़ की ओर देखती है—फिर झूले से उठकर आगे बढ़ती है—सहसा डाल की ओर देखकर हँस पड़ती है।]

पहली किशोरी—ओहो, मधु ! उतर पगली ! वही मैं कह रही थी, यह कोयल तो हो नहीं सकती । उतर, उतरती है या······

दूसरी किशोरी—या ! क्या ? गा, गा—'मेरी श्यामा ने वंशी'··· वाह री तेरी श्यामा !

पहली किशोरी—उतरती है, या ढेले फेंकूं ?

दूसरी किशोरी—ढेले उनपर फेंक, जिनकी 'भूली हुई बात फिर याद आई, कलेजे में हूकी !' वही ढेले बर्दाश्त करेंगे तेरे, मैं क्यों ?

पहली किशोरी—नहीं उतरती ?

दूसरी किशोरी—नहीं उतरती !

[पहली किशोरी गुस्से में इधर-उधर ढेले ढूंढ़ती है—फिर हाथ की मंजरियों को ही फेंकने लगती है—निशाना चूकता जाता है—ऊपर की किशोरी ठहाके लगाती जाती है—अन्त में जब वह डाल पर चढ़ने का उपक्रम करती है, दूसरी किशोरी डाल से दोल मारकर जमीन पर आ जाती और झूले पर जाकर झूलती हुई गाती है—'कोइलिया क्यों कूकी मेरी श्यामा ने।' तबतक पहली किशोरी भी उतर आती और झूले के नजदीक पहुँचती है—]

पहली किशोरी—क्यों री, तू मुझे चिढ़ाती क्यों है ?

दूसरी किशोरी—(विना जवाब दिये वह गाती जाती है)–'कोइलिया क्यों कूकी, मेरी श्यामा ने बंशी फूंकी......'

पहली किशोरी—तू नहीं चुप होती !

दूसरी किशोरी—(गाती जाती है) 'क्यों कूकी, मेरी श्यामा ने...'

पहली किशोरी—(चिढ़कर उसे झकझोरती हुई) श्यामा की सास !

दूसरी किशोरी—(नाक-भौं चढ़ाती हुई) कोयल की सौत !

[दोनों, एक दूसरी को, आँखें गड़ा-गड़ाकर देखती हैं—देखते-ही-देखते दोनों ठठाकर हँस पड़ती और एक दूसरी से लिपट जाती हैं—लिपट जातीं, एक दूसरी को चूमती—फिर दोनों झूले पर बैठ, पैर से धीरे-धीरे पेंग देती, परस्पर आहिस्ता-आहिस्ता बातें करती हैं—

इनमें पहली किशोरी है अम्बपाली—दूसरी उसकी सखी मधूलिका और यह है आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की बात—आज जहाँ मुजफ्फरपुर का जिला है, वहाँ, उत्तर-बिहार में तब वृज्जियों का प्रजातंत्र था, जो संघराज्य कहलाता था—ये दोनों वृज्जि-कुमारियाँ हैं—]

मधूलिका—अम्बे, आज भोर-भोर तूने कुछ देखा है क्या ? या रात में कोई सपना देखा था ?

अम्बपाली—तेरा मतलब ?

मधूलिका—मतलब है, तेरे इस गाने से।

अम्बपाली—क्या बिना सपने देखे आदमी कुछ गा नहीं सकता ? और, सच पूछ, तो ऐसी कोई भी रात होती है जिसमें आदमी सपने न देखे या ऐसी कोई भोर आती है जिसमें आदमी कोई रूप न देख पाये ?

मधूलिका—लेकिन सपने-सपने में फर्क होता है और फर्क होता है रूप रूप में, अम्बे! एक सपना होता है जिसमें आदमी डरकर आँखें खोल देता है और एक सपना ऐसा होता है, जिसमें जग जाने के बाद भी आदमी आँखें मूंद लेता है कि एक बार फिर उसकी कड़ियाँ जोड़ सके! समझी ?

अम्बपाली—हूँ।

मधूलिका—यों ही एक रूप होता है जिसको देखकर आँखें मुड़ जातीं या मुँद जाती है और दूसरा रूप होता है, जिसपर नजर पड़ते ही पलकें और बरौनियाँ काम करना छोड़ देती है, नजरों में टकटकी बँध जाती है और दिमाग चिल्लाता है, आह, ये आँखें इतनी छोटी क्यों हुईं ? बड़ी होती, इन्ही में उसे रख लेता! समझी ?

अम्बपाली—हूँ।

मधूलिका—हूँ। हूँ क्या ?

अम्बपाली—यही कि रूप-रूप में फर्क होता है और फर्क होता है सपने-सपने में। यही न ? लेकिन, एक बात कहूँ मधु, मुझे याद नही कि कभी बुरे सपने भी देखे होऊँ; और मेरी आँखों ने जिसे देखा, सुन्दर ही पाया!

मधूलिका—(आश्चर्यमयी मुद्रा से) अच्छा ?

अम्बपाली—हाँ, हाँ, सच कहती हूँ सखि! न जाने क्या बात है, या तो कुरूप चीजें मेरी आँखों के सामने आती ही नहीं, या मेरी नजरें उनका प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं करती.......

मधूलिका—(बात काटकर किंचित मुस्कान से) या तेरी नजर पड़ते ही कुरूप भी रूपवान हो उठते है ?

अम्बपाली—दिल्लगी की बात नहीं है, मधु! मैंने आजतक दुनिया सिर्फ सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य देखा है—निर्जीव प्रकृति से लेकर

प्राणवान प्राणी तक! और, सपने? उनकी बात मत पूछ। मधु, आदमी जागना क्यों चाहता है? सोये रहो, सपने देखते रहो; क्या इससे भी कोई दूसरी अधिक सुन्दर चीज हो सकती है? जागरण! (उपेक्षा के शब्दों में)—जागरण आदमी का वरदान है या अभिशाप, रे!

मधूलिका—आज तुझे यह क्या हो गया है! तू किस सपने के लोक में है?

अम्बपाली—सपने का लोक! आह, मैं हमेशा उसी में रह पाती, मेरी मधु! जब बच्ची थी, सपने में देखती—परियों का देश, मणियों का द्वीप, उड़नखटोले की सैर! और आजकल? ज्योंही आँखें लगीं कि मैं पहुँच गई उस सुनहली घाटी में जहाँ इन्द्रधनुष का मेला लगा रहता है, जहा जवानी तितलियों के रूप में उड़ती रहती है; या उस देवलोक में जहाँ सुनहले रंगवाले देवकुमार नीलम के पंखोंवाली अप्सराओं के अगल-बगल, आगे-पीछे मँड़राते फिरते हैं; या कम-से-कम उस रूपदेश की राजसभा में, जहाँ कलँगीवाले राजकुमारों की भरमार है—जहाँ नृत्य है, संगीत है, और है... (अचानक सिहर उठती है) मधु, मधु, तू क्या ऐसे सपने नही देखती?

मधूलिका—मैं देखती या नहीं देखती, बात मत बहला। बता, तूने रात भी क्या कुछ ऐसा ही सपना देखा है?

अम्बपाली—रात जो देखा, उसकी मत पूछ! उफ्, बिल्कुल अद्भुत, अपूर्व! उसकी याद से ही शर्म आती है, सखि!

मधूलिका—शर्म! सपने में शर्म की कौन-सी बात है री!

अम्बपाली—नहीं, मधु, जिद न कर। सचमुच उसकी याद से ही मैं शर्म से गड़ने लगती हूँ।

मधूलिका—(व्यंग्य के शब्दों में) समझी, समझी, तभी तो भोर-भोर यह गीत! आखिर अचानक आकर उसने तुझे गुदगुदा ही दिया 'किसने अचानक...... गुदगुदाया......' (गाने का व्यंग्य करती है)

अम्बपाली—लेकिन, तेरा यह निशाना ठीक नहीं बैठा, मधु! यह वह बात नहीं, जिसकी तू कल्पना भी कर सके।

मधूलिका—मेरी कल्पना की रानी! मैं, और वहां तक पहुँच सकूं? खैर, बता, तूने क्या देखा?

अम्बपाली—तेरी जिद; अच्छा सुन (वह चकित नेत्रों से इधर-उधर देखती है कि कोई दूसरा तो नहीं है और फिर धीमे स्वर में कहने लगती है) रात देखा, कहीं अजीब देश में पहुँच गई हूँ, जहाँ चारो ओर फूल-ही-फूल हैं। जिन्हें हम गूलर-पाकर-पीपल कहते हैं, उनमें भी फूल लगे हैं—चम्पा के, गुलाब के, पारिजात के। जमीन पर घास-फूस की जगह फूलों की पँखड़ियाँ बिछीं हैं और धूल की जगह पीत पराग बिखरा है। हवा में अनहद संगीत–वातावरण में अजीब रंगामेजी। सामने एक तालाव देखा, जिसमें कमल के सहस्र-सहस्र फूल खिल रहे—लाल, श्वेत, पीत, नील। और, दर्पणोपम निर्मल नील जल! मुझे गर्मी महसूस हो रही थी। क्यों न तालाब में नहा लूँ? इधर उधर देखा, कोई नहीं। मैंने झट कंचुकी उतार दी, वाह्य परिधान खोलकर रख दिया। दौड़कर किनारे पहुँची। जल में कूदने के लिए झाँका, तो अपना सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब देखा! देखा! (सिहरती हुई) अपना ही प्रतिबिम्ब! लेकिन, उसे देखते ही मधु, नसों में खून के एक अजीब ज्वार का अनुभव हुआ और आधी वेहोशी में ही अपनें को पानी में फेंक दिया!

मधूलिका—(विस्मय में) अजीब सपना!

अम्बपाली—उसका अनोखापन तो अब आता है, रे। पानी में धँसकर मैं तैरने लगी और बढ़ी एक नील कमल की ओर। किन्तु यह क्या? यह तो कलँगीवाला राजकुमार है और मुझे अपनी ओर आते देख वह मुस्कुरा रहा है। मैं चकित हुई। दूसरे कमलों की ओर देखा—वैसे ही कलँगी वाले राजकुमार, हजार-हजार! और, सब-के-सब मेरी ओर देख कर सिर्फ मुस्करा नहीं रहे, बल्कि ठठा-ठठाकर हँस रहे। मैं अर्द्धनग्न—उफ् क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कैसे बाहर होऊँ? इससे तो डूब मरना अच्छा। डूब मरूँ—मरूँ—इसी उम्र में! तो? तो? डुबकी मारकर शर्म छिपानी चाही—एक डुबकी, दूसरी डुबकी, तीसरी डुबकी में मालूम हुआ, साँस घुट रही है। अच्छा हुआ, नींद टूट गई। जगी तो पाया, पसीने-पसीने थी।

मधूलिका—निस्सन्देह विचित्र सपना देखा है, तूने। लेकिन, समझती है, इसका मानी क्या है?

अम्बपाली—क्या समझूँ? एक दिन का सपना हो तो, कुछ समझा जाय। जिसकी जिन्दगी ही सपने की है, वह किस-किस का मानी लगाये।

मधूलिका—लेकिन इस सपने का तो खास महत्व है। बसन्त के प्रथम दिन का यह सपना साधारण सपनों में नहीं है।

अम्बपाली—तो क्या मानी है इसका?

मधूलिका—वही, जो उस दिन ज्योतिषीजी ने तेरे हाथ की रेखाएँ देखकर कहा था—"तेरे चरणों पर हजार-हजार राजकुमारों के मुकुट लोटेंगे।"

अम्बपाली—चुप, चुप ! मैं तो उसकी कल्पना से ही सिहर उठती हूँ, मधु ! "हजार-हजार राजकुमार !" उफ्, वह भी कोई जिन्दगी होगी। मेरा तो अकेला ......

मधूलिका—'मेरा तो अकेला अरुणध्वज !' क्यों यही न कहना चाहती थी? (रहस्यपूर्ण ढंग से मुस्कुराती है)

[एक कुंज की ओर से कुछ शब्द, किसी के आने की पद-चाप-सी सुनाई पड़ती है—दोनों सखियाँ चौंककर उस ओर देखती हैं—पाती हैं, एक नौजवान चला आ रहा है—यह अरुणध्वज है—अंग-अंग गठा हुआ, सुपुष्ट, सुविकसित—कटि से घुटने तक का पीन वस्त्र—पीठ पर तूणीर, कँधे से धनुष लटक रहा, हाथ में एक बाण—सिर पर घुँघराले लम्बे बाल जिनपर पीले पाटम्बर की पट्टी जिससे कुछ फूल कलँगी की तरह झूल रहे—यौवन की साक्षात् प्रतिमा-सा दिखाई पड़ता है—

उसे देखते ही अम्बपाली सिटपिट—मधुलिका उछल पड़ती है, जैसे उसे मुँहमाँगा वरदान मिला हो—"अरुण, खूब आये, भले आये, अच्छे आये–" कहती दौड़कर आगे बढ़ती है और उसे झूले के नजदीक ले आती है—अरुण चकित-विस्मित उसका मुँह देखता है—]

मधूलिका—(अरुण से) अच्छा, अब तुम दोनों इसपर बैठो (झूले की ओर इशारा करती है) मैं जरा झुलाऊँगी। (अम्बपाली से) वह कौन-सा गाना है, अम्बे, हाँ हाँ (सुर में) "मेरी श्यामा ने बंशी फूँकी। कोइलिया क्यों कूकी ! (अपने चेहरे की ओर आश्चर्य से घूरते हुए अरुण से) तुम बैठते क्यों नहीं जी?

अरुणध्वज—यह क्या शरारत सूझी है तुझे, मधु !

मधूलिका—हाँ, मेरी शरारत ही तो ! यह (अम्बपाली की ओर मुखातिब होती) यहाँ अकेली, वसंत के इस प्रथम प्रभात में "भूली हुई बात फिर याद आई, कलेजे में हूकी !" गाया करें और आप चुपके-चुपके, हौले-हौले, भूलते-भटकते, इस कुंज में आ पहुँचें–भला मैं कौन होती हूँ जो बीच में दाल-भात में मूसरचन्द बन बैठी ! जरूर मेरी शरारत है यह ! अच्छा महाशयजी, प्रणाम !

(**अम्बपाली से**) देवीजी, नमस्ते ! उभयमूर्त्ति इस अपराधिनी को क्षमा प्रदान कीजिए, मैं चली !

[बड़ी विनम्रता से दोनों को झुक-झुककर अभिवादन करती मधूलिका चलने का उपक्रम करती है—जब वह दो-तीन कदम आगे बढ़ती है, अम्बपाली उसका हाथ पकड़ लेती है—]

अम्बपाली—शैतानी मत कर, ठहर !

मधूलिका—पहले शरारत, अब शैतानी ! राजा से सात गज बढ़कर रानी ! (बड़ी विद्रूपता से उँगली अपने मुँह पर ले जाती है !)

अरुणध्वज—अच्छा, भाई; तुम दोनों आपस में पीछे सुलझा लेना । मैं एक जरूरी बात कहने आया हूँ ।

मधूलिका—किसी जरूरी बात से तो आप आये ही हैं । बिना जरूरत के आप यहाँ क्यों आते भला ? कहाँ हमारा यह आनन्द-ग्राम, कहाँ आपकी मधुगोष्ठी; बीच में वेगवती की धारा । तो भी आप रोज-रोज, बिला नागा, दोनों जून, जो यहाँ पैर थकाते, तकलीफ उठाते, पहुँच जाया करते है, सो क्या बिना किसी जरूरी बात के ही । (जीभ काटती हुई) राम ! राम !

अरुणध्वज—अरी, तू दिन-दिन वाचाल होती जाती है ! खैर, बोलो, तुमलोग चलती हो या नहीं ?

मधूलिका—हाँ, हाँ, बोल अम्बे, तू जाती है या नहीं ? जा जा ! (अम्बा को खोदती है)

अम्बपाली—मैं पीटूँगी तुझे मधु । (अरुण से) चलें ? कहाँ ?

मधूलिका—(सुर में) "कुंजकुटीरे, यमुनातीरे !" (अलग हटकर खिलखिला पड़ती है)

अरुणध्वज—(बनावटी गुस्से में)फिर वही नटखटपन ! (अम्बपाली से) वैशाली चलना है।

अम्बपाली—वैशाली ? वैशाली में क्या है ?

अरुणध्वज—फाल्गुनी उत्सव ! हम वृज्जियों का प्यारा राष्ट्रीय त्योहार ! किस वृज्जिकिशोरी और वृज्जिकुमार के मानस में इस उत्सव के नाम से ही भावनाएँ तरंग-पर-तरंग नहीं लेने लगतीं ! और इस साल तो उसका विशेष महत्व है। वैशाली की राजनर्तकी देवी पुष्पगंधा अब अवकाश ग्रहण करने जा रही हैं, उनकी जगह इस साल नई राजनर्तकी का चुनाव.....

[मधूलिका चुनाव का नाम सुनते ही इन दोनों के नजदीक आती और आश्चर्य-भरे स्वर में कहती है—]

मधूलिका—चुनाव! इसी साल!

अरुणध्वज—हाँ,हाँ; इसी साल! देखें, वह कौन-सी सौभाग्यशालिनी वृज्जिकुमारी होती है, जिसके चरणों पर हजार-हजार राजकुमारों के मुकुट.......

अम्बपाली—(अचानक चिल्ला उठती है) ऐं! ऐं!

अरुणध्वज—क्यों? यों सहम क्यों उठी?

मधूलिका—मैं कहूँ, क्यों?

अम्बपाली—मधु मधु! (हाथों से मना करती है)

अरुणध्वज—क्या बात है मधु!

मधूलिका—(विनोद-भाव से अम्बपाली को देखती) क्यों?

अम्बपाली—(गुस्सा दिखाती) तू चुप रहती है, या.......

मधूलिका—या तू पीट देगी, यही न! तो, सुनिए, अरुणजी; उस दिन ज्योतिषीजी ने अम्बपाली को कहा—

[अम्बपाली मधूलिका की ओर लपकती है—अरुणध्वज उसका हाथ पकड़ लेता है—वह थोड़ी देर तक हाथ छुड़ाने की कोशिश करती है—फिर गम्भीर होकर मधु से कहती है—]

अम्बपाली—अच्छा, बोल, क्या ज्योतिषीजी ने कहा?

मधूलिका—ज्योतिषीजी ने अम्बपाली से कहा—"हजार-हजार राज-कुमारों के मुकुट तुम्हारे चरणों पर लोटेंगे!" वह डरती है, कहीं वही न राजनर्तकी बना दी जाय!

अम्बपाली—(गुस्से में) डरती है? डरूँ क्यों? डरें चुगलखोर!

अरुणध्वज—तुम दोनों पगली हो। वहाँ वैशाली की ही इतनी न सुन्दरियाँ होंगी कि तुम गाँव-गवइयों को कौन पूछे? चलो, जरा देख आया जाय—नृत्य-गीत, खेल-तमाशे। जरा जी बहला आयें!

मधूलिका—जरूर जाइए। खेल-तामाशे, नृत्य-गीत! नृत्य-गीत में आप दोनों की जोड़ी भी कैसी अच्छी रहेगी! मुझे काँटों में मत घसीटिए।

अरुणध्वज—फिर वही शरारत! तुझे चलना ही पड़ेगा मधूलिके!

मधूलिका—अच्छा, शायद राधा की महत्ता के लिए कोई पिछलगी ललिता भी चाहिए ही।

अम्बपाली—तू चुप नहीं होती रे।

[अम्बपाली एक झटके में अरुणध्वज से हाथ छुड़ाकर मधूलिका को पीटने दौड़ती है—मधूलिका हँसती हुई भागती है—दोनों सखियों की भाग-दौड़ के पीछे-पीछे अरुणध्वज भी कुंज की ओट हो जाता है—]

२

[वेगवती नदी की पतली धारा के किनारे बसा आनन्दग्राम—बाँस के बने और फूस के छाये छोटे-छोटे घर—हर घर के आगे बाँस से ही बनाये चौकोर बाड़े, जिनके प्रवेशद्वार पर बाँस के ही तोरण—बाड़ों और तोरणों पर लिपटी हरी-हरी लतायें फूलों से लदीं—कहीं-कहीं इन बाड़ों में छोटे-छोटे बछड़े बँधे—हरिन के छौने इस बाड़े से उस बाड़े में चौकड़ी भरते—जहाँ-तहाँ बच्चों के खेल और कलरव–कुछ युवतियाँ घड़े लिये वेगवती की ओर जातीं—कई जगह बूढ़ियाँ चरखे कातती दिखाई पड़तीं—

आनन्दग्राम के ठीक नदी-किनारे, एक घर वैसा ही बना, वैसा ही छाया, वैसे ही बाड़े, वैसे ही तोरण—

इस घर का आँगन—लिपा-पुता, स्वच्छ, निर्मल—आँगन के एक कोने में एक चबूतरा, जिसपर कुछ फूल और तुलसी के पौद—बीच आँगन में, धूप में बैठी, एक बुढ़िया चरखा कात रही—सामने बरामदे पर एक किशोरी फूलों की माला गूँथ रही और गुनगुना रही—

इस किशोरी को पहचाना आपने? यह अम्बपाली है—और बुढ़िया उसकी पालिका सुमना—सुमना चरखा कातती-कातती कई बार उसकी ओर नजर उठाकर देखती है, फिर जैसे चिढ़कर बोल उठती है—]

सुमना—बस, फूल, फूल, फूल! दिन फूल, रात फूल; सुबह फूल, शाम फूल!

अम्बपाली—(सिर नीचा किये माला गूँथती-गूँथती) दिन फूल, रात फूल; सुबह फूल, शाम फूल!

सुमना—उलटे मेरा मुँह चिढ़ाती है। चिढ़ा ले। बस, कुछ दिन और! फिर, जब किसी का घर बसायगी, तो आटे-दाल का भाव मालूम होगा।

अम्बपाली—जब किसी का घर बसायगी, तब आटे-दाल का भाव....(अचानक सिर ऊँचाकर) अच्छा, आटे-दाल का आजकल क्या भाव है मौसी?

सुमना—चुप नहीं होती, शोख लड़की! यह जानती तो उसी दिन तेरा गला... (चरखे से एक हाथ छुड़ा अपने गले पर ले जाती और इस तरह इशारा करती है, मानो गला घोटना चाहती हो)

अम्बपाली—किस दिन मौसी?

सुमना—जब तू छोटी बच्ची थी, तेरी माँ मर रही थी और तू कें-कें कर रही थी—कें-कें-कें !

अम्बपाली—तो क्यों नहीं गला घोंट दिया ? तुम घोंट ही नहीं सकती, मेरी अच्छी मौसी !

सुमना—तब न घोंटा, अब बिना घोंटे न छोड़ूँगी। जब देखती हूँ, गुनगुना रही है, थिरक रही है, या फूल गूँथ रही है ! तू घर-गिरस्ती की कोई बात तो सीखती ही नहीं। जहाँ जायगी, आप जलेगी, मुझे गालियाँ सुनायगी।

अम्बपाली—मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाती, मौसी ! और किसकी मजाल जो तुम्हें गालियाँ दे ? (चेहरे पर अभिमान का स्पष्ट आभास)

सुमना—(तमक कर) हट, सब लड़कियाँ ऐसी ही कहती हैं (मुँह बनाकर) "मैं—तुम्हें—छोड़कर—कहीं—नहीं जाती !' लेकिन जब नये घर में जाती हैं, फिर...

[इसी समय सजी-धजी मधूलिका लपकती हुई पहुँचती है और सुमना की बात बीच ही में काटती हुई बोलती है—]

मधूलिका—नहीं, नहीं मौसी ! अम्बा सब लड़कियों-जैसी नहीं है। यह किसी के घर जायगी ? ऊहूँ ! इसके चरणों पर तो हजार-हजार राजकुमार अपने मुकुट चढ़ायँगे ! हाँ !

सुमना—हाँ, हाँ, एक उम्र में सब लड़कियाँ राजकुमारों का ही सपना देखती हैं—हजार-हजार राजकुमार ! लाख-लाख देवकुमार ! लेकिन जब एक दिन हाड़-मांस का एक साधारण मानव-पुतला हौले हाथ पकड़ता और अपनी गिरस्ती की चक्की में गाढ़े जोतता है; तो उनके सारे सपने हवा हो जाते हैं !

अम्बपाली—मैं नही जुतूँगी, नहीं जुतूँगी, नहीं जुतूँगी !

सुमना—यह भी कह, मैं जिन्दगी-भर गाऊँगी, नाचूँगी, माला गूँथूँगी। कह ले, कह ल; जितने दिन कह ले। कह ले, मुझे जला ले। बस, एक वसन्त और आने की देर है !

मधूलिका—लेकिन, मौसी, क्या इस उम्र में आप ये सब नहीं करती थीं ?

सुमना—करती थी क्यों नही रे ! (शांत होती) मैं नाचने, गाने या फूल गूँथने से थोड़े मना करती हूँ ? लेकिन, तुम लोगों को कुछ और भी तो सीखना चाहिए न ? जिस घर मे जाओ, बोझ होके नहीं जाओ। नारी जीवन की सार्थकता सिर्फ नाचने, गाने या फूल चुनने

में नहीं है बल्कि अर्द्धांगिनी बनने में है। अगर अर्द्धांगिनी बनने, गिरस्ती की आधी जिम्मेवारी उठाने की योग्यता तुममें नहीं हुई, तो अवश्य ही तुम्हें पुरुष बिना दासी बनाये नहीं छोड़ेगा। तुम पुरुषों को नहीं पहचानती, प्यारी बेटियो!

मधूलिका—(चौंक कर) अरे!

सुमना—अरे क्या? (बड़ी गम्भीर मुद्रा में) पुरुष वह नहीं है, जिसे तुम अलग से देखती हो—वह बाँका-बाँका छैला, घुँघराले बाल, आँखों में रस, होंठ के ऊपर मसें भीगीं, चौड़ी छाती फुलाये, उलटे पुट्ठोंवाली भुजाएँ हिलाता, मस्ती में झूमता जाता हुआ, कामदेव का सखा। नहीं, यह पुरुष नहीं है। यह तो उसके ऊपर का ढाँचा है। पुरुष उसके भीतर है, जो हर कमजोर को अपना शिकार समझता है, हर खुबसूरती को अपनी खुराक—हाँ, सौन्दर्य उसका भोजन है, निर्बल उसका आखेट। वह झपट्टा मारकर चढ़ बैठता है, घायल कर देता है, फिर भर-पेट खा लेता और चल देता है—दूसरे शिकार और दूसरी खुराक की तलाश में।

मधूलिका—(भयातुर होकर) मौसी, मौसी! यह तुम क्या कह रही हो?

सुमना—मैं सच कह रही हूँ बेटी! लेकिन इससे घबराना मत। यह पेटू और शिकारपसंद जानवर मजे में वश किया जा सकता है। हर पेटू जानवर की तरह यह पूरा आलसी है और यह आसानी से पालतू बनाया जा सकता है। बड़े-बड़े अगड़धत्त वीर पुरुषों को, नारी ने, भालू की तरह, उसके नथने में रस्सी डालकर, नचाया है। वह खूँखार जानवर ताथेई-ताथेई करके नाचा है और दुनिया आश्चर्य से यह तमाशा देखती रही है!

मधूलिका—उफ्, मैं दासी बनने की कल्पना से ही काँप जाती हूँ मौसी! मुझे पुरुषों को वश में करने की यह कला सिखला देना, मेरी अच्छी मौसी! (अम्बपाली से) क्यों अम्बे, तू नहीं सीखेगी?

अम्बपाली—तू सीख, मैं उसकी जरूरत नहीं महसूस करती। मैं सिर्फ गाऊँगी, नाचूँगी, माला गूँथूँगी और कोई मुझे दासी बना नहीं सकता। (उसके चेहरे पर अभिमान की लाली दौड़ जाती है)।

सुमना—देखती है, मधु, इसका अभिमान? (अम्बपाली से) लेकिन यह अभिमान नहीं है, अम्बे, आत्मवंचना है! मैंने तुझे पाला है, पोसा है, गोद खेलाया है, चलना सिखाया है। मुझ निपूती

को तूने सन्तान-सुख दिया है। मैं तुझे कोई अभिशाप देना नहीं चाहती। लेकिन अभिमान! अभिमान का फल.....

[उसका गला भर आता है—उसकी आँखों में आँसू झलक आते हैं—उत्तेजना में वह चरखा बन्द कर देती और उसे सम्हालने लगती है—]

मधूलिका—मौसी, मौसी, तू गुस्से में आ गई? (अम्बपाली से) अम्बे, यह तेरी हरकत अच्छी नहीं। देख, देख मौसी की आँखें—

[मधूलिका, चरखा सम्हालती हुई सुमना के निकट, झुक जाती और उसका हाथ पकड़ती है—अम्बपाली फूल छोड़कर झटपट उठती और सुमना के निकट दौड़ती है— कुछ फूल आँगन में बिखर जाते हैं—अम्बपाली सुमना के गले से लिपट जाती है—सुमना एकाध बार गला छुड़ाने की कोशिश करती है—किन्तु ज्योंही सुमना अम्बपाली के भर्राये चेहरे को देखती है, उसका गुस्सा काफूर हो जाता है, वह कह उठती है—]

सुमना—भोली लड़की! अरे, यह क्या? (ठुड्डी पकड़ती) तू उदास क्यों हो रही? यों ही जरा कह दिया। आह, तू माँ का दिल जान पाती!

[इतना कह वह उसका माथा चूमने लगती है—उधर बाहर घर्र-घर्र और टप-टप की आवाज होती—और तुरत ही अरुण-ध्वज आँगन में हँसता हुआ घुसता है— सुमना को अभिवादन कर वह दोनों सखियों की ओर मुखातिब होकर कहता है—]

अरुणध्वज—वाह! तुम लोग अभी तैयार नहीं हुईं?

सुमना—क्या है? कहाँ के लिए, अरुण?

मधूलिका—मौसी, उस दिन कहा था न तुम्हें? हम वैशाली जाना चाहते हैं। आज ही जाना है। (अम्बपाली से) क्या तूने मौसी से नहीं कहा था अम्बे?

सुमना—ओहो, तभी आज भोर से ही मालाएँ गूँथी जा रही हैं। (अम्बपाली की ठुड्डी पकड़ती हुई) मेरी पगली, तूने मुझसे कहा क्यों नहीं?

अम्बपाली—मैं नहीं जाती!

सुमना—नहीं जाती? क्यों नहीं जायगी रे! जा जा, जरा जी बहला आ। तेरी उम्र की थी, हम भी जाया करती थी। फाल्गुनी उत्सव? यह तो हम वृज्जियों का महामेला है। जा, परि-

धान बदल ले, प्रसाधन कर ले। (अरुण से) और अरुण, देखना, मेरी अम्बा बिलकुल बालिका है। जरा होशियारी से मेले में रखना !

अम्बपाली—(अनखाकर) मेरी तबीयत अच्छी नहीं; मै नहीं जाऊँगी।

सुमना—बस, फिर जिद। देखता है न तू अरुण, जरा मुझे गुस्सा आया और यह मान कर बैठी। कैसी तुनकमिजाज ! (मधूलिका से) मधु, क्या देखती है, जा, जल्द इसका परिधान ठीक कर दे। ओहो ! (मधूलिका को सिर से पैर तक निहारती हुई) मैंने ध्यान ही नहीं दिया था, तू इसी से सज-सजाकर आई है।

[मधूलिका अम्बपाली को घसीटकर घर में ले जाती है—अरुणध्वज सुमना के नजदीक बैठ जाता है—सुमना फिर चरखा कातती हुई उससे बातें करती है—]

सुमना—तू कितने साल का हुआ रे, अरुण !

अरुणध्वज—माँ कहती थी, इक्कीसवाँ जा रहा है।

सुमना—मेरी अम्बा का भी यह सोलहवाँ है।

अरुणध्वज— (बड़ी सादगी से) कवियों ने इसे ही न षोड़शी कहा है, मौसी !

सुमना—हाँ, हाँ, यही षोड़शी !—जब जवानी बचपन की खिड़की से बाहर की दुनिया को झाँकती है। अजीब उम्र है यह, अरुण !—जब संसार की सब चीजें चंचल, नृत्यशील, रंगीन और संगीतमय दिखाई पड़ती हैं। जब लड़कियाँ समझ नहीं पातीं वे क्या हैं ? प्रदर्शन जब उनका एकमात्र मनोरथ होता है और प्रसाधन एकमात्र व्यवसाय।

अरुणध्वज—लेकिन अम्बा को तो तुम्हीं ने अभी-अभी प्रसाधन के लिए प्रेरित किया है।

सुमना—किया है, क्यों ? समझे ? हर मादा जानवर की तरह नारी भी अपने को नर से हीन अनुभव करती है। इस हीनता को छिपाने के लिए ही वह प्रसाधन की ओर प्रवृत्त होती है। हम नारियों की साज-सिंगार की प्रवृत्ति हमारी हीनता की सूचक है, अरुण ! यह हीनता तब दूर होती है, जब नारी में मातृत्व आता है—वह बिल्कुल बदल जाती है, महामहिमान्वित हो जाती है। मातृत्व नारीत्व का चरम उत्कर्ष है।

(कहते-कहते उसका चेहरा रक्ताभ गम्भीर हो उठता है, उसकी आँखें मुँदने-सी लगती हैं, थोड़ी देर के भावावेश के बाद—) अच्छा, तेरी माँ अब कैसी हैं, अरुण!

अरुणध्वज — अच्छी ही हैं; हाँ, जब-तब तबीयत कुछ सुस्त हो जाया करती है।

सुमना—तो तू वधू क्यों नहीं लाता? बेचारी की सेवा वह करती। अब तो तू सयाना हुआ, रे!

अरुणध्वज—वधू क्या यों ही मारी-मारी फिरती है मौसी?

सुमना—अरे, इसी फाल्गुनी उत्सव में देखना। कितने जोड़े लगते है वहाँ! मेरी लगन भी वहीं लगी थी। हाँ, हाँ, तू अब ब्याह कर ले। एक-दो साल में तो अम्बा के लिए भी वर चाहिए ही।

[प्रसाधन-शृगांर मे सज्जित अम्बपाली को लिये-दिये मधूलिका आँगन में आती है—उसका रूप देखकर अरुण की टकटकी बँध जाती है—सुमना उसे देखते ही खिल पड़ती है, बोलती है—]

अरुण बेटा, मेरी अम्बा-ऐसी सुन्दरी समूचे वृज्जिसंघ में नहीं मिल सकती? तू वैशाली के इस फाल्गुनी उत्सव में देख लेना।

मधूलिका — (धीरे से) तब तो यह जरूर ही राजनर्तकी चुनी जायगी।

सुमना—यह तू क्या बोली, मधु!

अम्बपाली — (जो मधूलिका की बात सुन चुकी है, खीझ में) मैं वैशाली नहीं जाती।

मधूलिका—वाह, नहीं जाती! चलना ही पड़ेगा, हाँ—

[मधूलिका अम्बपाली की बाँह पकड़कर उसे घसीटती, घर के बाहर, तोरण के पास ले आती है—पीछे-पीछे सुमना और अरुण हैं—तोरण के सामने अरुण का रथ खड़ा है—वह आगे बढ़कर घोड़े की रास सम्हालता है—अम्बपाली को आगे ठेलकर मधूलिका भी रथ पर जा चढ़ती है—अरुण भी रथ पर आ रहता है—तीनों सुमना को अभिवादन करते हैं—]

सुमना—देखना, अरुण! मेरी अम्बा भोली है; कहीं भीड़ में खो न जाय। (घोड़े सर्राटे से आगे बढ़ते हैं—सुमना टकटकी लगाये रथ को देखती रहती है—उसके मुँह से निकल पड़ता है—) भोली बच्ची!

३

[आदिकवि वाल्मीकि द्वारा प्रशंसित, अपनी विशालता और भव्यता से स्वर्ग की गरिमा को भी पराजित करनेवाली विशाला वैशाली नगरी—उसमें वृज्जियों का वह भव्य दिव्य 'संघागार' जिसमें उनके संघ के ७,७०७ राजा एकत्र होकर समय-समय पर परामर्श और निर्णय करते—

संघागार के विशाल प्रासाद के ऊपर के तोरण पर एक विशाल सिंह की मूर्त्ति जो एक पैर उठाये, मानों झपट्टा मारना चाह रहा—उसके दोनों ओर दो गज-मूर्तियाँ जिनके सूँड़ उठकर ठीक सिंह-मूर्ति के ऊपर, आपस में जा मिलते हैं—सूँड़ के इस मिलने की जगह से एक लम्बा स्तम्भ जिसपर वृज्जियों की राष्ट्रीय पताका लहरा रही—

लाल रंग की वह पताका जिसपर उजली सिंह-मूर्ति अंकित—

संघागार पर पंक्ति से, तोरण से चार एक तरफ, चार दूसरी तरफ, कुल आठ गुम्बद—इन गुम्बदों के रंग क्रमशः नील, पीत, हरित, मंजिष्ठ, लोहित, श्वेत, अवदात और व्यायुक्त, जो वृज्जियों के आठ कुलों के सूचक हैं—

संघागार के नौबतखाने से तरह-तरह के बाजे बजकर दिग्दिगन्त को मुखरित कर रहे हैं—

और, संघागार के सामने के विस्तृत मैदान में, पहले जहाँ वैशाली का बाजार लगा करता, आज फाल्गुनी उत्सव की तैयारियाँ हैं—

वृत्ताकार बनी है यह उत्सव-भूमि—वृत्त के बीच में ऊँची रंग-भूमि है, जहाँ युवक-युवतियों के नृत्य-गान हो रहे—रंगभूमि को केन्द्र मानकर समूचा वृत्त आठ भागों में विभक्त किया गया है—जहाँ की दूकानें, परिधान, रथ आदि उपर्युक्त आठ रंगों के ही—

फूलों और सोमरस की दूकानों पर सबसे अधिक भीड़—

प्रसाधन-शृंगार से आभूषित युवक-युवतियों का अनुपम जम-घट—युवकों के कामदार कटिपट और लम्बे बालों को सँवारनेवाली जरीदार पट्टियाँ—युवतियों के रंगीन परिधान और कंचुकियों पर चकमक गोटे-बूटे—फूलों के आभूषणों और मालाओं से दोनों लदे-से—

रंगभूमि से नृत्य-संगीत की धारा प्रवाहित हो आठो भागों को जैसे डुबो देना चाहती हो—सबके पैरों में नृत्य की गति, सबके स्वर में संगीत के सुर—एक मोहक-मादक उत्तेजना से वायुमंडल व्याप्त—

इसी वातावरण में, बीच में अरुणध्वज और उसके दायें अम्बपाली, बायें मधूलिका, तीनों मस्त हो तमाशे देख रहे—जिसकी नजर अम्बपाली पर पड़ती, वह चौंक उठता, टकटकी लगाकर उसे देखता रह जाता—उनकी यह भावभंगिमा अम्बपाली को व्याकुल कर देती है—वह भीड़ से अलग हटकर अरुण से कहती है—]

अम्बपाली—अरुण, अब चलो, कहीं विश्राम करें। मैं थक गई।

अरुणध्वज—थक गई। वाह, अभी देखा क्या जो थक गई। अभी तो सारा देखने को धरा पड़ा है।

अम्बपाली—मैं अब नहीं देखना चाहती।

अरुणध्वज—क्यों ?

अम्बपाली—ये लोग अच्छे नहीं दिखाई देते। सब यों घूरते हैं, जैसे आँखों से निगल जायँगे।

मधूलिका—(चौंकती-सी) आँखों से निगल जायँगे ?

अम्बपाली—हाँ, हाँ, आँखों से निगल जायँगे ! मैं तो इन्हें देखते ही काँप उठती हूँ, मधु ! ये आँखे हैं या...(अरुण से) नहीं-नहीं, अरुण, चलो। मैं बाज आई इस देखने से।

मधूलिका—(व्यंग्य से) या दिखाने से ! मेरी रानी, अभी तू देखने-दिखाने से यों काँपती है और जब हजार-हजार राजकुमार......

अम्बपाली—फिर वही शैतानी ? (भौंहें चढ़ाकर अरुण से) अरुण, चलते हो ? चलो।

अरुणध्वज—चलूँ ? कहाँ ? संसार में कोई ऐसी जगह बता दे, जहाँ आँखें न हों।

अम्बपाली—लेकिन आँख-आँख में फर्क है।

मधूलिका—और, मैंने उस दिन कहा था, सपने-सपने में फर्क है और फर्क है रूप-रूप में, तब तू नहीं मानती थी। भला, मुझे कोई क्यों नहीं देखता, घूरता, या तेरे शब्दों में, निगलता।

अम्बपाली—(झुंझलाकर) मैं क्या जानूं ?

मधूलिका—जानेगी, जानेगी। और जब जान जायगी, मुझसे भर मुँह बातें भी नहीं करेगी।

अम्बपाली—(अरुण से रुखाई के शब्दों में) तुम मुझे ले चलते हो या नहीं, अरुण ?

अरुणध्वज—अच्छा चल, सोमरस की दूकान पर (हाथ से बताते हुए) थोड़ा पी ले, थकावट दूर हो जायगी।

अम्बपाली—(चौंककर) सोमरस! मौसी कहती थी, लड़कियों को सोमरस नहीं पीना चाहिए।

अरुणध्वज—हर मौसी मना करती है और हर लड़की पीती है—यही होता आया है उस युग से, जब दुनिया में लड़कियाँ पैदा हुईं और देवताओं ने सोमरस भेजा।

अम्बपाली—देवताओं ने भेजा?

अरुणध्वज—हाँ, हाँ, देवताओं ने भेजा! सुरों द्वारा सुर-लोक से भेजी गई होने के कारण ही तो यह अलौकिक पेय सुरा कहलाती है। शेषनाग को रस्सी बना, मंदराचल की मथानी से, क्षीर-सागर मथकर देवताओं ने इसे निकाला। सुधा नाम से उसे पीकर आप अमर हो गये और सुरा नाम से हमारे पास, इस मर्त्यभुवन में भेजा। हमने उसे सोमरस का सुन्दर नाम दिया।

अम्बपाली—इसे ही पीकर देवता अमर हुए?

अरुणध्वज—हाँ रे, इसे ही पीकर देवता अमर हुए और इसे ही पीकर हमारे ऋषियों ने ऋग्वेद की कविता की, सामवेद के गीत गाये और यजुर्वेद से यज्ञपूत हो अमृतपुत्र कहलाए।

अम्बपाली—तो मौसी मना क्यों करती थीं?

मधूलिका—उस दिन वह फूल गूँथने से भी तो मना कर रही थीं न?

अम्बपाली—ठीक रे मधु, बुढ़ियों की ऐसी ही बातें होती हैं। (अरुण से) लेकिन लगता है यह कैसा अरुण?

अरुणध्वज—कुछ मत पूछ, अम्बे! जहाँ हलक के नीचे उतरा सारी थकावट दूर—नस-नस में ताजगी दौड़ने लगती है। थोड़ी देर में ही मालूम होता है, जैसे बाँहों के नीचे से पंख फूट निकले हैं और हम हवा में उड़े जा रहे हैं!

अम्बपाली—जैसे सपने में लोग उड़ा करते हैं?

अरुणध्वज—बस, बस वैसे ही। कुछ क्षणों में ही यह हमें स्वर्ग-लोक में उड़ा ले जाता है! स्वर्गलोक में—जहाँ अमरता है, शाश्वत यौवन है, संगीत है......

मधूलिका—(बीच में ही बात काटकर) और जहाँ सुनहले पंखोंवाले लाख-लाख देवकुमार हैं.....

अम्बपाली—(झपटती हुई) तू चुप नहीं होती!

अरुणध्वज—(अम्बपाली का हाथ पकड़े हुए) चल-चल, जरा पी लें—

[एक हाथ से अम्बपाली और दूसरे हाथ से मधूलिका को पकड़े अरुणध्वज हँसते हुए सोमरस की दूकान पर जाता है—युवक-युवतियों के रेल-पेल में तीनों घुस जाते हैं और एक मंच पर बैठकर सोमरस पीते हैं—एक दूसरे को प्याले-पर-प्याले पिलाये जा रहे हैं—

उसी समय चार राजकुमारों के साथ पुष्पगंधा, वैशाली की आजतक की राजनर्तकी वहाँ पहुँचती है—संघ के प्रतिनिधि की हैसियत से ये पाँचों नई राजनर्तकी के लिए सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के चुनाव करने को किशोरियों का निरीक्षण करते फिर रहे हैं—उनमें से एक राजकुमार की नजर अम्बपाली पर पड़ती है—]

राजकुमार—(पुष्पगंधा से) भद्रे, जरा उस किशोरी को तो देखें।

पुष्पगंधा—कौन? वह? (अम्बपाली की ओर उँगली उठाती)

दूसरा राजकुमार—(उसी ओर उँगली करके) वह? वही न?

पहला राजकुमार—हाँ, हाँ, वही। कितनी अपूर्व सुन्दरी! ऐसी सुन्दरी इस उत्सव-मंडली में दूसरी नहीं है। क्यों भाई? (तीसरे राजकुमार से)

तीसरा राजकुमार—इतनी जल्दी मत कीजिए! हमें एक ऐसी सुन्दरी चुनना है जिसका जोड़ हमारे संघ की तरह ही संसार में न मिले। जो कीर्ति वृज्जिसंघ को प्राप्त है, उसके अनुरूप ही तो राजनर्तकी भी चुनी जानी चाहिए न? जिस गौरव को देवी पुष्पगंधा ने स्थापित किया है, उसकी रक्षा क्या हम इतनी जल्दबाजी करके कर पायेंगे?

पुष्पगंधा—कुमार, आपका कहना सही है, हमें जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। लेकिन, वह कोई साधारण रूपसी नहीं मालूम होती है, कुमारो!

पहला राजकुमार—आप ठीक कहती हैं, मुझे शक है, देवसभा की उर्वशी भी इतनी सुन्दरी होगी। (राजकुमारों से) जरा, इसके एक एक अंग को देखो, भाइयो! उफ्; यह तो साँचे की ढली मालूम होती है—सुन्दरता, मानों, नारी का रूप धरकर हमारे सामने साक्षात् खड़ी है!

तीसरा राजकुमार—(गौर से निरीक्षण करते) लेकिन, कुछ गँवई-सी मालूम होती है। क्यों, आप क्या समझते हैं? (दूसरे से पूछता है)

दूसरा राजकुमार—लेकिन वृज्जिसंघ नगर और ग्राम का कोई भेद नहीं करता। यहाँ सबकी समता है। अपने गुण से हर नागरिक राजा हो सकता है, अपने रूप से हर सुन्दरी राजनर्तकी के गौरव को प्राप्त कर सकती है। (चौथे से, जो सबमें वयस्क है) क्यों, आप नहीं कुछ बोल रहे ?

चौथा राजकुमार—इसमें सन्देह नहीं कि हमने जितनी सुन्दरियाँ देखी हैं, उनमें यह सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु मेरा ख्याल है, अपनी उत्तराधिकारिणी पसंद करने की सबसे ज्यादा जिम्मेवारी देवी पुष्पगंधा पर है। इसलिए, हम लोग इसपर ज्यादा विवाद न कर अन्तिम निर्णय इन्हीं पर छोड़ दें।

पुष्पगंधा—यह आपकी कृपा है, लेकिन इससे हममें से किसी की जिम्मेवारी कम नहीं होती। हाँ, अच्छी बात हो, हम थोड़ा और घूमकर देख लें।

[इन पाँचों का दल आगे बढ़ता है—उधर सोमरस पीकर मस्त बनी अम्बपाली अरुणध्वज और मधूलिका के साथ निकलती है—वह खूब हँस रही है— पहले की शर्मीली लड़की नहीं है—प्रगल्भतापूर्वक हँसती जा रही है—]

अरुणध्वज—तुझे क्या हो गया है अम्बे ! कहीं इतना भी हँसा जाता ?

अम्बपाली—(उसकी आवाज लटपटा रही है, बीच-बीच में रुक जाती है) कहीं इतना भी...... हँसा जाता है ! ह-ह-ह-ह ! ! क्यों मधु, कहीं—इतना भी—हँसा—जाता है ! ! हा-हा-हा-हा- ! ! !

मधूलिका—(डाँटती-सी) यह क्या अम्बे ?

अम्बपाली—ह-ह-ह-ह !... ही-ही-ही-ही ! ! यह क्या अम्बे ? यह क्या ??...अरे, यह क्या रे मधु !...मधु ! !... हा-हा-हा-हा !... हो-हो-हो-हो !

मधूलिका—(नाराजी और हुकूमत के स्वर में) तू चुप नहीं होती !

अम्बपाली—(घूरकर देखती) चुप नहीं होती ! चुप नहीं..हा-हा-हा-हा...हो...हो...हो...हो...मधु ! मधु ! !..अरी, मैं उड़ी जा रही हूँ, रे मधु...मधु, पकड़ रे ! रे...ये मेरे पंख... (हाथों को हवा में डैनों-से फटकारने लगती है)

मधूलिका—(उसके हाथों को पकड़ लेती है, अरुण से नाराजी में कहती है) अरुण, तुमने यह अच्छा नहीं किया...

अरुणध्वज—तू घबरा नहीं, मधु, मैं इसे तुरत अच्छा कर देता हूँ। नशा थोड़ी हरारत खोजता है। (अम्बपाली से) नाचेगी नहीं रे !

अम्बपाली—नाचेगी नहीं रे! मैं नाच रही हूँ रे। मैं नाच रही हूँ. . . रे. . . मधु. . . छोड़ रे मधु. . . (झटके से हाथ छुड़ा लेती है और गति से हाथ-पैर चलाने लगती है) मैं नाच रही रे. . . मधु. . . नाच रे! . . . अरुण नाच रे (वह दौड़कर अरुण का हाथ पकड़ लेती है) नाच. . .रे. . . नाच. . . .

[अरुण उसके हाथों में हाथ दिये उसे रंगभूमि में ले जाता है—मधूलिका भी पीछे-पीछे जाती है—अनेक युवक-युवतियों का नृत्य हो रहा है—अम्बपाली और अरुण भी नाचने लगते हैं—अरुण थक जाता है, लेकिन अम्बपाली अकेली नाचती ही रह जाती है। लोगों का ध्यान धीरे-धीरे उसके अपूर्व नृत्य की ओर जाता है—सब अपना-अपना नृत्य बन्द कर उसीका नृत्य देखने लगते हैं—चारों ओर से हर्षध्वनि और पुष्पवर्षा हो रही है—

पुष्पगन्धा भी अपनी मंडली के साथ वहाँ पहुँच जाती है—वह और चारों राजकुमार उसका नृत्य देख मुग्ध हो जाते हैं—राजकुमारों का स्वीकृति-सूचक रुख देख पुष्पगंधा आगे बढ़ती और उसके गले में राजनर्तकी की जयमाल डाल देती है—चारों राजकुमार चिल्ला उठते हैं—'राजनर्तकी की जय'! 'राजनर्तकी की जय'!! उनकी जय की ध्वनि-प्रतिध्वनि उपस्थित जनता की ओर से होती है; इस जयकार से चकित हो, मानो कुछ होश में आ, अम्बपाली मधूलिका के पास दौड़ जाती है, जो वहाँ खड़ी एकटक उसे देख रही थी—]

अम्बपाली—मधु, मधु. . . राजनर्तकी. . . राजनर्तकी!

पुष्पगंधा—(उसके निकट पहुँचकर) हाँ, राजनर्तकी! कल तक की राजनर्तकी मैं; आज से राजनर्तकी तुम!

अम्बपाली—राजनर्तकी! . . .मैं. . .मैं (आश्चर्य से आँखें विस्फारित करती) राजनर्तकी? . . . मैं राजनर्तकी? . . . मैं. . .

पुष्पगंधा—हाँ, हाँ, तुम राजनर्तकी, तुम!

अम्बपाली—(अचानक विक्षिप्त-सी होकर) मधु, मैं राजनर्तकी. . . अरुण, मै राजनर्तकी! . . . राजनर्तकी. . . ह-ह-ह-ह. . . मैं राजनर्तकी. . . हा-हा-हा-हा. . . मैं राजनर्तकी. . .हो-हो-हो-हो (जोरों से अट्टहास करने लगती है)

मधूलिका—(व्याकुल होकर) अम्बे, क्या बक रही है, अम्बे?

अम्बपाली—बक रही? . . .मै—बक—रही? . . . (फिर उत्तेजित होकर) नहीं, नहीं, मधु, मैं राजनर्तकी. . . मैं राजनर्तकी. . . रे. . . हा-हा-हा-हा. . . हीं-हीं-हीं-ही. . . मैं राजनर्तकी मधु; मधु. . . मैं राज-

नर्तकी...हजार-हजार राजकुमारों के मुकुट...हो-हो-हो-हो...मेरे चरणों पर रे, मेरे चरणों पर... (मधूलिका की आँखों को देख-कर) मधु, तू घूर क्यों रही है रे...मैं राजनर्तकी।

अरुणध्वज—तू होश में नहीं है अम्बे! ओहो; मधु, मैंने क्या किया? (वह विह्वल-सा दिखाई देता है)

पुष्पगंधा—कुछ बुरा नहीं किया आर्य! तुम सौभाग्यशाली हो, तुमने संघ को राजनर्तकी दी। तुम कौन हो, कहाँ के हो? कौन वह सौभाग्यशाली वंश है? कौन वह सौभाग्यशाली ग्राम है?

अरुणध्वज—(विह्वलता में ही) मधु, मधु, यह क्या हो रहा है? ओहो, अम्बे, अम्बपाली, यह क्या? (थोड़ा शांत हो पुष्पगन्धा से) भद्रे, हम आनन्दग्राम से आये हैं......ओहो, यह क्या?

अम्बपाली—(प्रमत्त बनी बके जा रही है) मैं राजनर्तकी... अरुण...अरुण......मैं राजनर्तकी!......ह-ह-ह-ह......मधु...... तू हँसती क्यों नहीं रे?...मै राजनर्तकी...हजार-हजार...हजार-हजार राजकुमारों के मुकुट...मुकुट...मुकुट...हजार-हजार राजकुमारों के मुकुट मेरे चरणों पर लोटेंगे रे...चरणों पर......हा-हा-हा-हा... मेरे चरणों पर...हो-हो-हो-हो...तू हँसती क्यों नहीं है, मधु?... तुम हँसते क्यों नहीं हो अरुण? ...हँसो...हँसो...हँसो...हा-हा-हा-हा...हो-हो...हो-हो—

(अरुण के चेहरे का रंग उड़ जाता है—वह काँप उठता है—फिर मूर्ति-सा खड़ा देखना रहता है—मधूलिका कभी अम्बपाली और कभी अरुण का चेहरा देखती किंकर्तव्य-विमूढ़ बन रही है—इधर लोग पुष्पवर्षा और आनन्द-ध्वनि किये जा रहे हैं—उसी समय एक रथ आकर नजदीक में खड़ा होता है—पुष्पगन्धा अम्बपाली का हाथ पकड़ कर रथ पर चढ़ा लेती है—खिल-खिल हँसती अम्बपाली अरुण और मधूलिका की ओर मुखातिब हो बोलती है—)

—मधु......मैं राजनर्तकी......अरुण, मैं राजनर्तकी....... राजनर्तकी......राजनर्तकी...हा-हा-हा-हा...हजार-हजार राज.....

['नई राजनर्तकी की जय', 'अम्बपाली की जय', पुष्पगन्धा कहती है—सब उसके जयनाद में साथ देते हैं—इसी तुमुल जयनाद में रथ चल पड़ता है—अरुणध्वज पत्थर की मूर्ति-सा खड़ा है—मधूलिका थोड़ी दूर 'अम्बे!' 'अम्बे!' चिल्लाती दौड़ती है—फिर गिर पड़ती है—]

४

[वैशाली का राजकीय वसंतोद्यान—आम, लीची, महुए के पेड़ क्रमशः पंक्तियों में लगे—आम की पीली, लीची की हरी और महुए की अर्ध-विकसित श्वेत मंजरियों की सुगन्ध से प्रकृति मह-मह कर रही—क्यारी-क्यारी में रंग-बिरंगे फूल—बीच में एक बँगला, पुष्पों से घिरा, लताओं से लदा—

सुबह की सुनहली धूप से सब चीजें जगमग हो रहीं—

बँगले के कमरे के मुँह पर जो कामदार पर्दा झूल रहा है, वह हटता है—भीतर से अम्बपाली निकलती है—आँखों में खुमार—चेहरे पर नींद की छाया—चकित नेत्रों से इधर-उधर देखती है—बरामदे पर आकर पुकारती है—]

अम्बपाली—कोई है।

[एक परिचारिका दौड़कर आती है—उसके सामने झुककर अभिवादन करती और बोलती है—]

परिचारिका—भद्रे, जो आज्ञा!

अम्बपाली—(आश्चर्यमयी मुद्रा में) आज्ञा? मैं कहाँ हूँ? उफ्, यह कैसा सपना?

परिचारिका—नहीं आर्ये, यह सपना नहीं, प्रत्यक्ष सत्य है। यह वैशाली का राजकीय वसन्तोद्यान है और मैं हूँ आपकी परिचारिका।

अम्बपाली—परिचारिका? (झिझककर) मुझे किसी की परिचर्या की जरूरत नहीं। क्या मैं बूढ़ी हूँ, रोगी हूँ?

परिचारिका—(किंचित् मुस्कान से) जरूरत पड़ेगी, पड़ेगी आर्ये!

अम्बपाली—(उत्तेजना में) नहीं, नहीं! (उसासें लेती हुई) आह, मधु कहाँ, अरुण कहाँ? (परिचारिका से) बता, बताती क्यों नहीं?

[बँगले के बरामदे के दूसरे छोर से पुष्पगन्धा आती दिखाई पड़ती है—उसकी आहट सुन परिचारिका उस ओर देखती है और ससम्भ्रम हट जाती है—अम्बपाली पुष्पगंधा को घूर-घूरकर देखती है—वह निकट पहुँचती है—परिचारिका अन्ततः वहाँ से हट जाती है—]

पुष्पगंधा—क्यों? तबीयत अच्छी है न?

अम्बपाली—आप कौन हैं?

पुष्पगंधा—भूल गई?

अम्बपाली—भूल गई! (गौर से देखती है)

पुष्पगंधा—कहीं देखा नहीं?

अम्बपाली—(सोचती हुई) सपने में शायद कभी देखा है? आप कौन हैं?

पुष्पगंधा—(मुस्कुराती) मुझे लोग पुष्पगंधा कहते हैं, यह नाम कभी सुना है?

अम्बपाली—नाम तो यह सुना है—वृज्जिसंघ की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, वैशाली की राजनर्तकी।

पुष्पगंधा—ठीक; कल तक मैं वृज्जिसंघ की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, वैशाली की राजनर्तकी थी। लेकिन आज मै वह नहीं रही।

अम्बपाली—आज क्यों नहीं रही?

पुष्पगंधा—यह भी भूल गई? रात का सपना याद कर—तू जो रात राजनर्तकी चुनी गई, वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी मानी गई।

अम्बपाली—(कातरता से) भद्रे, मैं सपनों से परीशान हूँ। मेरी मधु कहाँ? मेरा अरुण कहाँ? अरुण... (चिल्लाती है)

पुष्पगंधा—(उसकी आवाज में गम्भीरता आ जाती है) यों लोग नही चिल्लाते अम्बे! तू जहाँ खड़ी है, उस स्थान की मर्यादा देख। वृज्जिसंघ की कुमारियाँ मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती। जिस दिन हमारी कुमारियाँ मर्यादा छोड़ देंगी, संघ की नीव हिल जायगी। नारियाँ राष्ट्र की इमारत की नींव की ईंट होती हैं, नींव की चंद ईंटें हटा दो, बड़ी-से-बड़ी इमारत भहरा पड़ेगी।

अम्बपाली—मर्यादा? मर्यादा मुझसे टूटी है क्या भद्रे? क्षमा करें। मुझे मेरी मधु से, मेरे अरुण से मिलाइए। आह, मेरी मौसी! मैं कहाँ से वैशाली आई, मै सचमुच मेले में खो गई! (उसकी आँखों में आँसू छलछला आते हैं)

पुष्पगंधा—(जरा-सी मुस्कुराती हुई) तू खो गई, और संघ ने नर्तकी पाई। कोई खोता है, तभी कोई पाता है, अम्बे!

अम्बपाली—(गिड़गिड़ाती हुई) आर्ये, अब सपने में न रखिये—मुझे मेरे साथियों से मिलाइए, या आनन्दग्राम भिजवाइए।

पुष्पगंधा—आनन्दग्राम रथ गया है, तेरी मौसी आती ही होंगी। मधु और अरुण संघ के अतिथि-भवन में हैं। तू जरा प्रसाधन कर ले, इसी रूप में मिलेगी उनसे? अब तू अपने पद-गौरव को समझ।

अम्बपाली—पद-गौरव?

पुष्पगंधा—यों भूलने, विभोर होने से काम नहीं चलता, अम्बे! अब तू राजनर्तकी है। कल संघ ने तुझे राजनर्तकी के रूप में अभिषिक्त जो किया। जिस अभिषेक-मंगल-पुष्करिणी के जल की कुछ

बूँद पाने के लिए कोशल और मगध की महारानियाँ तरसती रहती हैं, वह सरोवर अब तेरे अंगराग से आये दिन रंगीन और सुवासित बनेगा। वृज्जिसंघ के जिन राजकुमारों के गर्वोन्नत सिर हिमालय के शृंग की तरह उन्नत और प्रदीप्त हैं, जिन्हें कोई पदाक्रान्त कर नहीं सकता, झुका नहीं सकता, उन्हीं सिरों के हजार-हजार मुकुट तेरे चरणों पर अवनत होंगे, लोटेंगे। तुझे इस गौरव के अनुरूप ही अपने को ढालना होगा, अम्बे!

अम्बपाली—क्षमा कीजिये, आर्ये! मैं राजनर्तकी नहीं बनना चाहती।

पुष्पगंधा—कोई चाह कर राजनर्तकी नहीं बन पाती, अम्बे! हमारा यह संघ जम्बूद्वीप भर में इसीलिए प्रसिद्ध है कि यहाँ की नारी और नर अपने व्यक्तित्व को संघ पर समर्पित कर देते हैं। संघ जिसको जो जिम्मेवारी देता है, वह उसे निभाता है। संघ की आज्ञा पर हमारे सैनिक समरक्षेत्र में अपनी गर्दन हँसते-हँसते कटा डालते हैं; हमारे नाविक अपनी पूरी जिन्दगी बजड़ों पर ही बिताकर, नागरिक जीवन के सुख-ऐश्वर्य से दूर रहकर हमारे संघ को नाना तरह के धनरत्न से विभूषित करते हैं; तो फिर तुम-हम उसी संघ की आज्ञा पर अपनी जिन्दगी को संघ के मनोरंजन में उत्सर्ग कर दें, तो इसमें अनौचित्य क्या है, आश्चर्य क्या है?

अम्बपाली—क्या यह संघ की जबरदस्ती नहीं?

पुष्पगंधा—जिस दिन हम जिम्मेवारी को जबरदस्ती समझने लगेंगे, उसी दिन संघ का पूरा शीराजा बिखर जायगा, अम्बपाली! वृज्जिसंघ हम सबको स्वतंत्रता की सुरक्षा प्रदान करता है। वृज्जिसंघ स्वाधीन नर-नारियों का संघ है, उसमें जबरदस्ती कहाँ? हाँ, उनके द्वारा दी गई सुरक्षा और स्वाधीनता की भरपाई अगर हम अपनी जिम्मेवारी अच्छी तरह निभाकर करते हैं, तो, इसमें जबरदस्ती कहाँ है, अम्बे! याद रख, हम जिससे पाते हैं, उसे कुछ देना भी होता है!

अम्बपाली—लेकिन, यह अजीब देन है। सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी और राजनर्तकी? उफ्! (उसासें लेती है)

पुष्पगंधा—सर्वश्रेष्ठ पशु ही देवताओं को बलि दिये जाते हैं, अम्बे! मूर्ख कहेंगे, यह कैसा अविचार? लेकिन, उन्होंने जिन्दगी का रहस्य नहीं समझा। जिन्दगी की सार्थकता मनमाना जीना या लम्बी आयु पाना नहीं है। जिन्दगी की सार्थकता है किसी बड़े काम के लिए

उत्सर्ग कर दिया जाना—फिर वह उत्सर्ग की हुई जिन्दगी एक दिन की हो या सौ बरस की, वह खाँड़े की धार पर उतरे या चंदन की चिता पर चढ़े! (कहते-कहते उसका मुँह तमतमा जाता है; उसके चुप होते ही अजीब सन्नाटा छा जाता है!)

अम्बपाली—(भयभीत-सी) देवि!

पुष्पगंधा—(जैसे उसकी आवाज सुनी ही न हो) और एक बात! तूने सौन्दर्य का महत्व ही नहीं जाना!

अम्बपाली—मैं यह सब झंझट क्या जानूं, देवि!

पुष्पगंधा—झंझट नहीं है, तत्व है तत्त्व। दुनिया में तीन चीजों की आकाँक्षा सब को होती है—धन की, ज्ञान की, सौन्दर्य की। इनमें सौन्दर्य की महिमा सबसे बड़ी है। एक गरीब आदमी परिश्रम और संचयवृत्ति से धनी बन जा सकता है; एक मूर्ख अध्ययन और अभ्यास से ज्ञान प्राप्त कर सकता। है। लेकिन, लाख सिर पटक-कर भी कोई कुरूप सुन्दर नहीं बन सकता। सौन्दर्य सिर्फ विधाता के हाथों से गढ़ा जाता है—यह सोलह आने दैवी देन है। यह दैवी देन तुच्छ मानवीय कामनाओं की पूर्त्ति में न व्यय होकर उच्च आदर्श की पूर्त्ति में लगे, इससे बढ़कर इसका क्या सदुपयोग हो सकता है, अम्बे?

अम्बपाली—तो आप राजनर्तकी की जिन्दगी को उच्च आदर्श की पूर्त्ति मानती हैं?

पुष्पगंधा—कोई काम स्वयं ही उच्च या नीच नहीं होता अम्बे! एक हत्या हत्यारेपन की सूचना देती है, दूसरी हत्या हत्याकारी को देवता बना डालती है। जरा सोच तो, अपनी सभी व्यक्तिगत रुचियों, इच्छाओं, आकांक्षाओं को ठुकराकर, लात मार कर अपने-आपको संघ के प्रत्येक सदस्य के मनोरंजन के लिए अर्पित कर देना—अपने व्यक्ति को समष्टि में विलीन कर देना—इससे बढ़कर आदर्श की उच्चता एक सुन्दरी नारी के लिए क्या हो सकती है? सुन्दरी नारी—जिसका कदम-कदम डगमगाता है! वृज्जिसंघ की कुमारियाँ ही इतनी बड़ी साधना का साधन कर सकती हैं, अम्बे!

अम्बपाली—(रुखाई से) साधना का साधन या आत्मा का हनन?

पुष्पगंधा—शुरू में ऐसा ही भ्रम होता है। किन्तु तथ्य यह है कि ज्यों ही हमने अपने को उनके लिए अर्पित कर दिया, हम उनके मनोरंजन की चीज नहीं रह जातीं, बल्कि वे ही अपने को हमारे

मनोरंजन के साधन बना डालते हैं—हमें अपना सिर उनके निकट झुकाने की जरूरत नहीं होती, उन्हीं के हजार-हजार राजमुकुट हमारे चरणों की धूल चाटने लगते हैं! हम नारियों की भी एक महिमा है, यह क्यों भूल जाती है, भोली लड़की!

अम्बपाली—(दीर्घ उच्छ्वास के साथ, धीमे स्वर में) आह, मेरा अरुण!

पुष्पगंधा—अरुण! अरुण भी तो वृज्जिसंघ का एक सदस्य है। कौन उसे तेरे पास आने से रोक सकता है? जा, तू जल्द प्रसाधन तो कर ले। चयनिके! (पुकारती है)

[पुकार सुनकर परिचारिका शीघ्र उपस्थित होती है—उदास, अनमनी अम्बपाली उसके साथ बँगले के भीतर जाती है—पुष्पगंधा सामने के उद्यान में घूमती है—रह-रहकर काँप उठती है—अन्ततः उसकी आँखों से आँसू झरने लगते हैं—क्यों? किसके लिए?]

५

[वेगवती नदी की पतली धारा संध्या की किरणों से रंगीन हो रही है—आनन्दग्राम की नारियाँ घड़े लिये आती और जल ले जाती हैं—उनका आना-जाना लगा है—

धारा के उतार की ओर चरवाहे अपनी गायों और दूसरे जानवरों को लाते, पानी पिलाते और गाते-बजाते गाँव की ओर चल पड़ते हैं—

कुछ बच्चे धारा के चढ़ाव की ओर तटभूमि की शीतल बलुई जमीन पर, बालू मे घरौंदे का खेल कर रहे हैं—वे खेलते, उछलते, किलकारियाँ भरते, भागदौड़ मचाते—

ऊपर, असाढ़ के धूसर आसमान पर, पूरब क्षितिज की ओर, बादल का एक टुकड़ा दिखाई पड़ता है जिसकी ओर नारियों का ध्यान बार-बार जाता है—

सुमना घड़ा लिये आती दीखती है—उदास, उतरा हुआ, अनमना है उसका चेहरा—घड़ा धारा के किनारे रख वह बहुत देर तक बच्चों का यह घरौंदा-खेल देखती है—रह-रह कर दीर्घ उच्छ्वास आप-से-आप निकल पड़ते हैं!—

आखिर घड़े में पानी लेकर जाना ही चाहती है कि मधूलिका कलसी लिये आती दिखाई पड़ती है—वह रुक जाती है—मधूलिका उसे देख लपककर पहुँचती और पूछती है—]

मधूलिका—मौसी, सुना, तुम फिर वैशाली गई थीं।

सुमना—हाँ, गई थी। अम्बपाली ने रथ भेजा था।

मधूलिका—अब तो वह राजरानी हो गई, मौसी! तकदीर इसीको कहते हैं।

सुमना—लेकिन वह जो इसे तकदीर माने। कहती थी—मौसी, सुख-ऐश्वर्य से भरी यह वैशाली मुझे नहीं सुहाती; मेरा मन तो आनन्दग्राम को आम्रवाटिका या वेगवती के तट पर ही चक्कर काटता रहता है! तुझे भी बुलाया है—एक दिन जरा हो आओ न मधु?

मधूलिका—मैं उस ओर पैर बढ़ाने की हिम्मत भी नहीं कर सकती, मौसी! सारी वैशाली स्वप्नपुरी-सी मालूम होती है। मैं हमेशा ही सपने से भागती रही हूँ। (कुछ सोचकर) अरुण की चर्चा करती थी?

सुमना—की थी; कई बार की। लेकिन मैं क्या बताती भला?

[दूर से आती वंशी की हृदयवेधक ध्वनि सुनाई पड़ती है—ध्वनि कानों में पड़ते ही मधूलिका सिहर उठती है—उसके चेहरे पर करुणा की छाया दौड़ जाती है—वह स्वर में विभोर-सी हो जाती है—सुमना का ध्यान भी उस ओर जाता है—वह घड़ा रख देती और सुनने लगती है—मधूलिका की कलसी आप ही कमर से खिसक जाती है—तब, जैसे चौंककर, वह कहती है—]

मधूलिका—यह अरुण की ही वंशी है, मौसी!

सुमना—पहचानती हूँ, मधु, पहचानती हूँ। इस वंशी को अब इस आनन्दग्राम में कौन नहीं पहचानता?

मधूलिका—उसे यह क्या हो गया है, मौसी? भोर ही, मुह-अँधेरे, इस आम्रवाटिका में पहुँच जाता है और वंशी के सुर में करुणा की धारा प्रवाहित करने लगता है। और अब इस शाम को जो शुरू किया, तो एक पहर रात बीते तक बजाता जायगा। कई बार कहा, इस वाटिका को भूल, इस कलमुही वंशी को छोड़। लेकिन कौन उसे समझा सके?

सुमना—तू पुरुष के हृदय के बारे में नहीं जानती बेटी! वह अजीब चीज है। औरत के दिल से वह बिल्कुल अलग चीज है। औरत का दिल शीशा है—नुनुक, पारदर्शी; जरा-सी तेज आँच लगी, टुकड़े-टुकड़े हो गया। रोशनी गायब, किस्सा खतम। लेकिन, मर्द का दिल फौलाद है। वह जल्द गर्म होता नहीं; लेकिन जब एक बार गर्म हो गया, आप जलेगा, नजदीक की चीजों को जलायेगा।

जब औरत के दिल पर सदमा देखो, रोओ। जब मर्द के दिल पर ठेस लगे, होशियार हो जाओ।

मधूलिका—सही कहती हो, मौसी! मैं तो उसे देखते ही भय-भीत हो जाती हूँ। उस दिन वैशाली में जब लोग अम्बा को रथ पर ले चले, मैं दौड़ी, वह खड़ा रहा। दूसरे दिन वे हमें अम्बा के पास चलने को बुलाने आये, मैं गई, वह खिसका भी नहीं। जब हम वैशाली से लौट रहे थे, मैं रोती थी, वह चुप था। लेकिन, अब वही मैं हूँ, जो अपने को बहलाना चाहती हूँ, कभी-कभी इसमें सफल भी होती हूँ। लेकिन अरुण! मालूम होता है, जैसे अम्बा की याद दिन-दिन उसके दिल के गहरे-से-गहरे स्तर में पहुँचती जाती है। अम्बा को भूलने के बदले वह दिन-दिन अपने को भूलता जाता है। मुझे डर होता है, कहीं वह पागल...... (एकबारगी वह सिर से पैर तक काँप जाती है)

सुमना—तेरा डर निराधार नहीं है, मधु! सब-कुछ हो सकता है। उसपर ज्यादा ध्यान रखने की जरूरत है। मैं तो बूढ़ी हो गई, उसकी माँ भी बूढ़ी है—हम तो अपने ही को नहीं सम्हाल पातीं। यह काम तेरा है कि तू अरुण की रक्षा करे। फिर जवानी ही जवानी की काट है; बेटी!

[मालूम होता है, जैसे वंशी की ध्वनि निकट से निकटतर होती जाती है—बातचीत में गर्क होने पर भी दोनों इसको महसूस करती हैं—पहले मधु उस ओर नजर करती है, फिर सुमना—दूर पर, नदी के कछार पकड़े, वंशी बजाता, आता हुआ अरुणध्वज दिखाई पड़ता है—]

मधूलिका—मौसी, वह, वही है न?

सुमना—हाँ, वही तो है।

मधूलिका—आज इधर कहाँ भटक पड़ा? मालूम होता है, शायद उसे खबर हो गई कि तुम वैशाली से लौट आई हो? (सजल नेत्र और कातर वचन में) देख तो, मौसी, इन तीन महीनों में ही वह क्या से क्या हो गया है? कहाँ गई वह चौड़ी छाती, वे उलटे पुट्ठों-वाली मस्तानी बाहें। आह! ये बेसँवारे बाल—ये लटपटे कटिप्ट। धनुष-बाण की जगह यह करुणा की बेटी बाँसरी! मौसी, मौसी, मेरी तो छाती फटी जाती है! (उसकी आँखों से अश्रुधारा चलने लगती है)

सुमना—मधु! ऐसे मौकों पर छाती को कठोर बनाना पड़ता है, बेटी! चल, हम नदी के ऊपर चलें, कछार पर ही उससे मिलें।

[दोनों तट के ऊपर कछार पर आती हैं—सूरज डूबने जा रहा है—वह छोटा-सा बादल का टुकड़ा आधे आसमान को ढक चुका है—अरुण सिर नीचा किये पगडंडी पकड़े वंशी बजाता आ रहा है—उसकी दशा देख सुमना की अखों में सावन-भादो उमड़ आते हैं—मधूलिका भर्राई आवाज में पुकारती है—]

मधूलिका—अरुण !

अरुणध्वज—(सिर उठाकर दोनों को घूरता है, फिर बोलता है) कौन ? मौसी ? प्रणाम, मौसी !

सुमना—अरुण, मैं वैशाली गई थी, अम्बा तेरी याद करती थी।

अरुणध्वज—(प्रश्नवाची स्वर में) याद ! करती थी ? अम्बा मुझे याद करती थी ? क्यों मौसी ?

सुमना—हाँ, हाँ, याद करती थी। बहुत याद करती थी। एक दिन जाओ न ? मधूलिका को भी लेते जाना !

अरुणध्वज—(करुणामय हँसी के साथ) मधूलिका को भी लेते जाना ! खूब ! चल रे मधु, चल। वैशाली चल। चल रे, तुझे भी राजनर्तकी बना आऊँ। तू भी राजनर्तकी बनना; हजार-हजार राजकुमारों के मुकुटों को ठुकराना ! ! हाँ, हाँ, चल। कब चलती है, रे ?

मधूलिका—(आँचल से आँसू पोंछती) मौसी !

सुमना—अरुण, यों होश मत खो !

अरुणध्वज—(गम्भीर होकर) होश ! मैं खोऊँगा ? नहीं मौसी, मैं होश नहीं खो सकता। मैं होश खोऊँगा तो अम्बा की याद कौन करेगा ? नहीं-नही मैं होश नहीं खो सकता। अच्छा, बता—अम्बा कैसी है ?

सुमना—बड़े मजे में; तेरी बहुत याद करती थी !

अरुणध्वज—(फिर पूर्व-सा विद्रूप स्वर में) 'तेरी बहुत याद करती थी !' 'बड़े मजे में !' (वह अकस्मात् ठठाकर हँस पड़ता है) मौसी, बड़े मजे में कैसे याद की जाती है, मौसी ! मेरी अच्छी मौसी जरा मुझे बता दो। बता दो। (मधूलिका की ओर मुखातिब होकर) तू जानती है, मधु ? तो क्यों नहीं बताती ? हाँ-हाँ, तुम लोग 'बड़े मजे में' याद करना जानती हो। वहाँ अम्बा 'मजे में' याद करती है, यहाँ तू...... (मधूलिका की आँखों में अश्रुप्रवाह देखकर उसकी भावभंगी तुरत बदल जाती है) अरे, यह क्या ? तू रो रही है !

रो रही है! तो तू 'मजे में याद करना' नही जानती। हाँ, हाँ, यह कला सिर्फ अम्बा......

सुमना—(बीच ही में बात काटकर) यह तू क्या हुआ जा रहा है, बेटा?

अरुणध्वज—उस दिन माँ कह रही थी, तू क्या हुआ जा रहा है, बेटा? आज मौसी कह रही है, तू क्या हुआ जा रहा है बेटा? क्या मैं सचमुच कुछ हुआ जा रहा हूँ मौसी! नहीं, नहीं, मर्द कुछ नहीं हो सकता। सिर्फ लड़कियाँ सब कुछ हो सकती हैं? अम्बा राजनर्तकी हुई, मधु राजनर्तकी होगी—(सिर खुजलाकर जैसे याद करता) वह... क्या नाम है उसका, उसका...हाँ, रेणुका!...रेणुका राजनर्तकी होगी, और वह (फिर सिर खुजलाता) मधु, जरा गाँव की सब लड़कियों के नाम बताती जा, भाई! तुम सब एक दिन राजनर्तकी हो जाओगी!! (मधूलिका फूट-फूटकर रोने लगती है—) अरे, तू तो हिचकियाँ लेने लगी! चुप रे चुप! हँस रे हँस! देखा नहीं, अम्बा उस दिन किस तरह हँस पड़ी थी—जोर-जोर से, ठठा-ठठाकर, ह-ह-ह-ह-...ही-ही-ही-ही...हो-हो-हो-हो! तू भी हँस! नहीं हँसती है? (मधूलिका की ठुड्डी पकड़कर) समझा रे, समझा! तुझे सोमरस चाहिए। चल-चल; उस दूकान पर चल। तुझे भी थोड़ा सोमरस पिला दूँ—सोमरस, सुधा, सुरा! फिर तू भी हँसेगी-हँसेगी और कहेगी—'अरुण! मैं राजनर्तकी...मैं राजनर्तकी...अरुण, मैं...'

[तब तक चारों ओर छाये बादल में अचानक बिजली कौंध जाती है—फिर जोरों से बादल गरज पड़ता है—अरुण आसमान की ओर देखता और 'मौसी, प्रणाम' कहकर जिस रास्ते आया था, उसी से द्रुतपद भागता है—सुमना और मधूलिका विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखती रह जाती हैं—]

दूसरा अंक

१

[वैशाली का शरद उपवन—बीच में एक तालाब, जिसमें कुमुद के शत-शत फूल खिले हुए—फूलों को ठेलते हुए चकवों के अनगिनत जोड़े किलोल कर रहे—उनके कलरव और पंख की फटफट में समूचा तालाब मुखरित हो रहा—तालाब के परले कछार पर फूले कास की झुरमुटें सिर हिला रहीं—शेष तीन किनारों पर हर-सिंगार के अनेक झाड़, जिनके फूल टप-टप करते थाले में झड़ रहे—

तालाब से थोड़ा हटकर राजनर्तकी का शरद-प्रासाद—बिल्कुल सुफेद, दूध का धोया-सा—उसका प्रतिबिम्ब तालाब में भी दिखाई पड़ता है—

प्रासाद की छत पर, खुले आसमान के नीचे, उजला दपादप फर्श बिछा—चारों ओर कुमुद के बंदनवार लटके—बन्दनवार के बीच-बीच चाँदी के पिंजड़े टँगे, जिनमें खंजन किलवाड़ कर रहे—फर्श के बीच में कुछ ऊँचा मंच, जिसका कारचोबी का काम चमचम कर रहा—मंच पर सोमरस से भरी चाँदी की सुराहियाँ और चुन्नी की प्यालियाँ रखी हैं—

बिल्कुल साफ आसमान पर शरद की पूर्णिमा का चन्द्रमा पूरब क्षितिज में सिर उठाकर अपनी हँसी बिखेर रहा है—असंख्य तारे

चमचम कर रहे हैं—चारों ओर स्वच्छ, धवल, स्निग्ध चन्द्रिका छाई हुई है—पेड़ों की फुनगियों पर हल्का-हल्का सफेद कुहासा छाया हुआ है—

छत पर परिचारिका के साथ अम्बपाली आती है—

यह पाँच वर्ष पहले की अम्बपाली नहीं रह गई है—तब वह किशोरी थी, अब युवती है—उसके अंग-अंग भर चुके हैं—जवानी छलकी पड़ती है—चेहरे पर ओज है, पैरों में गम्भीरता —सिर कहता है, आसमान मेरा; पैर कहते हैं, जमीन मेरी—

बूटे-गोटे से चकमक बना श्वेत रेशमी परिधान है उसका, जिसकी किनारी में मुक्ताओं की झालरें झलमल कर रहीं—उजली बारीक कंचुकी के ऊपर लटकती मोती की माला की सुफेदी को कंचुकी में टँके दो बड़े हीरों की दीप्ति और भी शुभ्र बना रही—शरीर के शेष नग्न भाग जैसे चाँदनी की सुफेदी में घुले जा रहे हों—

वह चाँद को एकटक निहारती है—फिर सारे आसमान का जैसा निरीक्षण कर जाती है—उसके बाद खंजन के एक पिंजड़े के निकट जाती और उसे हिला देती है—खंजन पंख फड़फड़ाने लगते हैं, वह मुस्कुराती है—पिंजड़े से हटकर वह फर्श के मंच पर जाती और मसनद से उठंग कर बैठती है—परिचारिका से कहती है—]

अम्बपाली—चयनिके, थोड़ा सोमरस पिला।

[सुराही से ढालकर चयनिका प्याली में उसे सोमरस देती है—कई प्यालियाँ घट-घट पी जाती है—फिर कहती है—'अभी रहने दे' और चाँद की ओर देखती लेट जाती है—थोड़ी देर तक उसे देखते रहने के बाद चयनिका से पूछती है—)

चयनिके, आदमी चाँदनी क्यों पसन्द करता है, तू जानती है?

चयनिका—शायद इसलिए कि चाँदनी बड़ी शीतल होती है भद्रे!

अम्बपाली—शीतल होने के कारण?

चयनिका—तो भला?

अम्बपाली—दुर पगली, कहीं आदमी शीतलता पसंद करता है? आदमी ऊष्णता पसंद करता है, गरमी पसंद करता है। इसी गरमी के पाने के लिए वह सोमरस पीता है, इसी गरमी की तलाश में प्रिया या प्रियतम के वक्षस्थल की खोज में व्याकुल रहता है। गरमी जिन्दगी है! और शीतलता? शीतलता, ठंडक तो मौत है, रे! आदमी शीतल हुआ, ठंडा पड़ा और मरा! कहीं मौत भी पसन्द की जाती है? (मुस्कुरा पड़ती है)

चयनिका—तो चाँदनी क्यों पसंद की जाती है आर्ये?

अम्बपाली—अब मुझी से सवाल कर बैठी? पहले तू तो बता ले?

चयनिका—शायद इसलिए कि चाँद बहुत सुन्दर है और 'सुन्दरे किं न सुन्दरम्'!

अम्बपाली—खूब! 'सुन्दरे किं न मुन्दरम्'! लेकिन चाँद की सुन्दरता का भंडा उसी दिन फूट गया, जब एक नारी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो, देवताओं के राजा समेत, वह जमीन पर उतरा और इनाम में अपने शरीर का यह काला धब्बा पाया। तू ने अहल्या का नाम सुना है, चुन्नी?

चयनिका—वही न, जिनकी गिनती पंचकन्याओं में होती है?

अम्बपाली—हाँ, वही। उन्होंने अपने सौन्दर्य की महिमा से देवों को, देवराज को, जमीन पर उतरने को लाचार किया; हम नारियों की गरिमा बढ़ा दी; इसीलिए अभिशप्त होने पर भी पंचकन्याओं में उनकी पहली गिनती है, वह प्रातः स्मरणीया हैं। (हाथ जोड़कर मन-ही-मन प्रणाम करती है) चुन्नी, कुछ और तो अटकल लगा?

चयनिका—मेरी समझ में कुछ नहीं आता, आर्ये!

अम्बपाली—नहीं आता? तो सुन। आदमी चाँदनी इसलिए पसंद करता है कि इसमें एक कुहेलिका है, प्रहेलिका है। सत्य के सीधे-सादे वास्तविक रूप से आदमी घबराता है। हमेशा देखोगी, विज्ञान की अपेक्षा आदमी कविता अधिक पसंद करता है।

चयनिका—कविता तो मुझे भी बहुत पसंद आती है भद्रे!

अम्बपाली—सभी को पसंद है। आदमी निखालिस चीज कभी नहीं पसंद करता। वह निखालिस न सत्य पसंद करता है, न असत्य; न ज्ञान पसंद करता है, न अज्ञान। वह दोनों का सम्मिश्रण खोजता है। आदमी अंधकार नहीं पसंद करता, क्योंकि वह उससे डरता है। यों हीं सूरज की रोशनी भी उसे पसंद नहीं, क्योंकि वह सब चीजों को उसके सामने नंगा-सा करके रख देती है। चाँदनी वह इसलिए पसंद करता है कि उसमें न तो अंधकारवाला डर है, न रोशनीवाला नँगापन! आदमी स्वभावतः रहस्यवादी होता है, चयनिके!

चयनिका—(साश्चर्य) रहस्यवादी?

अम्बपाली—हाँ, रहस्यवादी! हम-तुम परिधान ही क्यों पहनते हैं? तू जानती है?—स्वर्ग में सभी नंगे रहते हैं! हाँ, सभी देवकुमार, देव, देव-पत्नियाँ, अप्सराएँ। वे परिधान की आवश्यकता ही नहीं महसूस करते—बिल्कुल नग्न रहते हैं, एक दूसरे से घुलते-

मिलते हैं। न आवरण, न बंधन! लेकिन आदमी को अपनी वासना के नग्न प्रदर्शन में लज्जा हुई, उसने परिधान बनाये, वासना को रहस्यमय रूप दिया। एक रहस्य से हजारों रहस्यों की सृष्टि हुई। अब हालत यह है कि वह बिना रहस्य के जी नहीं सकता!

[इसी समय दूसरी परिचारिका नीचे से आती है; कहती है—]

दूसरी परिचारिका— राजकुमार वसुबंधु चार-पाँच राजकुमारों के साथ पधारे हैं, आर्ये!

अम्बपाली—(अभिमान से ओतप्रोत; भौंहें चढाकर) कह दे, अभी ठहरें। और सुन, जब तक सब राजकुमार न आ जायँ, उन्हें नीचे ही बैठाती जाना। जा—

[दूसरी परिचारिका जाती है—]

अम्बपाली—सुनती है, चुन्नी। नारी की जिन्दगी दो ही तरह की हो सकती है (पश्चिम की ओर, डूबने के पहले, लाल बल-से रहे मंगल तारा की ओर दिखाती) या तो उस मंगल तारा की तरह, जो संध्या की लाली में अकेला उगता, कुछ देर अपनी झलक अकेला दिखलाता और फिर चुपचाप सदा के लिए अकेला डूबने जा रहा है। (पूरब की ओर मुस्कुराते-से चाँद को दिखाती) या इस चाँद की तरह, जो हजार-हजार तारों से घिरा रहकर अपनी हास्य-ज्योत्स्ना से जगत को पुलकित-प्रफुल्लित किये रहता है। नारी के लिए बीच का रास्ता नहीं है, चयनिके! (थोड़ी देर रुककर) तू इन तारों को पहचाननी है चुन्नी?

चयनिका—जमीन से ही कहाँ फुर्सत मिलती है जो ऊपर देखूँ, भद्रे!

अम्बपाली— (मुस्कुराकर) शोख लड़की! (उसके गाल पर एक दुलार-भरे प्रेम की हल्की चपत लगाती) अच्छा देख। (आसमान के तारों की ओर उँगली से बताती हुई) यह है आकाशगंगा—इसी में नग्न देव-सुन्दरियाँ और अप्सराएँ उभ-चुभ नहाकर अनन्तयौवना बनी रहती हैं; इसीके किनारे गुरुपत्नी तारा युवा शिष्य सोम के लिए व्याकुल फिरा करती थी और इसी में से एक घड़ा जल लेकर वह रोहणी पहली असाढ़ को धरती पर उड़ेल देती है, जिससे सूखे पेड़ हरे हो जाते हैं, मरी दूब जी उठती है और बीज में बेहोश सोया अंकुर अचानक जग पड़ता और जमीन फोड़कर बाहर निकल आता है! वह है कृत्तिका (कचपचिया)—कैसी? हीरे की कणि-काओं के चमचमाते गुच्छे जैसी। और, वह है तुला। (डंडी-तराजू)

जो रात-भर इस पृथ्वी पर होनेवाले पाप-पुण्य को तोलती रहती और उसका लेखा-जोखा उस सुदूर ध्रुव को देती जाती है, जो इस चंचल संसार--जगत्यां जगत्--में एकमात्र स्थिर वस्तु है?

चयनिका—और, वह क्या है आर्ये, सप्तर्षि न? (उँगली से बताती)

अम्बपाली—हाँ, ध्रुव को केन्द्र बना, साल-भर में एक अर्धवृत्त बना लेने वाले सप्तर्षि वही हैं। उनमें वह है वशिष्ठ।

चयनिका—जिनकी बगल में वह अरुंधती हैं? है न? उस दिन अपनी एक सखी की शादी में मैं गई थी; शादी के बाद उसे लोगों ने अरुंधती दिखाई थी। ऐसा क्यों होता है, आर्ये?

[अम्बपाली इस प्रश्न से चौंक उठती है—उसे तुरत याद हो आती है, बचपन की बातें—जब वह सोचती थी, वह भी वधू बनेगी, मंडप पर भाँवरे देगी, अरुंधती देखेगी—किसके साथ?—उसके सामने अरुण की तस्वीर खड़ी हो जाती है—वह एकटक उस काल्पनिक तस्वीर को देखती रह जाती है—उसकी साँस तेज होने लगती है—उसकी आँखें डबडबा आती हैं—वह काँप उठती है—भर्राई आवाज में कहती है—]

अम्बपाली—थोड़ा सोमरस ला, चुन्नी!

[चयनिका सोमरस देती जाती है, वह प्याली पर प्याली खाली करती जाती है—लगातार उसे यों पीते देखकर चयनिका भयभीत हो जाती है—उसके हाथ काँपने लगते हैं—सोमरस की कुछ बूँदें मंच पर छलक जाती हैं—अम्बपाली इसे देखती है और कहती है—]

अरे, तेरे हाथ क्यों काँप रहे हैं रे! दे, दे। देती जा; देती जा। बड़ी अच्छी चीज है यह चयनिके! सब कुछ भुला देती है, सब कुछ। सब कुछ भुला देती है, आनन्दलोक में पहुँचा देती है। दे, ढाल—(दो तीन प्याली और पीती है—फिर प्याली रखकर कहती है)—चुन्नी! तू जानती है, आनन्दलोक किसे कहते हैं?

चयनिका—मैं क्या जानूँ, भद्रे!

अम्बपाली—आनन्दलोक और कुछ नहीं, वह विस्मृति का लोक है! विस्मृति का लोक—जहाँ सब कुछ भूल जाया जाय। न दुनिया की याद रहे, न दीन की; न यह लोक याद रहे, न परलोक। आनन्द एक भावावेश है, चयनिके! जहाँ भावावेश टूटा, अपनी याद आई, दुनिया की याद आई, फिर आनन्द का पंछी भी फुर्र से उड़ा। आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, परमानन्द—जो नाम दे दो सबका मूलसूत्र एक ही है—भावावेश, विस्मृति, बेहोशी, बेखुदी।

[नीचे से फिर परिचारिका आती है और अभिवादन कर कहती है]

दूसरी परिचारिका—नीचे राजकुमारों का ठट्ठ जुटा है, भद्रे! वे कहते हैं, आज शरद-पूनो है, विलम्ब क्या उचित है?

अम्बपाली—(चयनिका से) हाँ, हाँ, आज शरद-पूनो है रे। मैं यह भी भूली जा रही थी। आज ही कृष्ण ने लीला रचाई थी न? बीच में कृष्ण, चारों ओर गोपियाँ। नीचे जमुना कलकल कर रही, ऊपर चाँद हँस रहा। आज अम्बपाली भी रास रचायगी; इस पूनो के चाँद के नीचे रस की यमुना बहायगी। वहाँ था एक पुरुष; हजार नारियाँ। आज होगी एक नारी—और, हजार-हजार—हाँ, हजार-हजार राजकुमार! (दूसरी परिचारिका से) जा—उन्हें भेज।

[परिचारिका नीचे जाती है—राजकुमारों का ठट्ट आने लगता है—चयनिका सुराही से सोमरस ढालती है—अम्बपाली अपने हाथों से उन्हें सोमरस देती जाती है—उनके सोमरस पीने के बाद अम्बपाली खड़ी होती है, अँगड़ाई लेती है, एक बार चाँद को देखती है, फिर गाने और नाचने लगती है—]

कह गई यह चाँदनी—
सो रही मैं आज उन्मन
बह रही थी पवन सनसन

अधर गुनगुन
चरण रुनझुन

स्वप्न की तस्वीर-सी उतरी परी उन्मादिनी।
कौन थी, क्या चाँदनी?

कह गई यह चाँदनी—
तोड़ यह भव-बंध सारा
तोड़ विधि की निठुर कारा

उड़ चली चल
दूर नभ-तल

स्वर्ग-गंगा के किनारे आज एक कुटिया बनायें
रास उसके धवल आँगन में मुदित मन हम रचायें

छूम-छन-नन
मधुर शिंजन

गगन गनगन हो उठे, डोले धरित्रि प्रमादिनी
—बोलती थी चाँदनी!

[बीच-बीच में अम्बपाली किसी राजकुमार का हाथ पकड़कर नाचने लगती है—वह निहाल हो उठता है, दूसरे की भवों पर बल पड़ जाते हैं—उनकी भावभंगी देख नाचती ही नाचती वह सोमरस की प्याली पर प्याली उन्हें देने लगती है—सब मस्त होकर नाचने लगते हैं—इस शरद में भी सबके चेहरे पर पसीने की बूँदें हैं—अम्बपाली का चेहरा तारा-मंडित शरद-चन्द्र-सा लग रहा है—]

२

[वैशाली में दूसरी बार भगवान बुद्धदेव पधारे हैं और अम्बपाली की आम्रवाटिका में ठहरे हैं—

इस खबर से ही सारी वैशाली में हलचल मच जाती है और वहाँ के नागरिक और नागरिकाएँ अपने-अपने रथ सजाकर उस आम्रवाटिका की ओर चल पड़ते हैं—

अम्बपाली को खबर होती है, वह भी अपने सजे-सजाये रथ पर चढ़कर चल पड़ती है— उसका वह गंगाजमनी रथ, जिसमें दो पुष्ट श्वेत अश्व जुते—रथ के ऊपर वृज्जिसंघ की राजनर्तकी की मीनकेतन-पताका लहरा रही, जिसमें नीली जमीन पर सोने के तार से बनी मछली की आकृति—

आम्रवाटिका के द्वार पर रथ से उतर, अम्बपाली अपनी परिचारिका चयनिका को बुद्धदेव के पास आज्ञा लाने को भेजती है—

आम्रवाटिका के मध्य में भगवान बुद्ध शिष्यों के साथ विराजमान हैं—बीच में एक ऊँचा आसन है, जिसपर वह बैठे हैं—सिर, भवें, दाढ़ी, मूँछ सबके बाल मुड़े हुए—छोटे-छोटे पीले कपड़ों के टुकड़ों से सीकर बनाया गया उनका लबादा मगध के छोटे-छोटे धनखेतों की तरह लगता है—वह बिल्कुल ध्यानमग्न हैं—उनकी बगल में उनके प्रधान शिष्य आनन्द हैं और आसन के नीचे उनका शिष्य समूह—सबकी वेशभूषा बुद्ध की ही तरह की—

चयनिका को आते देख एक शिष्य बढ़ता और उसके हाथ का एक पुर्जा आनन्द को लाकर देता है—पुर्जा पढ़कर, ध्यानस्थ बुद्ध जब आँखें खोलते हैं, तब आनन्द उनसे कहते हैं—]

आनन्द—भगवान, अम्बपाली आपके दर्शन चाहती है ।

भगवान बुद्ध—(गम्भीर भाव से) अम्बपाली ?

आनन्द—हाँ, भगवान, वैशाली की राजनर्तकी।

भगवान बुद्ध—धर्म का मार्ग सबके लिए खुला है, आनन्द !

(चयनिका यह सुनती है और सिर झुकाकर चल देती है—उसके कुछ दूर निकल जाने के बाद) लेकिन एक बात है आनन्द! अम्बपाली के बारे में मैंने जो कुछ सुन रखा है, मैं चाहता हूँ, उसके आने के पहले हमारे सभी शिष्य आँखें मूँद लें।

आनन्द—(विस्मित होकर) आँखें मूँद लें?

भगवान बुद्ध—तुम्हें आश्चर्य हो रहा है, आनन्द!

आनन्द—भगवान, आश्चर्य होने की बात ही है। हम भिक्षु हैं, कोई आवे, कोई जाय, हमपर उसका असर क्या हो? क्यों हो? भिक्षुओं के बारे में ऐसा सोचना क्या उनपर अविश्वास या उनका अपमान नहीं है? (आनन्द का चेहरा लाल हो उठता है)

भगवान बुद्ध—यहाँ अपमान और अविश्वास की कोई बात नहीं है, आनन्द! हम तो धर्म के मध्यम मार्ग के अनुयायी हैं। आज भी मेरे कानों में निरंजना के तीर का वह स्वर्गिक गान नहीं भूलता—"वीणा के तार को इतना मत ऐंठो कि वह टूट जाय, न इतना ढीला रखो कि शब्द ही न निकले!"

आनन्द—लेकिन सम्यक् समाधि के बाद हममें इतनी साधना तो होनी ही चाहिए कि हमारा मन झकोरों में भी मणिदीप-सा निर्धूम और एकरस बना रहे।

भगवान बुद्ध—तुमने ठीक कहा, आनन्द! लेकिन एक बात हमें नहीं भूलनी है। हम बच्चों की तरह दीपशिखा को चमकता खिलौना समझकर उसके पकड़ने से कहीं अपना हाथ न जला लें।

आनन्द—इसे स्पष्ट किया जाय, भगवान।

भगवान बुद्ध—सुनो, सौन्दर्य अगर सच्चा सौन्दर्य है, तो उसमें एक जादू होता है। जादू और कुछ नहीं, सम्मोहन है। जो सतत चेतन, हमेशा चौकस मन नहीं है उसपर सम्मोहन का असर होकर रहेगा; और कितने ऐसे सौभाग्यशाली हैं, जिन्होंने मन पर स्थायी लगाम दे रखी है? इसलिए ऐसे मौकों से बचकर ही रहना श्रेयस्कर है। अँधेरी रात में कभी साँप की आँखें तुमने देखी हैं? दीप-शीखा-सी जलती वे सुन्दर, मादक आँखें। उन आँखों से आँखें लड़ाना कोई बुद्धिमानी नहीं है, आनन्द!

आनन्द—लेकिन, इस तरह तथ्य से कब तक आँखें मूँदी जा सकती हैं भगवान?

भगवान बुद्ध—तो, तुम तार को ऐंठते जानेवाली बात का समर्थन कर रहे हो। इसी ऐंठन में कितनी ऐसी वीणाएँ टूट गईं, जिनकी

झंकार से संसार में न जाने कितने अधिक सुख का गुंजार हो पाता। प्राचीन काल में हमारे कुछ ऋषियों ने यही गलती की थी। तपस्या के झोंके में पहले तो तपते-तपते शरीर गला लिया, फिर उसके प्रति-क्रिया-स्वरूप एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर सारी साधना की अंजलि चढ़ा दी। मध्यम मार्ग पकड़ो, आनन्द, मध्यम मार्ग!

आनन्द—भगवान की आज्ञा सिर-आँखों पर। भिक्षुओं, आप आखें मूंद लें।

[सभी भिक्षु आँखें मूँदते हैं—आनन्द भी आँखें मूँद लेत हैं—भगवान बुद्ध आनन्द को भी आँखें मूँदते देखकर कहते हैं—]

भगवान बुद्ध—तुम्हें इसकी जरूरत नहीं है, आनन्द! आनन्द तो बुद्ध की छाया है, जिसका बुद्ध पर असर नहीं हो सकता, उसका आनन्द पर भी असर नहीं होगा!

[आनन्द आँखें खोल देते हैं—दोनों दूर पर आती हुई अम्बपाली को देखते हैं—भगवान बुद्ध कहते हैं—]

भगवान बुद्ध—देखते हो, आनन्द, यह रूप?

आनन्द—सचमुच, भगवान, ऐसा रूप मैंने कहीं नहीं देखा था।

भगवान बुद्ध—यह अलौकिक रूप है! मुझे यह देखकर, आनन्द, बुद्धत्व प्राप्तिवाले दिन के दृश्य याद आ रहे हैं, जब मार की प्रेरणा से ऐसी ही अनेक परियाँ मेरा तप भंग करने को मेरे निकट पधारी थीं।

आनन्द—भगवान पर उनका क्या असर होता भला? यह मार का सरासर अविचार था।

[तबतक अम्बपाली निकट आ जाती है—आसन के नीचे आकर, सिर झुका, भगवान का अभिवादन करती है—भगवान बुद्ध हाथ उठाकर उसे आशीर्वाद देते हैं—अम्बपाली घुटनों पर झुकी हाथ जोड़कर कहती है—]

अम्बपाली—भगवान, मैं कृतार्थ हो गई। सारी वैशाली में भगवान को मेरी ही आम्र-वाटिका पसंद आई! आज मेरे सौभाग्य का क्या कहना?

आनन्द—आर्ये, तथागत के धर्ममार्ग में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। उसके लिए सभी प्राणी समान हैं। रहा सौभाग्य! सो कोई किसी को देता नहीं, वह उसकी अपनी चीज होता है—

[भगवान बुद्ध सिर्फ मुस्कुराते रहते हैं—]

अम्बपाली—भिक्षुवर, अम्बपाली सौभाग्य पाती नहीं, लेती भी है। एक सौभाग्य अनायास मिला, तो दूसरा वह स्वयं लेने आई है।

आनन्द—(कुछ सावधान-सा होकर) आपका मतलब ?

अम्बपाली—मैं भगवान को अपने घर भोजन करने को आमंत्रित करने आई हूँ।

आनन्द—भिक्षु के लिए भोजन के आमंत्रण की आवश्यकता नहीं होती, आर्ये ! वह अनिमंत्रित ही जाता और जहाँ जो प्राप्त होता है, वहीं वह भोजन कर लेता है। यही नियम है।

अम्बपाली—(साधिकार) नियम है, होगा। किन्तु अम्बपाली को विश्वास है, वह भगवान से जो वरदान माँगेगी, उसमें उसे 'नाहीं' नहीं मिल सकती।

[आनन्द भगवान की ओर देखते हैं—भगवान मौन रह जाते हैं—लेकिन उस मौन मे स्वीकृति स्पष्ट झलक रही है—अम्बपाली का मस्तक कृतज्ञता से झुक जाता है—हाथ बढ़ाकर बुद्ध का चरण छूती है—चलने के लिए खड़ी होती हुई वह आनन्द से कहती है—]

अम्बपाली—भिक्षुवर, अम्बपाली अपनी जिन्दगी में पहली बार, भगवान के लिए अपने हाथों रसोई बनाने जा रही है। क्या वह आशा कर सकती है; भगवान के साथ आप भी पधारेंगे ?

आनन्द—छाया शरीर को कैसे छोड़ सकती है, आर्ये !

[इधर बगीचे के फाटक पर कोलाहल बढ़ता जाता है—अम्बपाली भगवान का अभिवादन कर चलती है—चलते समय अम्बपाली का ध्यान भिक्षुओं की मुंदी आँखों की ओर जाता है—वह आश्चर्य चकित हो भगवान की ओर देखती है—बुद्ध मुस्कुरा रहे हैं—उसी समय फाटक की ओर से तुमुल जयनाद सुनाई पड़ता है, जो वृज्जिसंघ के महामात्य के आगमन का सूचक है—अम्बपाली फिर अभिवादन कर वहाँ से चल देती है—

वैशाली का एक नागरिक आता और आनन्द के हाथों में वृज्जिसंघ के महामात्य का, आगमन के लिए आज्ञा चाहनेवाला, पुर्जा रख देता है—भगवान बुद्ध का रुख देख स्वयं आनन्द उनकी अगवानी के लिए जाते हैं—

महामात्य चेतक के नेतृत्व में वैशाली के नागरिकों और नागरिकाओं का झुंड आ रहा है—उन्हें देखकर भगवान बुद्ध भिक्षुओं को सम्बोधित करते हैं—]

भगवान बुद्ध—भिक्षुओ, आपमें से जिन भिक्षुओं ने कभी देवताओं की परिषद् नहीं देखी है, वे वृज्जियों की इस परिषद् को

ध्यान से देखें, उनका निरीक्षण करें और इसीसे देवताओं की परिषद् का अनुमान करें!

[उन्हें निकट आया देख भगवान बुद्ध उनके सम्मान में अपने आसन से खड़े हो जाते हैं—महामात्य चेतक और सभी नागरिक तथा नागरिकाएँ भगवान बुद्ध का अभिवादन करते हैं—फिर आनन्द सबको सम्मान के साथ यथायोग्य आसन पर बिठलाते है—महामात्य भगवान बुद्ध से कहते हैं—]

महामात्य चेतक—भगवान, आपके शुभागमन से हमारा वृज्जिसंघ कृत-कृत्य हुआ, वैशाली पवित्र हुई। भगवान ने इस बार अनिमंत्रित ही पधारकर हमारे सौभाग्य को कितना बढ़ा दिया है!

भगवान बुद्ध—पहली बार मैं आपके निमंत्रण पर आया था। लेकिन एक बार यहाँ आने पर ही वैशाली मेरी अपनी नगरी हो चुकी; फिर, निमंत्रण की क्या जरूरत रही महामात्य? हाँ, इस बार मैं ही आपके नागरिकों को निमंत्रण देने आया हूँ!

म० चेतक—भगवान का आमंत्रण! हमें लज्जित न करें भगवान। हम आपके आमंत्रण के नही, आज्ञा के पात्र है! आपकी जो आज्ञा होगी, हम उसे सिर-आँखों पर लेंगे, भगवान!

भगवान बुद्ध—(मुस्कुराते हुए) नहीं-नहीं, आमंत्रण ही। मैं आपलोगों को विजय का आमंत्रण देने आया हूँ।

म० चेतक—(आश्चर्य से) आमंत्रण और विजय का? भगवान, हमारा संघ न किसी की विजय बर्दाश्त कर सकता है और न किसी की स्वतंत्रता पर हाथ उठाता है। विजय तो तुच्छ राजतंत्रवालों की घृणित आकांक्षा है। भगवान हमारी जाँच न करें; हमें धर्म का मार्ग बतायें।

भगवान बुद्ध–(गम्भीर होकर) जिस धर्म में विजय की आकांक्षा न हो, उसे धर्म मत समझो, वृज्जियो! धर्म के मानी ही है–अपने पर विजय प्राप्त करना, फिर संसार पर विजय प्राप्त करना।

म० चेतक—अपने पर विजय तो समझा, किन्तु संसार पर—?

भगवान बुद्ध—हाँ, संसार पर। वह विजय क्या हुई, जो संसार पर न छाई? छोटे मन और संकुचित आकांक्षा को छोड़ो। अपना उद्देश्य महान करो, अपनी दृष्टि ऊँची करो। फिर विजय-अभियान को निकलो—सारा संसार तुम्हारे पैरों पर आप आ झुकेगा!

म० चेतक—यह विजय-अभियान हमारी समझ में नहीं आता, भगवान!

भ० बुद्ध—समझ में नहीं आता? (कुछ देर ध्यानस्थ होकर) अभी शायद वक्त नहीं आया है, महामात्य! अभी तो विजय के मानी है हत्या, हिंसा, रक्तस्नान, अग्निकांड, क्रंदन, आर्तनाद। यह विजय है, या विनाश? मै जिस विजय की कल्पना करता हूँ और जिसके अभियान के लिए सबको आमंत्रित कर रहा हूँ, वही यथार्थ विजय होगी, वृज्जियो! इस विजय-अभियान के सैनिकों के हाथों में फौलाद की तलवार या गैंड़े की खाल की ढाल के बदले एक हाथ में ताल्पत्र पर लिखी कुछ पोथियाँ होंगी और दूसरे में भिक्षा-पात्र होगा। उनके शरीर पर जिरह-बख्तर न होकर (अपने लबादे की ओर इशारा करके) टुकड़े-टुकड़े चीथड़ों से बने, मिट्टी के रंग में रँगे, पीले वस्त्र होंगे और उनके मुँह से दानवी जयनाद नहीं, विश्वकल्याणकारी श्रुति-मधुर पूत मंत्र निकलकर दिगदिगन्त को मुखरित करेंगे। मै कल्पना की आँखों मे देख रहा हूँ, हमारे ये सैनिक हिमाचल के दुर्दम शिखरों को रौंदते, समुद्र की उत्ताल तरंगों को कुचलते, उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, चारों ओर फैल रहे हैं और ये जहाँ जाते है, उनका मुकाबला न होकर स्वागत हो रहा है और वे देश पर देश विजय करने जा रहे है! (कहते-कहते बिल्कुल ध्यान-मग्न हो जाते हैं और उनके चेहरे से आभा निकलने लगती है)

म० चेतक—(दीप्ति के आगे सिर झुकाते) भगवान की कल्पना सत्य होगी, क्या इसमें किसी को कोई सन्देह हो सकता है? और इस विजय में हम वृज्जि भी अपना योग्य हिस्सा लेंगे—हमारी वैशाली अपना अर्घ्य अर्पिन करने में पीछे नही रहेगी, भगवान इस-पर विश्वास रखें।

भगवान बुद्ध—वृज्जिसंघ तथागत को कितना प्रिय है, क्या वह सिर्फ शब्दों में कहा जा सकता है? तथागत के धर्मसंघ के विधान का आधार तो संघराज्य से ही लिया गया है। वृज्जि इस धर्म-विजय में योग्य हिस्सा लेंगे और वैशाली? मैं देख रहा हूँ, जब तथागत के धर्ममार्ग पर कोई विवाद उठ खड़ा होगा, उसके निबटारे का सौभाग्य वैशाली को ही प्राप्त होगा; और जब युगों के थपेड़ों ने इस महान नगरी के धुर्रे उड़ा दिये होंगे, तब भी इसकी मिट्टी के दर्शन के लिए जम्बूद्वीप के कोने-कोने से लोग आवेंगे!

[वैशाली की इस महिमा को भगवान बुद्ध के मुँह से सुनकर सभी वृज्जि पुलकित हो जाते—गद्गद कंठ से महामात्य चेतक कहते हैं—]

म० चेतक—भगवान का आशीर्वाद हमारा सौभाग्य है। हम वृज्जि

भगवान के चिर-अनुगृहीत हैं। हम इस आशीर्वाद के योग्य पात्र सिद्ध हों, यही हमारी आकांक्षा है। (अभिवादन करते है) खैर, अब एक निवेदन है।

भगवान बुद्ध—बोलिये, महामात्य।

म० चेतक—मैं संघ की ओर से भगवान को अतिथि-आवास में चलने और संघ का आतिथ्य स्वीकार करने का निमंत्रण दे रहा हूँ।

भगवान बुद्ध—संघ का निमंत्रण तो हमेशा ही स्वीकृत है। किन्तु क्या संघ अपने एक नागरिका के आमंत्रण का अपमान होने देगा?

म० चेतक—नागरिका? आमंत्रण?

भगवान बुद्ध—अभी-अभी आर्या अम्बपाली आई थी और वह निमंत्रण की स्वीकृति भी ले चुकीं।

म० चेतक—वह निमंत्रण ही देने आई थी?

[इसी समय पीछे आकर बैठे नागरिकों में से एक बोल उठता है—]

एक नागरिक—तभी वह हमलोगों के रथ से अपने रथ की धुरी लड़ाती, बेतहाशा उड़ी जा रही थी! (सब उसकी ओर देखते हैं) मैंने पूछा, इतनी खुश क्यों हो आर्ये? तब वह मुस्कुराकर बोलीं—भगवान मेरे यहाँ जेवनार को जो आ रहे हैं। एक लक्ष मुद्रा लेकर यह सौभाग्य मुझे देने का मैंने निवेदन किया। किन्तु उसने नाही कर दी!

म० चेतक—एक लक्ष मुद्रा!

नागरिक—हाँ, महामात्य! वह हर्षोन्माद में कह बैठी—वैशाली की समस्त सम्पदा की कीमत पर भी यह सौभाग्य मैं नहीं दे सकती! वह तो फूली नहीं समा रही थी।

म० चेतक—(जरा मुस्कुराहट में) ओहो, अम्बा ने हमें हरा दिया।

भगवान बुद्ध—अम्बपाली साधारण नारी नहीं है, महामात्य। वैशाली की कीर्ति में अम्बा की कीर्ति चार चाँद लगा देगी, ऐसा मुझे स्पष्ट भास रहा है।

[सभी नागरिक भगवान के मुँह से अम्बपाली की यह प्रशस्ति सुनकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं—एक दूसरे का मुँह देखने लगते हैं—महामात्य चेतक भगवान बुद्ध का अभिवादन करके सभी नागरिकों के साथ प्रस्थान करते हैं—]

२

[अम्बाली के विलास-भवन का शृंगारकक्ष—दीवारों पर तरह-तरह की रंगीन चित्रावली—ऊपर नीले रंग का चँदोवा टँगा, जिसमें

जहाँ-तहाँ रत्नों के गुच्छे लटक रहे—मानों शरद-आकाश में प्रदीप्त तारे! नीचे जो हरे रंग की कालीन बिछी है, उसमें काढ़े हुए लाल कमल के फूल स्वच्छ जलवाले सरोवर में खिले कमल-पुष्प-से दीख पड़ते हैं—

कमरे की दीवार के बीच में उसी से सटा एक बड़े स्वर्ण-दर्पण के सामने एक छोटा गद्दीदार मंच है—मंच के दोनों ओर श्रृंगार-प्रसाधन के अनेक सामान सोने-चाँदी और हाथी-दाँत के छोटे-छोटे संदूकचों में रखे है—

मंच पर बैठी अम्बपाली दर्पण में अपने को देख रही है—तुरत स्नान करके वह आई है—बाल खुले हैं, जिनपर पानी की बूँदें चमक रही हैं—धानी रंग का परिधान है उसका—कंचुकी अभी पूरी कसी नहीं है—दर्पण में वह अपने इस रूप-यौवन को एकटक देख रही—

थोड़ी देर दर्पण में देखने के बाद वह उठती और कमरे में टहलने लगती है—तस्वीरों को देखती, कभी सिहर उठती, कभी बुदबुदाती, फिर मंच पर आ बैठती है—दर्पण में उसकी रूप-आभा चमक पडती है—

उसकी परिचारिका चयनिका कमरे में आती है—उसकी आहट सुन वह उसकी ओर मुड़ती और पूछती है—]

अम्बपाली—क्या है चुन्नी?

चयनिका—आपने अभी तक प्रसाधन नही किया?

अम्बपाली—न किया, न करूँगी।

चयनिका—हाँ, भगवान बुद्ध के जाने से हम सबका चित्त आज खिन्न है।

अम्बपाली—तेरा चित्त भी?

चयनिका—भला!

अम्बपाली—क्यों खिन्न है, रे?

चयनिका—क्यों न खिन्न हो, आर्ये? इन दिनों कैसा धूमधाम रहा यहाँ!

अम्बपाली—ठीक, हम सब धूमधाम चाहते है—हाँ, धूमधाम! चाहे वह धूमधाम खेल-तमाशे का हो, नृत्य-गीत का हो, या भजन-प्रवचन का।

चयनिका—यह क्या कह रही हे आर्ये? कहाँ भगवान बुद्ध का दिव्य प्रवचन, कहाँ तुच्छ खेल-तमाशे, नृत्य-गीत!!

अम्बपाली—तुझे भगवान के प्रवचन अच्छे लगे?

चयनिका—तो भला !

अम्बपाली—तब तू बूढ़ी हो चली !

चयनिका—(चौंककर) मैं बूढ़ी ?

अम्बपाली—हाँ, हाँ, बूढ़ी। सबसे दयनीय दृश्य वह होता है चयनिके, जब बुढ़ापा जवानी के शरीर में घुस जाता है। ऊपर जवानी के अंग, भीतर बुढ़ापे का खून—मानों, लाल मेव के नीचे सड़ी हुई गुद्दी !

चयनिका—छीः, छीः, यह क्या कहती हैं भद्रे ? मैं बूढ़ी नहीं हूँ।

अम्बपाली—चुप्रीः, जब मन में श्रृंगार की जगह विराग ले ले, खेल-तमाशे के बदले भजन-ध्यान अच्छा लगे, भीड़ से घबराकर जब आदमी एकान्त खोजे, संघर्ष पर जब शान्ति हाबी हो जाय, तब समझ लेना चाहिए, बुढ़ापा आ गया। रंग-बिरंगे पट की जगह जब सादा श्वेत वस्त्र भाये, तब जान लो, आदमी ने कफन की ओर पैर बढ़ा दिये।

चयनिका—कफन की ओर ? मैं अभी मरना नहीं चाहती, आर्ये।

अम्बपाली—मरना नही चाहती है, तो जीना सीख। जीना भी एक कला है, चयनिके ! कुछ लोग जिन्दा भी मरे हुए हैं, कुछ मरकर भी जिन्दा रहेंगे।

चयनिका—कुछ मरकर भी जिन्दा रहेंगे, जैसे भगवान बुद्ध। क्यों भद्रे ?

अम्बपाली—और अम्बपाली भी !

चयनिका—(आश्चर्य से आँखें फाड़ती अम्बपाली की ओर देखती है)

अम्बपाली—(हँसती हुई) हाँ, हाँ, अम्बपाली भी। और दो अमरों में जब युद्ध होता है, वह कैसा भयानक दृश्य होता है, तूने देखा है रे ?

चयनिका—(घबराई हुई) युद्ध ?

अम्बपाली—हाँ, जब अम्बपाली और भगवान बुद्ध में युद्ध हुआ।

चयनिका—आपमें और भगवान में युद्ध ?

अम्बपाली—तू कैसी अंधी है रे, कुछ देखा ही नहीं ? कई दिनों तक यह युद्ध चलता रहा है, कई दिनों तक दोनों ओर से अस्त्र चलते रहे हैं।

चयनिका—आप यह क्या कह रही हैं भद्रे ? भगवान बुद्ध और अस्त्र?

अम्बपाली—अगर भगवान बुद्ध के पास अस्त्र नहीं है, तो वे विजयी कैसे होते हैं ? कैसे भरतखंड में उनका दिग्विजय का डंका

बजता जा रहा है? और क्या बिना अस्त्र के ही अम्बपाली ने वृज्जि संघ पर विजय प्राप्त की है?

चयनिका—ये सब बातें मेरी समझ में नहीं आ रही, आर्ये!

अम्बपाली—अच्छा है; या तो आदमी में इतना ज्ञान हो कि वह सब कुछ अच्छी तरह समझ ले, नहीं तो अज्ञान रहने में ही कल्याण है। ज्ञान-अज्ञान के बीच की चीज बड़ी खतरनाक होती है, चुन्नी!

चयनिका—अच्छा, तो इस युद्ध में हुआ क्या?

अम्बपाली—हुआ यही कि न भगवान मुझे पराजित कर सके, न मैं उन्हें पराजित कर सकी!

चयनिका—तो आप भगावन को पराजित करना चाहती थीं?

अम्बपाली—जरूर। हर आदमी, जिसमें कुछ कस-बल होता है, दूसरे को पराजित करना चाहता है। जिसमें जय की भावना न हो, समझ, उसमें कुछ है ही नही।

चयनिका—देवि, आप विचित्र नारी हैं! (वह काँप उठती है)

अम्बपाली—भगवान ने भी यही कहा था।

चयनिका—भगवान ने?

अम्बपाली—तूने अम्बपाली को क्या समझा है रे! जिसके सामने, रूबरू देखने से उन्होंने अपने शिष्यों को मना किया, उन्हें आँखें मूँदने को लाचार किया, क्या वह अम्बपाली साधारण नारी है? महान ही महान की महत्ता समझता है—अम्बपाली को भगवान ने ही पहचाना! (वह आत्मगौरव में फूल-सी उठती है)

चयनिका—मैं इन बातों को क्या समझूँ? खैर, देर हो रही है, आप प्रसाधान कर लें।

अम्बपाली—प्रसाधन नहीं करूँगी, यह तुझे पहले ही कह दिया है न।

चयनिका—तो प्रसाधन क्यों नहीं करेंगी?

अम्बपाली—क्योंकि इन प्रसाधनों की व्यर्थता तो कम से कम मालूम ही हो गई! जो अस्त्र विजय न दिलाये, वह भाँड़ में जाय। चयनिके, इन कुछ दिनों में प्रसाधन का एक भी साधन मैंने नहीं छोड़ा, लेकिन उफ्... (उसाँसें लेती है)

चयनिका—भद्रे!

अम्बपाली—(अचानक उसकी आवाज भर्रा जाती है, चहरे पर विषाद् की रेखाएँ खिच आती हैं) चयनिके, आह तू मेरी अन्तर्व्यथा का अनुभव कर पाती? अम्बपाली ने सोच रखा था, उसके अस्त्र

अमोघ हैं, वह सब पर विजय प्राप्त कर सकती है। उसने अपने को दीपशीखा समझा था, जिसपर हर पुरुष को पतंग बनकर गिरना ही पड़ेगा। लेकिन, यह क्या हुआ? जब-जब वह उनके नजदीक गई, उसने पाया, उनके ज्योतिमंडल के भीतर पहुँचते ही मानों उसकी शिखा लुप्त हो गई, वह ठंडी पड़ गई, देखते-देखते बरफ बन गई। फिर, उस ज्योति की गरमी से, उसने महसूस किया, बरफ बनी वह पिघल रही है, पानी-पानी हो रही है। चयनिके! जो कोई भी उनके नजदीक जायगा, वह उनमें अपने को, अपने 'आपा' को खोये बिना नही रह सकता!

चयनिका—आप सच कह रही हैं, आर्ये!

अम्बपाली—लेकिन अम्बपाली इतने सस्ते नही हार मान सकती थी। ज्योंही गरमी का असर होते देखती, वह वहाँ से भाग आती।

चयनिका—तो पराजय नहीं, पलायन तो हुआ!

अम्बपाली—हाँ, पलायन हुआ! अम्बपाली को इसके लिए लज्जा भी है। लेकिन यह पलायन उसने पराजय के प्रतिकार के लिए स्वीकार किया है। विजय को ध्यान में रखकर जो मौके पर पीछे हट जाते हैं, उनका पलायन पलायन नहीं है चयनिके! अम्बपाली तबतक चैन नहीं लेगी, जबतक वह भगवान बुद्ध पर विजय नहीं प्राप्त कर लेती।

चयनिका—भगवान बुद्ध पर विजय? जिसे मार नहीं हरा सका।

अम्बपाली—मार नहीं हरा सका, न हरा सकता था। आँधी, तूफान, अजगर, शेर—और, जब इनसे भयभीत विचलित न हों, तो अप्सराएँ, परियाँ—नहीं-नहीं, इन अस्त्रों से मार बुद्ध को नहीं हरा सकता था। ये उतने ही व्यर्थ हैं, जितने अम्बपाली के पिछले प्रसाधन।

चयनिका—तब?

अम्बपाली—तब अम्बपाली को विश्वास है, वह उन अस्त्रों को खोज सकेगी, जिनसे वह भगवान बुद्ध को पराजित कर दे। मैंने भगवान से कह दिया है?

चयनिका—(आश्चर्य की अधिकता में चिल्लाती-सी) कह दिया है?

अम्बपाली—हाँ, कह दिया है! सुनकर वह मुस्कुराये, बोले—राजनर्तकी, वह दिन तथागत के लिए धन्य होगा, जब एक नारी यह समझ ले कि उसने उनपर विजय प्राप्त कर ली। (मुस्कुराती है)

[इसी समय भूतपूर्व राजनर्तकी पुष्पगंधा का प्रवेश होता है—बाल खुले, कंधे से घुटने के नीचे तक एक सादा लबादा लटक रहा है—बुद्ध के उपदेशों का असर उसके चेहरे पर स्पष्ट है—अम्बपाली उसे देखते ही ससम्मान खड़ी हो जाती है—]

पुष्पगंधा—लेकिन इसका अर्थ तूने समझा, अम्बे! मैं तेरी सारी बातें सुन रही थी।

अम्बपाली—देवि, आपका यह वेश?

पुष्पगंधा—जैसा तूने अभी कहा है, कफन की तैयारी में यह सादा वस्त्र! खैर, भगवान को उस वाणी के मानी बता।

अम्बपाली—मानी! मानी तो साफ है, देवि!

पुष्पगंधा—भोली लड़की, एक ओर भृंग और कीट है, दूसरी ओर पतंग और दीपक। भृंग दूसरे कीड़े को अपनी आवाज के सतत गुंजार से भृंग बना लेता है। लेकिन, दीपक सिर्फ जलता रहता है और पतंग आप-से-आप उसपर टूटते और अपने को दीपशिखा का एक अंश बना लेते हैं— मैं उन पतंगों की बात नहीं कहती, जो जलने तो जाते हैं, लेकिन जलने से व्याकुल हो अधजले या मुर्दा होकर बाहर जा गिरते हैं!

अम्बपाली—(पिछले वाक्य के व्यंग्य से तड़प उठती-सी) आप इससे क्या निष्कर्ष निकालना चाहती हैं?

पुष्पगंधा—कीट से भृंग बनना। भृंग भी तो एक कीट है। सिर्फ रूप-परिवर्तन, शरीर-परिवर्तन! और पतंग का ज्योतिशिखा बन जाना!—गुण का परिवर्तन, आत्मा का परिवर्तन! अम्बपाली भी अमर है, लेकिन भृंग की कोटि की—उसकी विजय ज्यादा से ज्यादा उड़ान दे सकती है, गुंजार दे सकती है। किन्तु भगवानबुद्ध अमर हैं, दीपशिखा की कोटि के। जो बुद्ध पर विजय प्राप्त करना चाहेगा, उसे पतंग बनकर जलना होगा, ज्योति में मिल जाना होगा, बुद्ध में मिलकर बुद्धत्व प्राप्त करना होगा—बुद्धत्व, निर्वाण। भगवान न इस विजय के लिए तेरा आह्वान किया है, अम्बे? समझी?

अम्बपाली—मैं उनका धर्म नहीं ग्रहण कर सकती, आर्ये! यह तो मेरी हार होगी। अम्बपाली हार नहीं स्वीकार कर सकती है!

पुष्पगंधा—यह तेरी उम्र का तकाजा है, अम्ब! काश, जिन्दगी की धारा इतनी सीधी, सरल होती! जबतक तू आनन्दग्राम में थी, आज की अपनी जिन्दगी की तूने कल्पना भी की थी? (रुक जाती है; अम्बपाली चुप है) बोल, बोलती क्यों नहीं है, रे।

(आनन्दग्राम के उच्चारण-मात्र से ही अम्बपाली की आँखों में आंसू छलछला आते हैं—)

ओहो, तू तो आज भी बच्चों की तरह रुआसी हो गई। यही जिन्दगी है, अम्बे! आदमी सोचता कुछ है, हो जाता कुछ और है! उस दिन तू अरुण, मधु और मौसी कहकर कितनी चिल्लाई थी; आज वही अरुण......

अम्बपाली—(अरुण का नाम सुन व्याकुल हो, पुष्पगंधा के मुँह पर हाथ ले जाती हुई) भद्रे, उसकी चर्चा न करें—आह! (लम्बी उसाँसें लेती है)।

पुष्पगंधा—हमारी पूरी जिन्दगी ही एक लम्बी आह है, अम्बपाली!

२

[वैशाली का पार्श्वभाग—राजपथ से दूर फैला एक विस्तृत मैदान—मैदान के बीच एक मौलिश्री का सघन पेड़—पेड़ के नीचे चबूतरा बना—चबूतरे पर पेड़ के तने से पीठ टेके अरुणध्वज वंशी बजा रहा रहा है—वह बहुत दुबला हो चला है, काला पड़ गया है—उसके रूखे बेतरतीब बाल उड़ रहे हैं—]

चबूतरे की दूसरी ओर मधूलिका बैठी तागे मे कुछ बुन रही है— उसके सूखे, भर्राये चेहरे पर आँसुओं की सूखी रेखाएँ और दाग स्पष्ट हैं—

गरमी के दिन हैं, शाम का वक्त—एक युवती और दो नागरिक उस ओर से पगडंडी पकड़े गुजरते हैं—वंशी की आवाज से खिंचकर, धीरे-धीरे वे उस पेड़ के निकट पहुँचते हैं—अरुण इन लोगों की ओर से लापरवाह, अपने में तल्लीन, वंशी बजाता जाता है—थोड़ी देर में उसकी वंशी रुक जाती है—]

एक नागरिक—क्यों भई, बन्द क्यों कर दिया? थोड़ा और बजाओ।

(अरुण उन्हें घूर-घूर कर देखता रह जाता है—)

—थोड़ा और बजाओ, भाई!

दूसरा नागरिक—कैसी करुण रागिनी? मैंने ऐसी वंशी आजतक नहीं सुनी थी।

अरुणध्वज—यह आपकी चापलूसी है या दिल्लगी?

पहला नागरिक—वैशाली के नागरिक न चाटुकार होते हैं, न अशिष्ट।

दूसरा नागरिक—हमें अपनी कला-मर्मज्ञता पर नाज है, युवक। सचमुच तुम अपूर्व बजाते हो!

अरुणध्वज—अपूर्व !

दूसरा नागरिक—हाँ, हाँ, अपूर्व ! !

अरुणध्वज—(मुस्कुराता) ओहो, मैं अपूर्व बजाता हूँ ! बजाऊँ ?

दोनो नागरिक—जरूर, जरूर !

अरुणध्वज—लेकिन, किसके लिए बजाऊँ ?

पहला नागरिक—इसके मानी ?

अरुणध्वज—वंशी मर्द बजाता है, औरतें मुनती हैं ! अनन्त काल से यही होता आया है। कृष्ण ने बजाई, गोपियों ने मुनीं। गोपियों ने और गायों ने भी। गायें तो आप हो नही सकते, फिर.... (वह हँस पड़ता है !)

दूसरा नागरिक—यह तो तुम्हारी अजीब बात है, भाई !

अरुणध्वज—सभी सच बातें अजीब लगती हैं, क्यों श्रीमतीजी ? (युवती से वह पूछता है, वह कुछ नहीं बोलती है)

पहला नागरिक—(युवती की ओर लक्ष्य करके) इनके कहने से बजाओगे ?

अरुणध्वज—यह कह नहीं सकतीं।

पहला नागरिक—क्यों ?

अरुणध्वज—(मुस्कुराता हुआ) यही हमेशा से होता आया है। औरतें मुनती हैं, कहतीं नहीं।

दूसरा नागरिक—कहतीं नहीं ?

अरुणध्वज—ऊँहूँ (सिर हिलाता है) यही तो स्त्रित्व है। कहतीं नहीं, लेकिन, मुनती हैं; और कभी वंशी की आवाज पर नाचती रही हों, अब तो सिर्फ रोती हैं—क्यों मधु ?

[अरुण मधूलिका की ओर देखता है—वह बुने जा रही है—यह सुनकर उसकी पपनियों पर ओस की कणिकाएँ चमक उठती हैं—]

पहला नागरिक—यह तुम्हारी कौन होती हैं ?

अरुणध्वज—(युवती की ओर देखते हुए) और, यह आपकी कौन होती हैं ?

युवती—मुझे इन काँटों में मत घसीटिए !

अरुणध्वज—(नागरिक की ओर) समझा, यह नारी बोल रही है—'मुझे काँटों में मत घसीटिए !' 'मुझे काँटों में मत घसीटिए !' (युवती से) लेकिन श्रीमतीजी, इस मधु से पूछिए, क्यों यह मेरे पीछे-पीछे अपने-आपको काँटों में घसीट रही है ? (मधूलिका से) मधु,

तू मुझे छोड़—इस श्रीमती के साथ जा। जा, भाई जा। (नागरिकों से) आप इसे लेते जाइए। यह भी वृज्जिसंघ की नागरिका है।

युवती—यह मेरा अहोभाग्य हो कि मुझे आप लोगों के आतिथ्य करने का सुअवसर मिले।

अरुणध्वज—(युवती से) फिर नारी बोली! आतिथ्य!....... अहोभाग्य। लेकिन, आपलोग तो सिर्फ वंशी सुनना चाहते हैं, अच्छा सुनिए—

दूसरा नागरिक—वैशाली के नागरिकों का द्वार अतिथियों के लिए हमेशा खुला है—आपको हमारा सादर निमंत्रण है।

अरुणध्वज—तो वंशी नहीं सुनिएगा?

दोनों नागरिक— नहीं, नहीं — ऐसी बात नहीं! सुनाइए, सुनाइए।

[अरुण वंशी बजाने लगता है—युवती और दोनों नागरिक मुग्ध होकर वंशी सुनते जाते हैं—

वंशी की कोमल काकली को दबोचती-सी रथ की घर्र-घर्र आवाज सुनाई पड़ती है—सबका ध्यान सुदूर के राजपथ पर जाता है—मीनकेतन-पताका को देख कर एक नागरिक कहता है—"ओहो, देवी अम्बपाली का रथ है"—अम्बपाली का नाम सुनते ही अरुण चौंक-कर उठ खड़ा होता और वंशी पटक उस ओर भागता है—मधूलिका उसके पीछे लगती है—युवती और दोनों नागरिक वहाँ से आश्चर्य-चकित हो चल देते हैं—

थोड़ी देर में अरुण को पकड़े मधूलिका वहाँ आती है—दोनों चबूतरे पर बैठ जाते है—]

मधूलिका—अब वैशाली छोड़ो, घर चलो।

[अरुण कुछ नहीं बोलता—कातर दृष्टि से मधूलिका का मुँह देखता रहता है।]

मधूलिका—मैंने क्या कहा, सुना? घर चलो, वैशाली छोड़ो।

अरुणध्वज—(भर्राई आवाज में, 'वैशाली छोड़ो' 'घर चलो'—हमारा घर कहाँ है, मधु?

मधूलिका—(आँचल से आँसू पोंछती) नहीं-नहीं, अब वैशाली छोड़ना होगा।

अरुणध्वज—'वैशाली छोड़ना होगा!' (कुछ याद करता-सा) क्यों मधु, क्या यह वैशाली है?

मधूलिका—तो क्या यह आनन्दग्राम है?

अरुणध्वज—(उसकी आँखें चमक उठती हैं) आनन्दग्राम! हमारा आनन्दग्राम! वह वेगवती का कलकल, वह आम्रवाटिका में पंछियों का कलरव! हाँ, हाँ, चल, रे मधु, चल। आम की डाल में झूला डालेंगे, खूब झूलेंगे—मैं झूलूँगा, तू झूलेगी, अम्बा झूलेगी। (अपने ही मुँह से अचानक निकले 'अम्बा' शब्द से विक्षिप्त-सा होकर) अम्बा! अम्बा! अम्बा किधर गई, मधु? उफ्! (झटपट खड़ा हो जाता और चारों ओर भौंचक देखता है)

मधूलिका—(रोती हुई) तुम होश नहीं करोगे?

अरुणध्वज—होश! क्या मैं होश में नहीं हूँ, मधु? सच? मैं होश में नहीं हूँ?

मधूलिका—मैं अब जहर खाके रहूँगी!

अरुणध्वज—(आँखें फाड़ता-सा) जहर खा लेगी?

मधूलिका—(रुखाई से) हाँ, जहर खा लूँगी, मर जाऊँगी, झंझट खत्म! मुझसे यह सब नहीं देखा जाता।

अरुणध्वज—(कुछ सँभलता-सा करुण भाव से) जहर खा लेगी, मर जायगी? तू मर जायगी, तो मेरा क्या होगा, मधु? मुझे कौन देखेगा? उफ्। मैं होश में नहीं रहता! तू मत मर मधु! तू जहर मत खा मेरी मधु......

मधूलिका—दूसरा चारा क्या है, तुम कुछ सुनते ही नहीं?

अरुणध्वज—सुनता नहीं हूँ, यह मत कह मधु। देखा नहीं, अभी किस तरह रथ का घर्र-घर्र सुन लिया और सुन लिया उस नागरिक का कहना कि देवी अम्बा......

मधूलिका—और अम्बपाली का नाम सुनते ही दौड़ पड़े पागल की तरह। उन लोगों ने क्या समझा होगा भला?

अरुणध्वज—क्या समझा होगा रे?

मधूलिका—समझा होगा कि हम लोगों का अम्बपाली से कुछ-न-कुछ सरोकार जरूर है। जरूर कोई रहस्य की बात है?

अरुणध्वज—(कातर भाव से) तो क्या अम्बपाली से हमारा कोई सरोकार नहीं है?

मधूलिका—(दृढ़ता से) कभी था, अब नहीं है!

अरुणध्वज—(उत्तेजित होकर) नहीं है! सरोकार नहीं है! अम्बपाली से सरोकार नहीं है! यह तू क्या कह रही है, मधु? अम्बपाली से सरोकार नहीं—उफ्, अम्बे......

[वह पागल-सा चिल्लाता है—मधूलिका उसके मुँह पर हाथ रख देती है—मुँह पर हाथ रखे जाते ही वह चिल्लाना तो बंद कर देता है, लेकिन उसकी आँखों से अजस्र अश्रुपात होने लगता है—मधूलिका की आँखों से भी आँसू झरने लगते हैं—दोनों एक दूसरे का चेहरा गौर से देखते हैं—दोनों सिर झुकाकर चुप हो रहते हैं—फिर मधूलिका कहती है—]

मधूलिका—यह क्या कर रहे हो, अरुण?

अरुणध्वज—यह क्या कर रहा हूँ, मधु! आह! मैं क्या कर दिया करता हूँ मधु? मधु, यह मुझे क्या हो जाता है, रे। ओह! (वह विह्वल-सा हो जाता है—जैसे उसे अपने पर पश्चात्ताप हो रहा हो)

मधूलिका—प्रेम के मानी अमर्यादा नही है अरुण! कृष्ण और राधा को देखो। गोकुल और मथुरा में कितनी दूरी थी? एक योजन से भी कम! क्या राधा वहाँ नहीं जा सकती थी? लेकिन, वह नहीं गई! अपनी ओर से एक दूत भी नहीं भेजा! क्यों?

अरुणध्वज—क्यों?

मधूलिका—क्योंकि वह जानती थी कि कृष्ण की हैसियत बदल गई है। वह जिस स्थान पर बैठे हैं, उस स्थान के उपयुक्त एक गोपी का प्रेम नहीं। राधा ने प्रेम नहीं छोड़ा, तो मर्यादा भी नहीं छोड़ी। रोती रही, तड़पती रही, बिसूर-बिसूर कर जवानी गँवा दी, आँसुओं की बाढ़ में जिन्दगी बहा दी; लेकिन कृष्ण के पास एक पाती नहीं भेजी। हाँ, जब कृष्ण ने उद्धव को भेजा, तो उनका सखा जानकर, जो कुछ कहना था, उसीसे कहा। मर्यादा इसको कहते हैं—प्रेम की महिमा यह है। और तुम ? तुम तो पागल बने बैठे हो! दौड़ कर यहाँ पहुँचे और अब यहाँ ये खुराफातें।

अरुणध्वज—(संजीदा होकर) खुराफातें—हाँ, हाँ मधु, मैं खुराफातें करता रहता हूँ—उफ्!

मधूलिका—तुम्हीं सोचो न, यह खुराफात नहीं तो क्या है? यहाँ आये; अच्छा। जब-तब उसकी झलक देख लिया करते हो, यह भी सही! लेकिन, यों दौड़ पड़ना, चिल्ला उठना—क्या अम्बा या तुम्हारे किसी के लिए शोभन है? अब अम्बा राजनर्तकी है, उसकी एक मर्यादा है। उस मर्यादा की रक्षा करना क्या तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं? तुम्हें कोई ऐसा काम करना क्या मुनासिब है, जिससे उसके पद-गौरव पर धक्का लगे। तुम्हें तो गर्व होना चाहिए कि जिसे तुमने चाहा, आज दुनिया उसपर मर रही है। जिसका सिर तुम्हारे चरणों पर

अवनत था, उसके चरणों पर आज हजार-हजार राजकुमारों के मुकुट लोटते हैं।

अरुणध्वज—ओहो, हजार-हजार राजकुमारों के मुकुट। उस दिन अम्बा ने भी कहा था न—'अरुण, हजार-हजार...... ! ! !' (वह एकदम आँखें मूँद लेता है)

मधूलिका—फिर वही? तुम नहीं समझोगे—मुझे जहर खाना ही पड़ेगा।

अरुणध्वज—(आँखे खोलता, दीनता से) मधु, मधु!

मधूलिका—मधु, मधु क्या? तुम ठीक से रहो। अपने होश पर काबू करो और अपनी सारी वेदना, सारी व्याकुलता को इसी वंशी की तान में घोल दो। वेदना जब संगीत बन जाय, व्यथा जब रागिनी का रूप धारण करे, प्रेम की सार्थकता तब सिद्ध होती है, अरुण!

अरुणध्वज—वेदना जब संगीत बन जाय, व्यथा जब रागिणी का रूप धारण करे, प्रेम की सार्थकता तब सिद्ध होती है!' ठीक, ठीक, मैं न अब चिल्लाऊँगा, न दौड़ूँगा, सिर्फ वंशी बजाऊँगा! सिर्फ वंशी बजाऊँगा! लेकिन, तब तू जहर नहीं खायगी न मधु! (मधूलिका की आँखों से आँसू गिरते देख) तू फिर रो रही है?

मधूलिका—हाँ, रो रही हूँ। (आँसू पोछते) मर्द जब गम में होता है, वंशी बजाता है; नारी जब गम में होती है, आँसू बहाती है।

अरुणध्वज—नारी जब गम में होती है, आँसू बहाती है। मधु, क्या अम्बा भी रोती होगी?

मधूलिका—उसमें जो नारी है वह जरूर रोती होगी, जार-जार आँसू बहाती होगी। किन्तु, वह बेचारी तो राजनर्तकी की मर्यादा में बँधी है न? उसका दिल भले ही रोये, उसका हृदय भले ही हाहाकार करे, किन्तु उसे अपने चेहरे पर हँसी ही रखना है, अपने मुँह से फूल ही बरसाना है। हम-तुम तो, अपनी पीड़ा को रो-गाकर कम कर लेते हैं, लेकिन, सोचो तो उसकी हालत—भीतर रोना, बाहर हँसना!

अरुणध्वज—भीतर रोना, बाहर हँसना? सचमुच यह अजीब बात है मधु!

मधूलिका—अजीब ही नहीं, अलौकिक! इसे सिर्फ अम्बा-ऐसी असाधारण नारियाँ ही निभा सकती हैं! (करुणा भरी मुस्कान के साथ) कैसी अद्‌भुत घटना? एक ही गम के तीन रूप—तुम बजाओ, मैं रोऊँ और अम्बा हँसे!

तीसरा अंक

१

[राजगृह—चारो ओर पर्वतश्रेणियाँ—पर्वतश्रेणियों के हरे-भरे वृक्षों के ऊपर, जरासंध के बनाये विशाल प्रस्तर-प्राचीर के धूसर अंश दीख रहे हैं—इस प्राचीर पर जगह-जगह बुर्जियाँ बनी हैं, जिनपर तीर-कमान लिये सैनिक पहरे दे रहे हैं—

पर्वत-श्रेणियों के बीच बसा राजगृह का विशाल नगर—चौड़ी, सड़कें, ऊँची अट्टालिकाएँ—राजपथ के दोनों ओर तरह-तरह की दूकानें—खरीद-फरोख्त का बाजार गर्म—

नगर के बीच मगध का राजप्रासाद—भव्य, दिव्य, विस्तृत विशाल—प्रासाद की आखिरी मंजिल पर अजातशत्रु का एकान्त कक्ष—जब से वह बौद्ध हुआ है, इसी हिस्से में वह राजकाज के बाद रहता है—यहाँ से गृध्रकूट-शिखर स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जहाँ भगवान बुद्ध राजगृह आने पर ठहरते हैं—

कक्ष के सामने की छत पर वह व्याकुल होकर टहल रहा है—लगभग चालीस साल की उम्र—अंग-अंग की मांसपेशियाँ और पुट्ठे कसे हुए—चेहरे पर चेचक के दाग, जो उसके लाख चेष्टा करने पर भी भयंकरता का आभास दे ही देते हैं—खाली सिर—खुले बाल गर्दन तक लटक रहे हैं—गर्दन से पैर तक पीले रंग का लबादा लटक रहा—

बार-बार उसकी नजर गृध्रकूट की ओर जाती है—फिर गृध्र-कूट से हटते ही उसकी नजर उसके हाथ में रखी, तलहथी के आकार की, हाथीदाँत पर बनी तस्वीर पर जाती है—तस्वीर देखते ही साँस जोर से चलने लगती है--पैर तजी से उठने लगते है—

उसका उपमंत्री, सुनीध, उस समय नीचे से छत पर आता है—यह अजातशत्रु का उपमंत्री ही नहीं, उसका प्रिय सखा भी है—दोनों लँगोटिया यार, आपस में कोई दुराव नहीं—

सुनीध कुछ देर तक अजातशत्रु की यह भावभंगिमा देखता है, फिर बोलता है—]

सुनीध—यह क्या हो रहा है, सम्राट्! एक बार गृध्रकूट को देखना, फिर तलहथी की ओर टकटकी लगाना। किसी ज्योतिषी ने क्या फिर कोई नई भाग्यरेखा बताई है?

अजातशत्रु—(मुड़कर) ओहो, सुनीध! भले आये। नई भाग्य-रेखा नहीं, यह देखो! (तस्वीर दिखाता है)

सुनीध—यह तो अम्बपाली है!

अजातशत्रु—तुमने कैसे पहचाना?

सुनीध—अगर इतनी जानकारी न रखूँ, तो सम्राट् के मंत्रित्व की जिम्मेवारी कैसे निभा सकूँगा। जिसन हमारे पुराने शत्रु लिच्छवियों और विदहों पर जादू डाल रखा है, जिसे पाकर सारा वृज्जिसंघ अपनी वशाली को अलका की प्रतिद्वन्द्विनी मानने लगा है, उसे मैं न पहचानूँ?

अजातशत्रु—अपूर्व सुन्दरी है यह, सुनीध! वृज्जियों को इस पर घमंड करने का पूरा हक है।

सुनीध—गंगा के उस पार की भूमि में ही कुछ ऐसी खूबी मालूम पड़ती है सम्राट्! सीता, उर्मीला, अहल्या, अम्बपाली--एक-से-एक रूप-गुणवती नारियाँ वहाँ पैदा होती आई हैं! स्वयं सम्राट् अपनी मातृश्री की याद करें—सम्राज्ञी देवी चेल्लना का वह दिव्य रूप, अलौकिक सौन्दर्य, अपूर्व तेज......

[अपनी माँ की इस चर्चा से ही अजातशत्रु व्याकुल हो जाता है—यहाँ इसकी चर्चा की आवश्यकता नहीं कि उसने अपने पिता को कैद कर लिया था और उसकी माँ, बेटे की इस क्रूरता पर तड़प-तड़प कर मर गई थी—]

अजातशत्रु—(बीच ही में रोक कर) बस, बस, तुम फिर भूल कर रहे हो, सुनीध! मैंने बार-बार मना किया, माता-पिता की याद मुझे

मत दिलाओ। मेरी कोई माता नहीं, कोई पिता नहीं। मैं आदमी नहीं, उल्का हूँ—आप-से-आप आसमान से गिरा हूँ—खुद जल रहा हूँ, दूसरों को जलाता हूँ, जलाऊँगा! (दीर्घ उच्छ्वास लेकर घूमने लगता है)

सुनीध—(उसके नजदीक जाकर) क्षमा कीजिए, सम्राट्!

अजातशत्रु—सुनीध, मैं तुम्हारी योग्यता का कायल हूँ, तुम्हारे ऐसे सखा पर मुझे नाज है। लेकिन याद रखो, इस गलती का दुह-राना मैं नहीं बर्दास्त कर सकता। समझे?

सुनीध—सम्राट्! (सिर झुकाता है)

अजातशत्रु—(शान्त होकर) अच्छा, तुमसे एक मर्म की बात कहनी है, सुनीध!

सुनीध—कहने की जरूरत नहीं, सम्राट। क्या मगधपति की मुखा-कृति की रेखाएँ ही पुकार-पुकार कर उनके मर्म के अन्तर्द्वन्द्व की घोषणा नहीं कर रहीं? लेकिन—

अजातशत्रु—'लेकिन' क्या?

सुनीध—धृष्टता के लिए फिर क्षमा चाहते हुए निवेदन यह है सम्राट् कि मगधराज के लिए क्या यह शोभनीय है कि उनका दिल ऐसा कच्चा महल हो जो उनके शत्रुओं की एक सुन्दरी के रूप-जादू से घरौंदा-सा भहरा पड़े।

अजातशत्रु—(मुस्कुराते हुए) घरौंदा-सा भहरा पड़े। तुम्हें साव-धान करने का अधिकार है, सुनीध! (अचानक गम्भीर होकर) लेकिन, तुमसे छिपाना क्या है? आजतक मैं अपने को पहचान नही सका। एक अजीब उच्छृंखलता मेरे मन में घर किये हुई है जो रह-रहकर यों उभड़ती है कि...... (अपने दाहिने हाथ से बाँये पंजे को जोर से मरोड़ता है)

सुनीध—बड़ों में मन की यह चंचलता क्या वांछनीय है, सम्राट्?

अजातशत्रु—चंचलता? इतना छोटा-सा नाम इसे मत दो, मेरे प्रिय सखा! जिसके वश होकर मैंने पिता से विद्रोह किया, उन्हें बन्दी बनाया, पितृहंता कहलाया, तड़प-तड़प माताजी मरीं, हजारों नर-नारियों की निर्मम हत्या कराई, और आज भी नहीं कह सकता कि मुझसे कब, कहाँ, क्या हो जायगा—उसे तुम सिर्फ चंचलता नहीं कह सकते।

सुनीध—साधारण पुरुषों में जो चंचलता होती है, महान व्यक्तियों में वही उच्छृंखलता के रूप में प्रकट होती है। दोनों का उद्‌गम एक

है; स्रोत एक है; दोनों एक चीज हैं। जो गंगा मगध में आकर इतनी विशाल हो गई है; हिमालय की तलहटी में छोटी निर्झरिणी ही तो थी?

अजातशत्रु—लेकिन मेरे मन में जो है, उसकी सही कल्पना के लिए तुम्हें ऐसा सोचना पड़ेगा कि मगध की गंगा अपनी पूरी विशालता के साथ हिमालय की तलहटी में प्रखरतम वेग से गिर रही है—विशालता और प्रखरता का वह उद्दाम सम्मिश्रण ही मेरी इस उच्छृंखलता की समता कर सकती है, सुनीध! काश, मेरा हृदय मगध की गंगा की तरह शान्त और समथर हो पाता!

[गृध्रकूट की ओर टकटकी लगाकर देखता, कुछ मन-ही-मन पढ़ता और सिर नवाता है]

सुनीध—ठीक, सम्राट्, ठीक। ऐसे मौकों पर भगवान बुद्ध......

अजातशत्रु—(बीच ही में रोककर) भगवान बुद्ध? सुनीध, सोचा था, भगवान बुद्ध की शरण में आने पर इस उच्छृंखलता पर विजय प्राप्त करूँगा। चेष्टाएं कीं और सफलता भी मिल रही थी। अपने पर बहुत कुछ काबू कर लिया था। लेकिन इस छोटी-सी तस्वीर ने सारा किया-कराया बंटाढार कर दिया!

सुनीध—इसका प्रतीकार सहज है। मन को कड़ा कीजिए। इस तस्वीर को फेंक दीजिए, तोड़ दीजिए, जला दीजिए। आपसे नहीं होता, तो लाइए इधर। (हाथ बढ़ाता है)।

अजातशत्रु—(मुस्कुराता हुआ) कैसा सहज प्रतीकार!—फेंक दीजिए, तोड़ दीजिए, जला दीजिए! सुनीध! इधर एक सप्ताह से इसी उद्देश्य से इस तस्वीर को निकालता हूँ। मन कड़ा करने के लिए राजवस्त्र को त्याग यह पीला लबादा ओढ़ता हूँ। लेकिन ज्योंही तस्वीर हाथ में लेता हूँ, हाथ काँप उठता है। हाथ काँपता है, जोर से मुट्ठी बाँधता हूँ। हृदय डगमगाता है, गृध्रकूट की ओर देखता हूँ और इन सारे प्रयत्नों के बावजूद इस आठवें दिन भी तस्वीर जहाँ-की-तहाँ है और न जाने मेरे पैर कहाँ-से-कहाँ खिसककर चले गये।

सुनीध—यह कोई अच्छी बात नहीं है, सम्राट्!

अजातशत्रु—अच्छी बात नहीं है, यह क्या समझाओगे तो समझूँगा। लेकिन अब तो मगध की गंगा गोमुखी का बाँध तोड़कर निकल चुकी। अब कोई ऐरावत उसे रोक नहीं सकता, कोई जह्नु उसे सोख नही सकता। जिस तरह अनेक गलतियाँ हो चुकीं, एक गलती और करूँगा।

सुनीध—लेकिन, सोचिए सम्राट्, जो घटनाएँ दुर्भाग्यवश घट चुकीं, उसके बाद कोई वृज्जिनारी अब मगध की पटरानी बनना भी स्वीकार कर सकती है?

अजातशत्रु—नारियाँ स्वयं आती नहीं हैं, लाई जाती हैं।

सुनीध—जिसका नतीजा हम लंका में देख चुके हैं। वृज्जियों में ही तो विदेह भी हैं। उनकी नारियों में एक अलौकिकता है, सम्राट! उनपर जबरदस्ती किया जाना कभी सुफल नहीं लाता। क्या बन्दरों की सेना बन सकती है? क्या समुद्र बाँधा जा सकता है? क्या सोने का महल लाह के ऐसा धधक सकता है? लेकिन एक अलौकिक नारी के चलते ये सब अलौकिक बातें होकर रहीं।

अजातशत्रु—लेकिन अजातशत्रु भी एक अलौकिक पुरुष है, सुनीध!

सुनीध—क्या यह दर्प की वाणी नहीं है, सम्राट्?

अजातशत्रु—(गुस्से से उसका चेहरा लाल हो जाता है—सिर हिलने लगता है) सुनीध, सुनीध तुम बहक जाया करते हो। तुम मेरे सखा हो, किन्तु तुम्हें याद रहना चाहिए कि सम्राट् हमेशा ही सम्राट् है। और मगध-सम्राट् की यह आज्ञा अचल-अटल है कि वैशाली पर हमें विजय-प्राप्ति करनी ही है—अम्बपाली को राजगृह लाना ही है।

सुनीध—सम्राट् की आज्ञा हमारे सिर पर है (वह सिर झुकाकर अपनी भक्ति प्रगट करता है) वैशाली पर तो हमें विजय प्राप्त करनी ही है। वृज्जियों ने इधर अजीब धमाचौकड़ी मचा रखी है। अपने संघबल पर उन्हें इतना घमंड हो गया है कि उन्होंने मस्तिष्क का संतुलन तक खो दिया है। गंगा पर चलनेवाले हमारे बजड़ों से वे कर वसूलते हैं, उन्हें लूटते हैं। गंगा-पार कर वे हमारे गाँवों और छावनियों पर छापा मारते हैं। उन्हें रोकने के लिए हमने जो पाटलिग्राम बसाया है, उसे ध्वस्त-पस्त किये रहते हैं। वैशाली पर विजय प्राप्त करना तो अनिवार्य है, सम्राट्!

अजातशत्रु—मैंने आज महामंत्री वस्सकार को भगवान बुद्ध के पास इसी काम में सलाह लेने को भेजा है—मैं उनकी प्रतीक्षा में ही हूँ। (गृध्रकूट की ओर नजर उठाता है)

सुनीध—महामंत्री तो इसके लिए कब से न तैयारियाँ कर रहे हैं। गंगा किनारे की छावनियों को दुरुस्त किया है, युद्ध-पोतों का पुनःसंगठन किया है, नये अस्त्र-शस्त्र बनवाये हैं, सेना का भी नवीन

संगठन किया है, यहाँ तक कि राजधानी के परकोटे की मरम्मत तक को नहीं छोड़ा है। साम्राज्य का सौभाग्य है कि उसे बस्सकार-से महा-मंत्री मिले हैं।

अजातशत्रु—तुम्हारा कहना बिल्कुल सही है।

[उसी समय मगध का महामंत्री वस्सकार पहुँचता है—एकदम बूढ़ा—सभी बाल सन-से सुफेद—चेहरे पर झुर्रियों के साथ कूटनीतिज्ञता की छाप—आगे के दो दाँत टूटे, जिससे आवाज में विकृति—बुढ़ापे के कारण उसका सिर रह-रह कर हिल उठता है—अजातशत्रु उससे पूछता है—]

अजातशत्रु—क्यों महामंत्रीजी, भगवान ने क्या कहा?

वस्सकार—मैंने आपसे कहा था न, भगवान बुद्ध को वृज्जियों से स्वाभाविक अनुराग है। और, मैं कहूँ, उनके लिए उनमें पक्षपात भी है!

अजातशत्रु—महामंत्री!

वस्सकार—मगध का महामंत्री अपनी जिम्मेवारी समझते हुए बोलता है, सम्राट्! ज्योंही मैं उनके पास गया और उनसे सम्राट् का संदेश कहा, वह आनन्द से पूछने लगे—

"क्यों आनन्द, क्या वृज्जियों की परिषद् बार-बार बैठती और उसमें भरपूर उपस्थिति होती है?

"क्या वृज्जि इकट्ठे जुटते, इकट्ठे उठते और इकट्ठे अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं?

"क्या वृज्जि बाकायदा कानून बनाये बिना कोई आज्ञा जारी नहीं करते और न बने हुए नियमों का उच्छेद करते हैं?

"क्या वृज्जि वृद्ध-बुजुर्गों का सम्मान करते और उनकी सुनने लायक बातों को सुनते और मानते हैं?

"क्या वृज्जि अपनी कुमारियों और नारियों पर जोर-जबरदस्ती नहीं करते और उनकी कदर और इज्जत करते हैं?

"क्या वृज्जि अपने चैत्यों, मंदिरों और समाधियों की रक्षा करते हैं?

"क्या वृज्जि अर्हतों और तपस्वियों का आदर-सत्कार करते हैं?

और, इनका उत्तर आनन्द से 'हाँ' में सुनकर वह तमक कर बोल उठते, तो आनन्द, वृज्जियों की उन्नति ही होगी, उन्हें कोई पराजित नहीं कर सकेगा!"

अजातशत्रु—(उसकी भवों पर बल पड़ जाते हैं, वह तमतमा कर बोलता है) ऐसा? तो महामंत्री, आपने भगवान से क्यों नहीं कह

दिया कि ये वृज्जि चाहे जितने समृद्ध हों, चाहे इनका जितना प्रभाव हो, मैं इन्हें उखाड़ डालूँगा, नष्ट कर दूँगा! जब मगध की गंगा गोमुखी से चल चुकी, तो बीच में कोई भी शक्ति उसे रोक नही सकती! (क्रोध में वह घूमने लगता है)

वस्सकार—मगध के सम्राट् के अनुकूल ही यह वचन है। लेकिन, क्या मगध के महामंत्री का काम साधु-तपस्वियों से शास्त्रार्थ करना ही रह गया है? भगवान को कहने दीजिए, मैंने वैशाली-विजय की सारी तैयारियाँ कर रखी हैं, और उनके कथन से जिस सूत्र का पता चला उसका भी निराकरण कर लेना है।

अजातशत्रु—कौन-सा सूत्र वह है?

वस्सकार—भगवान बुद्ध का कहने का तात्पर्य सिर्फ यह था कि वृज्जियों में कुछ ऐसी एकता और निष्ठा है कि वे जीते नहीं जा सकते। अब मैं उस एकता को तोड़ूँगा, निष्ठा को भ्रष्ट करूँगा। मैंने उसके लिए राह भी सोच ली है!

अजातशत्रु—कौन-सी राह है वह, महामंत्रीजी!

वस्सकार—बहुत ही सीधी-सी राह। मैं कल दरबार में वृज्जियों का प्रसंग उठाऊँगा और उनकी बड़ी तारीफ करूँगा। आप इसके लिए मुझे खूब फटकार बतायेंगे। मैं इसके बावजूद, दो दिन बाद, वृज्जियों के पास गुप्तरूप से प्रेमोपहार भेजूँगा। आप उस दूत को पकड़वा लेंगे। पकड़कर मुझे राजद्रोही घोषित कीजिए, अपमानित कीजिए, मेरा सिर गंजा कराइए और मुझे मगध से निष्कासन की सजा दीजिए—बस, आपको सिर्फ इतना ही करना है, बाकी मैं कर लूँगा!

अजातशत्रु—(चकित होकर) सिर गंजा कराना! महामंत्री, नहीं नहीं, मुझसे यह नहीं होगा।

वस्सकार—(हँसकर) गंजे सिर का प्रभाव देश पर कितना बढ़ रहा है, शायद सम्राट् ने इसी पर ध्यान नहीं दिया है! और मुझे इस काम में जल्दी करनी है। भगवान बुद्ध के वैशाली जाने के पहले ही मुझे अपना जादू जगाना है—कौन जाने, अपनी स्वाभाविक अनुरक्ति के कारण भगवान उन्हें हमारी मंशा की खबर न कर दें?

अजातशत्रु—महामंत्रीजी, यह क्या कह रहे हैं आप?

वस्सकार—सम्राट्, भावुकता और राजधर्म साथ-साथ नहीं चला करते।

२

[वैशाली की अभिषेक-मंगल-पुष्करिणी—इसके पवित्र जल से वृज्जियों का राज्याभिषेक होता, अतः दूसरे के लिए इसके स्पर्श तक की सख्त

मुमानियत—चारों ओर सख्त पहरे पड़ रहे—इसके जल में विहार करनेवाले पँछी बाहर न जायँ इसके लिए पानी के ऊपर लोहे का जल में जाल लगा——

इस पुष्करिणी की शोभा का क्या कहना? सरोवर में श्वेत, नील, लाल कमल खिले हुए—कमलों पर भौंरों का गुंजार—जहाँ-तहाँ जल-पँछी किलोल कर रहे —जहाँ-तहाँ भावुक युवक-युवतियों का नौका-विहार—

सांध्य-भ्रमण के लिए आये वैशाली के नागरिक और नागरिकों का जमघट—कोई टहल रहा है, कोई पक्के घाट के संगमरमर के चबूतरे पर बैठा है, कोई बादलों के साथ डूबते हुए सूरज की आँख-मिचौनी देख रहा है, तो कोई कमलों पर उनकी किरणों का खिल-वाड़ निरख रहा है—कहीं-कहीं गपशप भी चल रही है—

एक चबूतरे पर महामंत्री वस्सकार अकेला बैठा है—भिक्षुकों-सा है वेश उसका—सिर के बाल मुँड़े, पीला लबादा तन पर, हाथ में एक सुमरनी—उसका ध्यान न सरोवर पर है, न अस्ताचलगामी सूरज पर, न बादलों पर—वह टहलनेवाले नागरिकों में से एक-एक को घूरता है—जैसे उनके चेहरों को पढ़ने की कोशिश कर रहा है—बीच बीच में सुमरनी तेजी से घुमाता वह बुदबुदा उठता है—

एक नागरिक को अकेला, सिर नीचा किए, टहलता देखकर वह उसके निकट जाता है—उस नागरिक की कमर में लम्बी तलवार लटक रही है, पीठ पर ढाल है—उसके चेहरे से अभिमान और औद्धत्य टपक पड़ता है—]

वस्सकार—क्यों, आर्य अश्वसेन, आप उदास क्यों दीखते हैं?

अश्वसेन—ओहो, मगध के महामंत्री, नमस्ते।

वस्सकार—नमस्ते आर्य! आपके चेहरे पर यह उदासी क्यों है?

अश्वसेन—(आश्चर्य से) उदासी? उदासी कहाँ है? यों ही कुछ सोच रहा था। कहिए, आपको वैशाली कैसी पसन्द आ रही है?

वस्सकार—(आनन्द में) वैशाली? त्रिभुवन-सुन्दरी नगरी! क्या कहना है! मैं इस नगरी का पुराना प्रेमी हूँ और उसी प्रेम का फल....! (बनावटी उदासी लाकर उसाँसे लेता है)

अश्वसेन—(उत्तेजित स्वर में) हाँ, हाँ, उस नर-पिशाच अजातशत्रु ने इस वैशाली-प्रेम के कारण आप के साथ जो क्रूर व्यवहार किया है, क्या हम वृज्जि उसे भूल सकते हैं? हम इसका बदला एक दिन उससे चुकाकर रहेंगे।

वस्सकार—आह! वह दिन मुझे देखने को मिलता!

अश्वसेन—मिलेगा, जरूर मिलेगा। आपका अपमान वृज्जिसंघ के हर नागरिक के दिल में काँटे-सा चुभ रहा है। आपको देखकर किस नागरिक के हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला नहीं धधक उठती? किसकी आँख से खून के आँसू नहीं टपकने लगते? उफ्, उसने आपके सिर के बाल तक मुँड़वा डाले! नरपिशाच!!

वस्सकार—नरपिशाच तो है ही। खैर, उसने बाल मुँड़वा दिये, अच्छा ही किया। मैं भगवान बुद्ध की शरण के समीप तो हो गया। (अपने गंजे सिर पर हाथ फेरता है) अब सिर्फ भिक्षापात्र की कमी है! (ऊपर देखकर कुछ मन्त्र बुदबुदाता है)

अश्वसेन—भिक्षापात्र नहीं शासन-सूत्र! जबतक आपके हाथ में मगध का शासन-सूत्र नहीं आ जाता, हम चैन नहीं लेंगे। खैर, मजे से आप हैं न? कोई कष्ट तो नहीं?

वस्सकार—वैशाली में कष्ट? (कुछ रुककर) लेकिन मैं अब सोचने लगा हूँ, वैशाली आकर मैंने अच्छा नहीं किया।

अश्वसेन—ऐसा क्यों मंत्रिवर?

वस्सकार—जिसकी पूजा आदमी करे, उससे दूर रहना ही श्रेयस्कर है। दूरत्व हमारी श्रद्धा को मजबूत करता है, निकटता तो उचाट-सी ला देती है। अतिपरिचियादवज्ञा......

अश्वसेन—तो वैशाली से आपका जी उचट रहा है?

वस्सकार—उचाट ही कहिए। यहाँ कुछ चीजें ऐसी देख रहा हूँ, जिससे सोचता हूँ, यहाँ न आना ही ठीक होता। आदमी जिसके साथ हृदय की गहराई से प्रेम करता है, उसमें तनिक-सी भी त्रुटि देखना पसंद नहीं करता।

अश्वसेन—आपने यहाँ कोई त्रुटि देखी है क्या?

वस्सकार—जाने दीजिए इन बातों को। लकड़ी पर रंदा देने से वह चिकनी होती है, बात पर रंदा देने से वह रुखड़ी ही होती है। आह! कहाँ भगवान बुद्ध के मुँह से वह तारीफ और कहाँ वैशाली के नागरिकों का यह...... (बड़ी लम्बी साँस लेता है और गरदन जोरों से हिलाने लगता है)

अश्वसेन—यह, यह क्या, बोलिए!

वस्सकार—मत कहलाइए मुझसे आर्य; जाने दीजिए। आइए, हम-आप भी बैठकर सन्ध्या का यह मनोरम दृश्य देखें, जिस तरह

सब देख रहे हैं। जिन्दगी में बहुत चीजों के भूल जाने में ही कल्याण है, आर्य !

अश्वसेन—नहीं, नहीं आपको कहना पड़ेगा।

वस्सकार—(सिर ऊपर उठाकर) भगवान बुद्ध, तुम्हारी शतशः प्रशंसित नगरी की यह दशा ! (अश्वसेन से) कहूँ, आप नाराज तो नहीं होंगे ?

अश्वसेन—आप पर नाराज ? यह क्या बोल रहे हैं, मंत्रिवर !

वस्सकार—मुझपर ! मेरी तो आप गर्दन भी काट लें; तो मैं सौभाग्य समझूँ। वैशाली के एक नागरिक के हाथ से मृत्यु पाने से बढ़कर सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है ? आर्य ?

अश्वसेन—तो क्या बात है ?

वस्सकार—अच्छा सुनिए, लेकिन, फिर प्रार्थना है, नाराज मत होइएगा। इसी शर्त पर मैं कह रहा हूँ। (उँगली से दिखाते हुए) आप उन्हें पहचानते हैं ?

अश्वसेन—कौन वह ? वह तो वसुबंधु है।

वस्सकार—आपसे उनका कोई झगड़ा है ?

अश्वसेन—झगड़ा ? वैशाली के नागरिक आपस में नहीं झगड़ते।

वस्सकार—कोई खानदानी दुश्मनी ?

अश्वसेन—आप यह क्या कह रहे हैं ?

वस्सकार—इसलिए न कहा कि जाने दीजिए, मुझसे मत पूछिए। नही नहीं, मुझे वैशाली छोड़ देना चाहिए और किसी अरण्य में जाकर जप-तप करना चाहिए। भगवान बुद्ध ! जल्द मुझे अपनी शरण में ले लो। (झट ध्यानमग्न होने का बहाना करता है, फिर किसी अलक्षित शक्ति को नमस्कार करता-सा दीखता है)

अश्वसेन—महामंत्री, आपको यह रहस्योद्घाटन करना ही होगा।

वस्सकार—नहीं नहीं, मैं परदेश में हूँ। मुझे इन झंझटों में नहीं पड़ना चाहिए। मैं आपसे कहूँ, आप उनसे पूछें, वह फिर मुझसे पूछें। यों बातें बढ़ें, एक विषाक्त वृत्त तैयार हो। अब दुनियाँ की झंझटों में मुझे नहीं पड़ना है—जाने दीजिए इन बातों को।

अश्वसेन—इसमें पूछताछ का कहाँ सवाल उठता है, महामंत्री? वैशाली के नागरिक अपने उन महान अतिथि की बात आँखें मूँदकर मानेंगे, जो उन्हीं के लिए इतनी पीड़ा पा रहे हैं। आप कहिए।

वस्सकार—तो आप धीरज से सुनें, गुस्सा मत हों। न जाने, वसुबंधुजी को आपसे कौन-सी खान्दानी दुश्मनी या व्यक्तिगत अनबन है!

अश्वसेन—(बीच ही में बात काटकर) मैंने आपको पहले ही कह दिया कि मुझसे उनकी किसी तरह की दुश्मनी या अनबन नही है।

वस्सकार—तो क्या उनका कहना ठीक है?

अश्वसेन—क्या?

वस्सकार—भगवान बुद्ध! तुम्ही को साक्षी रखता हूँ, मेरी जिह्वा ठीक वे ही कहें, जिन्हें कानों से सुना है। काश ये बातें झूठी होतीं!

अश्वसेन—(झुँझलाकर) यह क्या पहेली बुझा रहे हैं, महामंत्री? मै बच्चा नहीं हूँ।

वस्सकार—मैं कहता हूँ, एक बच्चा भी इसे बर्दास्त नही कर सकता। वह भी इसे सुनकर कहनेवालों की आँखें झपट्टामारकर निकाल लेना चाहेगा। आदमी अपनी बहादुरी पर लानत शायद बर्दाश्त भी कर ले, परन्तु अपने खान्दान पर....(दाँत से जीभ काटता है)।

अश्वसेन—बहादुरी पर लानत! खान्दान पर....ऐं (उसकी भवों पर तेवर चढ़ जाते है)

वस्सकार—मैंने पहले कहा था, क्रोध मत कीजिए, पहले धैर्य से सुनिए। वीर सुनने में धीरज रखते हैं, जल्दी तो बदला लेने में की जाती है!

अश्वसेन—(गुस्से से) क्या वसुबंधु ने मुझे गाली दी है?

वस्सकार—आर्य अश्वसेन, मैं तो इसे गाली से भी बुरी चीज समझता हूँ। किसी को कायर कह देना, फिर उसकी कायरता को खान्दानी बताना—किसी के मरे हुए बाप-दादों की पगड़ी उछालना, राम, राम!

अश्वसेन—(उत्तेजना में तलवार खींच लेता है) बोलिए, मंत्रिवर, उसने क्या कहा? आज यह तलवार उसके सिर पर नाचेगी।

वस्सकार—आह! इसी तलवार पर तो बात चली। कल उनसे मेरी बातें हो रही थीं। मैंने आपकी चर्चा की—कहा, तीर तो सभी चला सकते हैं, लेकिन तलवार के हाथ में अश्वसेनजी का मुकाबला कोई नहीं कर सकता।

अश्वसेन—(फख्र से) आपने सही कहा, महामंत्री। वृज्जिसंघ में मेरी तलवार का मुकाबला कोई नहीं कर सकता।

वस्सकार—मैंने खुद देखा है—विजयोत्सव के दिन आपके हाथ के जो करतब देखे, क्या उन्हें कभी भूल सकता हूँ। लेकिन, देखिए,

वसुबंधुजी की हिमाकत। आपकी तारीफ मेरे मुँह से सुनते ही चिल्ला पड़े......

अश्वसेन—जल्दी कहिए, वह क्या बोला—(तलवार हिलाता है)

वस्सकार—(ऊपर देखते) भगवान बुद्ध, मुझसे सच ही कहलाना। (अश्वसेन से) वह चिल्लाकर बोले, अश्वसेन तलवार क्या चलायगा, वह तो कायर है! वही क्या, उसकी सात पुश्त... (रुककर) माफ कीजिए, कहते मुझे शर्म आती है, गुस्से से मरा बूढा शरीर भी काँप उठता है। (शरीर कँपाने लगता है)

अश्वसेन—काफी है महामंत्री, अब वह देखे कि मैं बहादुर हूँ या कायर; और स्वर्ग में जाकर मेरे बाप-दादों से भी आजमाइश कर ले!

[अश्वसेन तलवार घुमाते उस ओर दौड़ने जा रहा है कि वह उसे रोकने की बनावटी चेष्टा में कहता है—]

वस्सकार—सुनिए, सुनिए!

अश्वसेन—नहीं नही, मै सुन नहीं सकता! उसने मेरे खान्दान......

वस्सकार—आपका सोचना ठीक है, कोई भी योग्य संतान अपने खान्दान का अपमान बर्दाश्त नहीं कर सकती! जो बर्दाश्त करे, वह इन्सान नहीं है। लेकिन सुनिए...

अश्वसेन—नहीं, नही—

[वह वसुबंधु की ओर तेजी से दौड़ पड़ता है—वसुबंधु प्राकृतिक दृश्यों के देखने में तल्लीन है—उसके पास जाते ही वह बोल उठता है—'उठो, सँभालो, तलवार निकालो'—अकारण अपनी मानसिक आनन्द प्राप्ति में बाधा पड़ते देख वसुबंधु भी कुछ क्रोध में आ जाता है, कहता है—

वसुबंधु—यह तुम क्या बक रहे हो?

अश्वसेन—बक रहा हूँ? उलटे कहते हो, बक रहा हूँ! (गरजकर) सँभलो, तलवार निकालो! (तलवार उसके सिर पर उठाता है)

वसुबंधु—क्या पागल हो गये हो?

अश्वसेन—मैं पागल! पागल! हूँ, तो लो—सँभलो, एक...-दो...तीन...

[वह तलवार चलाता है—वसुबंधु हाथ उठाकर तलवार रोकना चाहता है—तलवार लगते ही उसका हाथ कटकर दो टूक हो जाता है—हाथ को काट उसकी खोपड़ी पर तलवार गिरती है। एक चीख के साथ वह जमीन पर गिर जाता है—खून का फव्वारा चलने लगता है—

उसके गिरते ही, वस्सकार, जो अलग खड़ा तमाशा देख रहा था, वहाँ से गायब हो जाता है—चीख सुन नागरिक उधर दौड़ते हैं और अश्वसेन को पकड़ लेते हैं—थोड़ी देर हलचल रहती है—फिर घायल वसुबंधु और अपराधी अश्वसेन को लेकर लोग संघागार की ओर रवाना हो जाते हैं—सरोवर के घाटों पर सन्नाटा छा जाता है—

झुटपुटे के अन्धकार में अम्बपाली दिखाई पड़ती है—उसके परिधान में सादगी है—जूड़े पर, हाथों में कुछ फूल के गहने—गले में फूल की हल्की माला—उसके पीछे चयनिका है—अम्बपाली चबूतरे पर बैठकर, उदास मुद्रा में कहती—]

अम्बपाली—वैशाली के अच्छे दिन नहीं दीखते, चयनिके! आज जो कुछ हुआ, वह हमारे लिए खतरे की घंटी है।

चयनिका—हाँ, भद्रे, वैशाली में ऐसा दृश्य कभी नही देखा गया।

अम्बपाली—मुझे तो इस घटना के पीछे किसी के अदृश्य हाथ दिखाई पड़ते हैं। वैशाली के नागरिक अपनी तलवार अपने भाइयों के सिर पर चलायें, यह महान आश्चर्य की बात है!

[उसी समय वृज्जिसंघ के महामात्य चेतक दिखाई पड़ते हैं—गोरे रंग के, लम्बे वृद्ध पुरुष—सुफेद दाढ़ी, सिर से सुफेद बालों की लटें कंधे तक लटक रहीं—कंधे से घुटने तक एक सुफेद लबादा—चिन्ता से ओतप्रोत है उनका चेहरा—वह अम्बपाली की बातें सुन रहे थे—प्रकट होकर कहते हैं—

महा० चेतक—आपका कहना बिल्कुल सही है, आर्ये!

अम्बपाली—(ससम्भ्रम खड़ी होती हुई) महामात्य, आज यह क्या हो गया?

महा० चेतक—यह आज नहीं हुआ है, इसके लिए कुछ दिनों से क्षेत्र तैयार किया जा रहा था, देवि।

अम्बपाली—कुछ दिनों से?

महा० चेतक—हाँ, देवि! वैशाली के जीवन-सरोवर में एक गंदी मछली घुस आई है, हमारे नागरिकों के सम्मिलित परिवार की टोकरी में एक सड़ी नारंगी आ गई है—पानी जहरीला बन रहा है, एक-एक नारंगी सड़ती जा रही है!

अम्बपाली—उस मछली को निकाल डालिए, उस नारंगी को फेंक दीजिए—आप हमारे महामात्य हैं; आपको सब अधिकार है।

महा० चेतक—यही गणतंत्र की दुर्बलता है। आप जानते हुए भी तब तक कुछ नहीं कर सकते, जबतक बहुमत को आप पक्ष में न

कर लीजिए। और जो बुरे हैं, वे भले से कहीं ज्यादा काइयाँ होते हैं न।

अम्बपाली—यह अजीब बात।

महा०चेतक—हाँ, अजीब बात होने पर भी यथार्थ बात यही है। (कुछ ठहरकर, बड़ी ही गम्भीरता से) मेरा माथा तो उसी दिन ठनका, जिस दिन सुना कि मगध के महामंत्री वैशाली का पक्ष लेने के लिए निकाल दिये गये हैं और वह वैशाली आ रहे हैं। मंत्री का पद कोई दरबान का पद नहीं है कि आप जिसे आज रखें, कल निकाल दे सकें। योग्यता की सर्वश्रेष्ठता और भक्ति की पराकाष्ठा ही किसी को उस महान पद पर पहुँचा सकती है और वहाँ पहुँचकर आदमी राज्य की इतनी गुप्त बातें जान जाता है कि यदि ऐसा मौका आ गया तो उस पद मे हटाने के बाद उसे दुश्मन के घर में जाने का मौका तो दिया ही नहीं जा सकता है। दंडित मंत्री का स्थान फाँसी का तख्ता होगा या कैदखाने की कालकोठरी—देशनिष्का-सन की गलती तो की ही नहीं जा सकती!

अम्बपाली—(आश्चर्य में) तो आपको शंका है, मगध के महा-मंत्री का इसमें हाथ है?

महा०चेतक—शंका नहीं, निश्चय है। जब वह वैशाली आये, हमारे नागरिकों के आनन्द की सीमा न रही। परमहितैषी, हार्दिक मित्र मानकर उनका धूमधाम मे स्वागत हुआ। लोगों में आनन्द का ऐसा ज्वार आया था कि वे बुद्धि की बात सुन नहीं सकते थे। मैंने इसमें खतरा देखा, उनके पीछे गुप्तचर रखा। गुप्तचर ने जो खबरें दी हैं, उनका एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी आज हमें मिल गया।

अम्बपाली—(आश्चर्य में आँखें फाड़ती) अरे!

महा० चेतक—हाँ, बड़ी चालाकी से उन्होंने जाल बिछाया है। मान लीजिए, दो नागरिक बड़े दोस्त है, आपस में घुल-घुलकर बातें कर रहे हैं। उसी समय उनमें से एक को वह अलग बुलायेंग, यह कहकर कि एक जरूरी बात दरियाफ्त करनी है। और उसे बुलाकर महज मामूली बात पूछेंगे—"क्योंजी, लोग खेत जोतते हैं?' 'आज आपने दाल कौन-सी खाई?' 'आप कितने भाई हैं?' आदि। लेकिन ये बातें भी इस संजीदगी से करेंगे कि उसका साथी सोचेगा, महामंत्री से कुछ गहरी, महत्त्वपूर्ण बातें हो रही हैं। उसके मन में सन्देह पैदा होगा। और जब उसका साथी पहुँच कर यह कहेगा कि मगध

के महामंत्री न सिर्फ ये मामूली बातें की हैं, उसका सन्देह पक्का हो जायगा—दोनों का दिल टूटेगा, मैत्री वैर में परिणत हो जायगी!

अम्बपाली—(काँपती हुई) चालाकी की हद है!

महा० चेतक—यही नहीं, धनी-गरीब, ऊँच-नीच, वीर-कायर आदि तरह-तरह के भेदभाव के सवाल उठाकर वह हमारी एकता को छिन्न-भिन्न करने पर तुले हुए है। इस हत्याकाण्ड के ठीक पहले आर्य अश्वसेन से उनकी बातें हो रही थीं—जरूर, उन्हीं के उकसाने से यह कांड हुआ है!

अम्बपाली—और, देखने में कितने साधु लगते हैं, हमेशा बुद्ध भगवान का नाम लेते है।

महा० चेतक—ऐसे लोगों का साधुपन उनकी ढाल होती है, और भगवान का नाम उनकी तलवार! सीधा शिकार सिर्फ शेर करता है, और सभी जानवर, जिनका आदमी सिरताज है, हमेशा आड़ लेकर निशाना लेते हैं, भद्रे!

अम्बपाली—महामात्य, संघ का भार आपके सिर है। ऐसे आदमियों से संघ को बचाना आपका कर्त्तव्य है। आप इन्हें गिरफ्तार क्यों नहीं करा लेते?

महा० चेतक—अगर आज मैं इन्हें गिरफ्तार कराऊँ, वृज्जिसंघ में हलचल मच जायगी। यह शहीद बन जायँगे। इनका पक्ष और विपक्ष लेकर आन्दोलन खड़ा होगा। और इसके बाद अजातशत्रु जरूर हमारे देश पर चढ़ दौड़ेगा। मुझे जो खबर मिली है, वह इसके लिए तैयारियाँ भी कर रहा है।

अम्बपाली—(आश्चर्य में) क्या वह वैशाली पर चढ़ाई करनेवाला है।

महा० चेतक—मुझे खबर तो यहाँ तक मिली है कि उसने इसके लिए पाटलिग्राम के निकट सेनाएँ इकठ्ठी कर रखी हैं, गंगा पार करने के लिए बेड़े तैयार कर लिये हैं और अब सिर्फ उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में है।

अम्बपाली—आह! देवपुरी वैशाली! इस पर राक्षस का शासन होगा? इसे बचाइए, महामात्य! (व्याकुल-सी हो जाती है)

महा० चेतक—मैं इसके लिए सयत्न हूँ; पर आपकी जिम्मेवारी भी इस बारे में कम नहीं है, आर्ये! जो काम अधिकार से नहीं किया जा सकता, वह प्रेम से आसानी से कराया जा सकता है। आपके पास नौजवानों का दिन-रात प्रवेश है। आप उनकी ओर ध्यान दीजिए। नीति से कला का असर ज्यादा होता है। और, वह कला व्यर्थ है,

जो मातृभूमि के, संकट-काल में, काम न आये। आप अपनी कला का उपयोग इस काम में करें। अगर नौजवानों का हृदय ठीक रहे, उनमें पारस्परिक एकता और प्रेम हो, उनमें आदर्श पर उत्सर्ग होने की भावना बनी रहे, तो फिर उस देश या जनपद को कोई भी पराजित नहीं कर सकता।

अम्बपाली—आपने सही कहा, महामात्य! आपकी आज्ञा सिर-आँखों पर। कुछ दिनों से मैं व्याकुल-सी थी—मेरा यह सौन्दर्य, यह कला, क्या सिर्फ मनोरंजन की चीज है? तुच्छ मनोरंजन!!...

महा० चेतक—मनोरंजन तुच्छ चीज नहीं है, भद्रे! मनोरंजन जिन्दगी की एक अहम जरूरत है। जहाँ मनोरंजन नहीं, वहाँ जीवन नहीं। आपके द्वारा वैशाली की तरुण पीढ़ी जीवन पाती रही है—जिन्दा-दिली ही जिन्दगी है, भद्रे! लेकिन हर चीज के उपयोग पर सामयिकता की छाप होनी चाहिये। आग रोशनी देती है, जलाती भी है। कला सुलाती है, तो जगाती भी है। अपने नागरिक जीवन के गोरखधंधों से परेशान नागरिकों को आजतक आपने नृत्य और संगीत की मधुर नींद दी—क्षीण शक्ति के पुनः संचय के लिए मौका दिया। लेकिन, आज सतत जाग्रत रहने का समय है। आज उसी कला को जागरण का शंखनाद करने दीजिए।

अम्बपाली—(गर्व-मिश्रित स्वर में) ऐसा ही होगा, महामात्य! अम्बपाली सिद्ध कर देगी, वह गौरी ही नहीं, दुर्गा भी है। वह सोहनी ही नहीं, भैरवी भी सुना सकती है।

महा० चेतक—(आशीर्वादात्मक ढंग से हाथ उठाते) तथास्तु!

३

[वैशाली का संघागार और उसके सामने का विस्तृत मैदान—संघागार के गुम्बदों से शंख और भेरी की ध्वनि हो रही है—

अजातशत्रु की सेना वैशाली पर चढ़ाई करने को आ रही है, उसीका सामना करने के लिए नागरिकों का यह अह्वान किया जा रहा है—

इस ध्वनि को सुनकर धीरे-धीरे नागरिक मैदान में आते हैं—लेकिन इनमें उत्साह का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता—न जयनाद है, न भुजाओं की उछाल—एक-दूसरे को यों देख रहे हैं जैसे पुराना बैर चुकाने का मौका मिला हो—एकाध जगह उत्साह की तरंग देखी भी गई, एकाध बार जयनाद भी हुआ, तो वह निराशा के गहरे गर्त में तुरंत विलीन हो गया—

संघ के महामात्य चेतक संघागार से निकलकर सभामंच पर आते हैं और नागरिकों को देखते हैं—देखते ही उनका चेहरा उतर आता है—भर्राई आवाज में नागरिकों को संबोधित करते हैं—]

महा० चेतक—नागरिको, क्या आपको मालूम है, यह शंख क्यों फूँका गया है? यह भेरी क्यों बजाई गई है? हमारे वृज्जिसंघ के पुराने शत्रु अजातशत्रु ने हमपर चढ़ाई की है।

एक नागरिक—क्यों आजतशत्रु हम पर चढ़ाई करेगा?

दूसरा नागरिक—चढ़ाई की है, तो उससे हमारा क्या?

तीसरा नागरिक—क्या हमारी तरफ से उसे छेड़ा गया है?

महा० चेतक—बस, बस, नागरिको! मैं आज का समाँ देखकर ही दंग हूँ। यही वैशाली है, यही संघागार और उसका मैदान है। शंखनाद होते ही वैशाली के घरों में कोई भी नौजवान नहीं रहता था। सभी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित यहाँ इकट्ठे हो जाते थे। तीसरी बार भेरी बजते-न-बजते इस विस्तृत मैदान में तिल धरने की जगह नहीं रह जाती थी। नागरिकों के जयनाद, शस्त्रों की झनझन, घोड़ों की हींस और हाथियों के चिग्घाड़ से आसमान गूँज उठता था। सब कहते थे, संघ पर क्या संकट आया? सब पूछते थे, संघ का कौन दुश्मन है?—हम उसका शमन करेंगे, हम उसकी आँख निकाल लेंगे। और आज वही वैशाली—आह वैशाली! (उनका गला भर आता है)

एक नागरिक—लेकिन हमें पूछने का हक है?

दूसरा नागरिक—हमें युद्ध का औचित्य तो मालूम होना चाहिए।

तीसरा नागरिक—हिंसा माननीय कर्त्तव्य नहीं, यह राक्षसी वृत्ति है।

[ऐसे सवालों को सुनकर कुछ नागरिक, जिनमें जोश और उत्साह था, लेकिन उमाड़ा न था, तमतमाकर खड़े होते हैं—लेकिन, उन्हें बोलने के पहले ही महामात्य चेतक हाथ के इशारे से रोक देते हैं और शान्त भाव से कहते हैं—]

महा० चेतक—नागरिको, गणतंत्र के मानी ही यह है कि हर नागरिक राज्य के कामों में अपने को हिस्सेदार समझे—अपनी जिम्मेवारी निभाये, संघ के पदाधिकारियों से जिम्मेवारी वसूल करे। किन्तु आज तो अजीब सवाल पूछे जा रहे हैं। संघ ने युद्ध नहीं छेड़ा है कि आप उससे औचित्य का उत्तर माँगें। युद्ध का औचित्य पूछना है, तो आप अजातशत्रु से पूछें—इसीलिए तो संघ ने आपका आह्वान किया है। लेकित याद रखिए, चढ़ाई करनेवाले दुश्मन से आप ज़बान

से नहीं पूछ सकते, ऐसी जबानों को वह तराश लेगा। आक्रमणकारी एक ही जबान समझता है, वह है प्रत्याक्रमण में उठाई गई तलवार की झनझन या चलाये गये तीर की सनसन की।

[महामात्य के इस कथन पर उत्साही दल में और जोश आ जाता है, उनमें से नागरिक उठकर कहने लगते हैं—]

एक नागरिक—हम तलवार की जबान से ही उसे समझायेंगे।

दूसरा नागरिक—हम उसे उसकी गुस्ताखी का मजा चखायेंगे।

तीसरा नागरिक—बोलो, वृज्जिसंघ की जय, गणतंत्र की जय, वैशाली की जय!

[जयजयकार करनेवालों की संख्या बढ़ती जाती है—चारों ओर हलचल और सरगर्मी दिखाई पड़ती है—जिस नागरिक ने पहले विरोध की आवाज उठाई थी, वह आगे बढ़ता, सभामंच के निकट जाता और नागरिकों को सुना कर कहता है—]

पहला नागरिक—महामात्य, क्या मुझे नागरिकों को सम्बोधित करने की आज्ञा मिल सकती है?

महा० चेतक—निश्चय ही! संघ ने सब नागरिकों को बोलने-चलने का समान अधिकार दे रखा है। बोलिए—

पहला नागरिक—नागरिक भाइयो, हमें अपने गण पर नाज है, अपने संघ पर नाज है। अपनी प्यारी वैशाली और प्यारे वृज्जिसंघ पर आये संकट को टालने के लिए जो योग न दे, उसकी जिन्दगी पर लानत! (कुछ नागरिक उत्साह में 'वृज्जिसंघ की जय' चिल्लाते हैं—वह तमककर कहता है) ठहरिए, अधीर मत होइए, बुद्धि से काम लीजिए। अगर वृज्जिसंघ और वैशाली प्यारी चीज है, तो आदमी की जान भी कम कीमती नहीं। आदमी की जान संसार में सबसे कीमती चीज है—सबसे प्यारी। इसीलिए हम दूसरे की जान लेने और जान देने के पहले थोड़ा सोच लें।

एक नागरिक—तुम कायर हो!

पहला नागरिक—महामात्य, गालियों को रोकिए; किसी को हक नहीं कि वह दूसरे को कायर कहे—

[चारों ओर उत्तेजना का वातावरण—महामात्य हाथ के इशारे से उन्हें शांत करते—]

महा०चेतक—नागरिको, आप धैर्य न खोयें। इन्हें पूरी बात कहने दीजिए। (पहले नागरिक से) आप जारी रखें—

पहला नागरिक—मैं कह रहा था, जो काम हम करने जा रहे हैं, उस पर जरा गौर से सोच लें। हम अपने गण पर, अपने संघ पर, अपनी वैशाली पर अपने को बलिदान करने जा रहे हैं। वैशाली या वृज्जिसंघ क्या है, अगर वह एक आदर्श का प्रतीक नहीं हो। इस आदर्श के निर्माण के लिए हमारे पूर्वजों ने क्या-क्या नहीं किया? उसी आदर्श को देखकर भगवान बुद्ध ने हमें देवता कहा था। लेकिन, वह आदर्श आज कहाँ है? हम उस उज्ज्वल आदर्श को खोकर जमीन पर ढकेले गये देवता-ऐसे हो गये हैं। हमारे नागरिक एक-दूसरे की निन्दा करते हैं, एक दूसरे मे मर्म छिपाते हैं, एक-दूसरे की बुराई चाहते हैं, एक को कायर कहते हैं—भिखमंगा बताते हैं—

(कई ओर से आवाजें आती हैं)—'यह झूठी बात है', बिल्कुल झूठ', 'नहीं-नहीं, सही बात', 'उस दिन तुमने मुझे भिखमंगा बताया', 'तुमने मुझे कायर कहा', 'वीर लड़ें, हम कायर क्यों लड़ें?' 'भिखमंगे क्यों लड़ें, जिन्हें धन बचाना है, लड़ें, तुम्हारी जबान कट जाय', 'तुम्हारी जिन्दगी पर लानत!'

महा० चेतक—(ऊँची आवाज में) शांत नागरिको, शांत! (पहले नागरिक से) आपको जो कुछ कहना है, शीघ्र कहिए—

पहला नागरिक—भाइयो, मैं इस नाजुक मौके पर अब ज्यादा वक्त नहीं लेना चाहता। सिर्फ एक बात कहूँगा। एक तरफ तो यह हालत है, दूसरी ओर दुश्मन को देखें। आप जानते हैं, मगध-सम्राट् अजातशत्रु अब पुराना अजातशत्रु नही रह गया है। अब वह भगवान बुद्ध का अनुयायी है। दिन-रात गृध्रकूट की ओर उसका ध्यान लगा रहता है। वह आधा भिक्षु बन चुका है। मगध के आधे खून ने उससे ऊधम कराये, अब हमारा रक्त उसपर हावी है। उसके शरीर में जो वृजिरक्त है, वह उसे सुकर्म पर ले जा रहा है। फिर वह हमपर क्यों चढ़ाई करेगा? अगर की है, तो जरूर हमलोगों ने कुछ उत्तेजना दी है, उसे तंग किया है, लाचार किया है। इसलिए, हमें उसके खिलाफ फौज न भेजकर समझौते के लिए दूत भेजना चाहिए, उससे सुलह कर लेना चाहिए—(बोलकर हट जाता है)

एक नागरिक—बहुत ठीक, हम हिंसा से भी बच जायँगे।

दूसरा नागरिक—तुम दोनों कायर हो, जनद्रोही, गणद्रोही, देशद्रोही!

[फिर नागरिकों में आपस का तू-तू-मैं-मैं मच जाती है—हल्ला-गुल्ला मच जाता है—महामात्य बार-बार उन्हें शांत करने की कोशिश कर रहे हैं।

[अचानक लोग अम्बपाली को देखते हैं—अजीब है वेश उसका—शरीर पर जिरह-बख्तर—सिर के लहराते बाल के ऊपर शिरस्त्राण—पीठ पर ढाल, कमर में तलवार लटक रही—एक हाथ में बर्छा, जिसकी फली के नीचे वैशाली का झंडा लहरा रहा—

उसे इस रूप में देखते ही सब आश्चर्य चकित रह जाते हैं—आपस का विवाद रुक जाता है, सब चुप हो जाते हैं—इस जमाव को वह आँख घुमाकर देखती है, फिर महामात्य की आज्ञा ले, ओजस्वी शब्दों में बोलती है—]

अम्बपाली—वृज्जिसंघ के नागरिको, वैशाली के सपूतो! मेरे इस रूप को देखकर आप चकित हो रहे हैं। नारी का यह रूप नहीं, राजनर्तकी के भी अनुरूप नही! आपका चकित होना उचित ही है। लेकिन, आप सोचिए तो कि मुझे यह रूप क्यों धारण करना पड़ा है? क्यों उन हाथों में आज तलवार है, जिनमें कल तक वीणा थी? क्यों उस मस्तक पर शिरस्त्राण है, जिसपर फूलों के गुच्छे लटकते थे? जिस वक्षःस्थल पर कल तक पारिजात की मालाएँ होती थीं, उसपर आज यह जिरह-बख्तर देखकर आप चकित न हों, यही आश्चर्य है। किन्तु, आप सोचिए तो, ऐसा क्यों हुआ?

[वह चुप हो जाती है—चारों तरफ सन्नाटा है—सब एक-दूसरे का मुँह देखते हैं—अम्बपाली फिर बोलती है—]

नागरिको, आप नहीं बोल रहे हैं। आप शायद नहीं सोच पा रहे हैं? या आप अपने पर शर्मिन्दा हो रहे हैं? हाँ, यह शर्म की बात है, लज्जा की बात है कि जब दुश्मन हमारे द्वार पर पहुँच चुका है, जब उसकी तलवार हमारी गर्दन छू रही है, उसके तीर हमारी छाती में घुसने को हैं, हम यहाँ विवाद कर रहे हैं कि हम युद्ध करें या नही करें, लड़ाई अच्छी चीज है या बुरी, इसमें हिंसा है या अहिंसा? हम कितने पतित हो चले हैं और हमारा दुश्मन कितना भला है, इसकी नाप-तौल भी हम आज ही कर लेना चाहते हैं। कैसी आत्मवंचना! आत्महत्या का कैसा सुन्दर प्रयत्न!! कहा जाता है, अजातशत्रु आधा भिक्षु हो चुका है? क्या भिक्षुओं की सेना तलवार लेकर चलती है? गाँवों को जलाती है? फसलों को रौंदती है और आदमी के खून से जमीन को सींचती है?

[लोगों में सनसनी छा जाती है—चेहरों पर गुस्से की झलक स्पष्ट हो जाती है—बाहें फड़कने लगती हैं—लोगों की इस परिवर्तित

भावना को देख जैसे गरम लोहे पर हथौड़े की चोट देती अम्बपाली ओजस्वी शब्दों में कहती है—]

यह भी कहा गया है कि अब उसपर वृज्जियों का रक्त हावी है। नागरिको, जिस दिन अजातशत्रु ने—जिसकी कोख से पैदा हुआ, जिसके दूध पर वह पला, उस वृज्जिकुमारी महारानी चेल्लना को तड़प-तड़पकर मरने को लाचार किया, उसी दिन उसके शरीर का वृज्जि-रक्त सूख चुका! पितृहन्ता, मातृहन्ता के शरीर में भी जो वृज्जिरक्त का प्रवाह देखते हैं, क्या वे वृज्जियों के रक्त का अपमान नहीं कर रहे हैं? वृज्जियों का रक्त देवरक्त है, वह राक्षस के शरीर में बह नहीं सकता!

नागरिकों की आवाजें—अजातशत्रु राक्षस है! वह पितृहंता है। हम उसे सबक सिखायेंगे। हम महारानी चेल्लना का बदला चुकायेंगे। आदि-आदि।

महा० चेतक—शांत! शांत! देवि, आप अपनी बात कहें!—

अम्बपाली—फिर यह कहा गया है, हमने आदर्श खो दिया! जरूर खो दिया—जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने है। हममें यह नैतिक पतन! लेकिन, सोचिए, ऐसा क्यों हुआ? कुछ दिन पहले तो यह बात नहीं थी। इन कुछ दिनों में ही यह कौन-सा जादू हो गया! कौन-सा जादू हुआ, किसने यह जादू किया? जिसने भाई के दिल में घुसकर भाई का प्रेम वहाँ से हटाया, जिसने उस दिन अभि-षेक-मंगल-पुष्करिणी को खून मे अपवित्र करवाया, वह कौन जादू है, वह कौन-सा जादूगर है? (जिसने विरोध में भाषण किया, उसकी ओर लक्ष्य करती) बोलिए, इस संघागार के सामने, हिम्मत हो तो उसका नाम बताइए यह जिम्मेदारी आप अपने ऊपर लेते हैं?

[सब नागरिक उस विरोधी नागरिक की ओर देखने लगते हैं—जिन लोगों ने उसके सुर-में-सुर मिलाया था, उनके सिर नीचे होने लगते हैं—खामोशी देख महामात्य बोलते हैं—]

महा० चेतक—आर्य, जादूगर चला गया, अब सिर्फ उसका जादू रह गया है, जो हमारे कुछ भोले नागरिकों के सिर चढ़कर बोल रहा है!

नागरिकों की आवाजें—'वह कौन था?'—'यह क्या बात है?'—'उसका नाम बताइये।'—'हम उसे मजा चखायेंगे!' आदि-आदि।

अम्बपाली—मजा चखायेंगे, तो चलिए, रण-भूमि में। वह रण-भूमि में ही आपको मिलेगा। लेकिन, अब उसके हाथ में पोथी नहीं

होगी, तलवार लेकर वह आपके सामने खड़ा होगा। उसने पीला कपड़ा फेंक दिया होगा, जिरह-बख्तर पहन लिया होगा उसने। उसके गंजे सिर के पोपले मुँह मे मंत्र की बुदबुदाहट नहीं, अब आप राक्षसी चीत्कार सुनेंगे—

नागरिकों की आवाजें—'आप वस्सकार की बात कह रही हैं?' –'क्या उसी दुष्ट की यह करामत है?"—'उफ् मक्कार!'—'उफ् दगाबाज!' आदि-आदि।

अम्बपाली—हाँ, उसी दुष्ट की। देख लीजिए, वह आज आपके बीच नहीं। (चारों ओर नजर दौड़ाती है—और लोग भी देखते हैं) क्यों रहे? उसने अपना काम किया और चलता बना। फसल बो चुका, अब गया है हँसिया लाने—हम फसल, उसकी हँसिया—हमारी गर्दन, उसकी तलवार—

(चारों ओर से आवाजें आती हैं—'हम ऐसा नहीं होने देंगे'—'हम वैशाली पर अपने को वलिदान कर देंगे' आदि, फिर 'वृज्जिसंघ की जय', 'वैशाली की जय', 'अम्बपाली की जय', की ध्वनि-प्रतिध्वनि होने लगती है—लोगों की उमग देख अम्बपाली कहती है—)

—नागरिको, ठीक, वैशाली की जय, वृज्जिसंघ की जय! ये जय-निनाद हमारे हार्दिक उल्लास और मानसिक निर्णय के सूचक हैं, इसलिए वांछनीय हैं, वंदनीय है। लेकिन, याद रखिए, जब दुश्मन हमारे सामने है, जब 'हम या वे' के फैसले का वक्त पहुँचा है, तो सिर्फ हार्दिक उल्लास या मानसिक निर्णय उपयुक्त नहीं होता। उस उल्लास और निर्णय को कार्यरूप देने पर ही उनकी सार्थकता और हमारी सफलता निर्भर करती है! कार्यशक्ति से हीन जयनाद आत्म-प्रवंचना है—इसलिए चलिए रणभूमि की ओर, बढ़िए जयभूमि की की ओर। आइए, मैं आपके मस्तक पर विजय-तिलक लगाऊँ। (मुड़कर) चयनिके, रोली-चंदन की थाल ला—

[नागरिकों का ठट्ट उसकी ओर बढ़ता है—सबके सिर पर वह रोली-चंदन लगाती जाती है—उधर संघागार के मुँडेरे से वीरवाणों में वृज्जियों का राष्ट्रगीत गाया जा रहा है—]

जन-गण की जय हो,
गण-जन की जय हो,

हिमगिरि-शृंग-सदृश सिर उन्नत,
गंग-तरंग-सदृश मन निर्मल,

हम निर्मल, निर्भय,
हम उन्नत, गतिमय,
पावन हैं आदर्श हमारे, जीवन गतिमय हो,
जन-गण की जय हो,
गण-जन की जय हो,

जन-गण की जय हो,
गण-जन की जय हो,
हम स्वाधीन, स्वतंत्र रहेंगे,
हम न किसी की धौंस सहेंगे,
हम अजेय, अनिवार,
हम रिपु-हित संहार,
विजय हमारी ओर,
शत्रु की ओर प्रलय लय हो,
जन-गण की जय हो,
गण-जन की जय हो!

४

[युद्धभूमि का एक अंचल—यहाँ से युद्धभूमि में होनेवाला कोलाहल, जयनाद, चीख-पुकार आदि के शब्द सुनाई पड़ते हैं—युद्धभूमि की एक झलक भी यहाँ से दीख पड़ती है—

घोड़े पर अम्बपाली आती है—वही वीर वेश—चेहरे पर पसीने की बूँदें, गर्दगुबार के दाग—शरीर पर खून के छींटे—घोड़े को खड़ाकर युद्धभूमि की ओर देखती है—

दूसरी ओर से एक और घोड़ा आता है—उसपर वैशाली के महामात्य चेतक हैं—बुढ़ापे ने मानों वीरता का बाना पहन रखा है—अम्बपाली को देखते ही अपना घोड़ा खड़ा कर देते और कहते हैं—]

महा० चेतक—आर्ये सर्वनाश! वृज्जिसंघ की स्वातंत्र्य-पताका गिर गई। (उनका गला भर आता है)

अम्बपाली—(साश्चर्य) यह क्या हुआ महामात्य?

महा० चेतक—हुआ वही जो होना था। हमने अपने फटे कपड़े को सीने की कोशिश की—ऊपर से वह सिला भी दीखता था; लेकिन एक तनाव ने ही उसके तार-तार उधेड़ दिये। जमीन की दरार भरती है, राष्ट्र की दरार तुरत नहीं भरती आर्ये! अजातशत्रु की सेना नगर में घुस गई!

अम्बपाली—ऐं, नगर में घुस गई? (महामात्य के चेहरे को एकटक देखती है)

महा० चेतक—हाँ, घुस गई! अभी खबर मिली है, वह उत्तर-से नगर में घुसी आ रही है। दो दीवारों पार कर चुकी, तीसरी कर रही होगी!

अम्बपाली—(आश्चर्य की अधिकता में चिल्ला पड़ती है) उत्तर द्वार से?

महा०चेतक—यही तो तमाशा है, आर्ये! दक्षिण से आनेवाली सेना उत्तर-द्वार से प्रवेश कर रही है।

अम्बपाली—आह! हमें धोखा हुआ!

महा०चेतक—बिना विभीषण के सोने की लंका नहीं जल सकती थी, भद्रे! त्रेता की गलती फिर दुहराई गई और न जाने कितनी बार कहाँ-कहाँ दुहराई जायगी।

अम्बपाली—(अपना सारा साहस समेटकर) महामात्य, हम चलें उस ओर, उनके प्रवाह को रोकें।

महा० चेतक—जब बाँध टूट जाता है, तब भद्रे प्रवाह के पानी को कोई नही रोक सकता। जो ऐसी कोशिश करेगा, वह डूबकर रहेगा। अब हम या तो इस व्यर्थ प्रयत्न में डूब मरे या चतुर किसान की तरह जो कुछ बच सके, उसे बचायें और अगली खेती के लिए सामान जुटायें।

अम्बपाली—अगली खेती?

महा० चेतक—हाँ, अगली खेती। फसल की तरह राष्ट्र की जड़ भी जमीन के नीचे होती है। एक फसल बर्बाद हो जाय, दूसरी फसल लहरायेगी। एक पुस्त गुलाम बन जाय, दूसरी पुस्त आजाद होकर रहेगी। दूसरी फसल पहली फसल की सड़ाँद से खाद पाती है, पहली से भी अच्छी होती है। गुलाम राष्ट्र जब उभरता है, वह उन्नति की उस चोटी पर छलाँग मारकर चढ़ जाता है, जिसके पहली पुस्त के लोग सपने ही देखते थे। लेकिन शर्त एक है!

अम्बपाली—वह शर्त क्या है, आर्य?

महा० चेतक—उस राष्ट्र के लोग नैतिक बल को खो न दें! जो जन-नायक होते हैं, उनका यह काम है कि ऐसे मौके पर अपने व्यक्तिगत उदाहरण से जनता के नैतिक साहस को ऊँची सतह पर रखें—वह न दब, फिर कोई नही दबेगा! साहस संक्रामक चीज है भद्रे! एक का साहस हजारों लाखों में साहस भरता है। शहादत का

खून ही वह खाद है, जिसे पाकर राष्ट्र की बेल बढ़ती, फैलती और फूलती-फलती है! हमारा साहस उन्हें भी ऊँचे उठने को प्रेरित करेगा, जो आज पतित, अधम हो चुके हैं।

अम्बपाली—(घृणा से मुँह सिकोड़ती) वे पतित, वे नीच, वे नराधम! वैशाली उन्हें कभी नही क्षमा कर सकती; महामात्य!

महा० चेतक—वैशाली के प्रतिशोध लेने के पहले ही अपने हृदय का पश्चाताप ही उन्हें या तो जला डालेगा, या कुंदन बना देगा। गणतंत्र और राजतंत्र की प्रजा में बहुत अन्तर है, आर्ये! राजतंत्र की प्रजा कभी कह सकती है—'कोउ नृप होहि हमहि का हानि।' लेकिन गणतंत्र की प्रजा पर ज्योंही दूसरों का शासन लादा जायगा, उसका हृदय विद्रोह कर उठेगा। वैशाली की प्रजा को गुलामीं में रखना असम्भव है, भद्रे!

अम्बपाली—(कातर स्वर में) आज तो हम गुलाम हो चुके महामात्य!!

महा० चेतक—यह तो अजातशत्रु को कल मालूम होगा। जो अपने बाप को कैद कर सका, कल देखूँगा, वह चेतक को कैसे कैद कर लेता है! (उनका चेहरा एक अलौकिक ज्योति से दिप उठता है) कैद होने के पहले कैदी खुद अपने को कैद कर लेता है, आर्ये! जिसकी तबीयत आजाद है, उसे कोई कैद नहीं कर सकता। अगर किसी ने जबरदस्ती की भी, तो पेट में गये कच्चे अन्न की तरह फिर उसे उगलना पड़ेगा—वह उसे पचा नही सकता। अगर यह बात नहीं होती, तो कुछ बलशाली मानव सारे संसार को गुलाम बनाकर रखते।

अम्बपाली—वैशाली के महामात्य के उपयुक्त ही ये बातें हैं। मैं तो इसकी कल्पना से ही घबरा रही हूँ।

महा० चेतक—जो घबराता है, उसके सामने सबसे पहले भूत आता है, आर्ये!

[युद्धभूमि की चीख-पुकार बढ़ती और नजदीक आती-सी मालूम पड़ती है— बूढ़े महामात्य 'आर्ये, वैशाली की शान न खोना'—कहकर घोड़े को फँदाते चल देते हैं—

अम्बपाली भय-चकित दृष्टि से महामात्य की ओर देख रही है कि एक तीर उसकी ओर सनसनाता आता दिखाई पड़ता है—एक दूसरा घुड़सवार अपने घोड़े को उछालकर झट वहाँ पहुँचता है—उसके घोड़े के धक्के से अम्बपाली का घोड़ा जरा हट जाता है—तीर उस

आगन्तुक घुड़सवार के गले में लगता है—वह घोड़े से लटक जाता है—

अम्बपाली के मुँह से चीख निकलती है—वह उस घुड़सवार को देखने की कोशिश करती है कि तब तक कई घुड़सवार आ जाते हैं—आपस में तलवारें चलने लगती हैं—सब तितर-बितर हो जाते हैं—]

५

[अम्बपाली का वसंतोद्यान—संध्या का समय—

बगीचे के बँगले के बरामदे से सटा एक ऊँचा मंच—मंच पर सजी सजाई फर्श—उस पर बैठी अम्बपाली आईना सामने रख कर शृंगार कर रही है—

मंच के आगे उद्यान का जो हिस्सा है, उसमें बेला, मोतिया, जूही आदि की पंक्तियाँ कलियों से लदीं—बीच में एक छोटा-सा नकली हौज जिसमें पालतू हंस का जोड़ा तैर रहा—

अम्बपाली के बगल में चयनिका खड़ी है—चयनिका कभी आसमान को देखती है, कभी अम्बपाली के चेहरे को — वह आश्चर्य और विषाद की पुतली बनी हुई है—अम्बपाली के चेहरे को पढ़ना उसके लिए मुश्किल हो रहा है—वह ठीक संध्या का प्रतिरूप है, जिसमें दिन-रात, हर्ष-विषाद का निर्णय करना कठिन हो रहा —

चयनिका की ओर देखकर अम्बपाली मुस्कुराती है—फिर उससे पूछती है—]

अम्बपाली—चुन्नी, देख तो, यह मेरा शृंगार कैसा उतरा?

चयनिका—(नहीं बोलती है, सिर नीचा कर लेती है)

अम्बपाली—बोल-बोल, शृंगार कैसा उतरा?

चयनिका—(फिर भी चुप है, सिर और नीचा कर लेती है)

अम्बपाली—(प्यार भरे गुस्से में) नहीं बोलती ? तुझे बताना होगा चयनिके, कि आज का मेरा शृंगार कैसा उतरा?

चयनिका—मैं कुछ नहीं समझ पाती, भद्रे!

अम्बपाली—तू कुछ नहीं समझ पाती और न समझ सकेगी। अम्बपाली की बातें समझ जाना आसान भी तो नहीं है, चुन्नी!

चयनिका—हाँ, आर्ये!

अम्बपाली—तू यही न सोच रही है कि कहाँ आज सारी वैशाली में मातम है, रुदन है, हाहाकार है, और कहाँ मेरा यह शृंगार, यह प्रसाधन, यह उल्लास, यह हास! क्यों?

चयनिका—हाँ, आर्ये!

अम्बपाली—लेकिन सोच, वैशाली में यह मातम क्यों है? क्योंकि वह हार चुकी है। हारा आदमी अगर मातम न मनाये, गम में पड़ा आदमी न रोये, तो उसकी छाती फट जाय, धुकधुकी बंद हो जाय, वह मर जाय। वैशाली मरना नहीं चाहती है, इसलिए मातम मनाती है। लेकिन......(वह चुप हो जाती है)

चयनिका—'लेकिन' क्या भद्रे? (उसकी आँखों में भय की छाया)

अम्बपाली—तूने सुना है, जब स्त्रियाँ सती होने जाती हैं, तब शृंगार कर लेती हैं। जिसने चिता से लिपटना तय कर लिया, वह अंतिम साज-सज्जा से अपने को क्यों वंचित रखे? जब घरवाले छाती पीटते होते हैं, वह हँसती है, मुस्कुराती है, शृंगार करती है। लेकिन घरवाले रो-पीटकर भी श्मशान से जिन्दा लौटते हैं, वह हँसकर भी अपने को ज्वाला में विलीन कर देती है!

चयनिका—भद्रे, भद्रे, यह आप क्या कह रही हैं? (उसकी आँखें छलछला उठती हैं)

अम्बपाली—बहुत ही सही कह रही हूँ। अम्बपाली ने किसी एक व्यक्ति पर नहीं, वैशाली पर अपने को उत्सर्ग किया था। आज जीती-जागती वैशाली मुर्दा लाश-सी पड़ी है। इसे कोई नहीं बचा सका। अब अम्बपाली ने तय किया है, या तो इस लाश में वह जान फूंकेगी, या इसी के साथ जल मरेगी!

चयनिका—आर्ये! आर्ये! (तलहथी में मुँह ढँककर रोने लगती है)

अम्बपाली—कातर मत बन, चयनिके! अपने को अम्बपाली की योग्य अनुचरी सिद्ध कर! देख, मेरा शृंगार अच्छा बना कि नहीं? इच्छा होती है, जितने भी शृंगार और प्रसाधन के सामान हैं, सब आज लाद लूँ, ओढ़ लूँ! (कुछ रुककर) जल्दी कर, मगधराज आजतशत्रु अभी यहाँ पधारनेवाले हैं।

चयनिका—मगधराज! अजातशत्रु!

अम्बपाली—हाँ, महामात्य ने कहा था, जो डरता है, उसके नजदीक सबसे पहले भूत आता है! वैशाली में पहली उनकी कृपा मुझी पर हुई है। उन्होंने खबर भेजी है, आज-अकेले-अकेले यहाँ पधारेंगे! मगधपति का स्वागत भी तो साधारण साज-सज्जा से नहीं होना चाहिए। वह भी तो देख लें कि इस अलौकिक नगरी की राजनर्तकी कैसी है?

चयनिका—(कुछ घृणा, कुछ क्रोध से) मगधपति के स्वागत के लिए?...भद्रे......

अम्बपाली—(हँसकर) रुकती क्यों है, बोल। आज का सब कहा सुना माफ !

चयनिका—(चुपचाप अम्बपाली का चेहरा घूर रही है।)

अम्बपाली—हाँ रे, मगधपति के स्वागत के लिए ! राजनर्तकी अपने स्वागत से किसी आगत को कैसे वंचित कर सकती है ? हाँ, स्वागत-स्वागत में फर्क है। दीपशिखा भी तो पतंग का स्वागत करती है। और उनके स्वागत के दो ही नतीजे होते हैं—या तो पतंग जलेगा, या दीपक बुझेगा। जिस दीपक ने बुझना तय कर लिया, उसकी शिखा जितनी भी तेज रहे, उतना ही अच्छा !

चयनिका—(भर्राई आवाज में) फिर यह आप क्या कह रही हैं, भद्रे ?

अम्बपाली—चयनिके, अम्बपाली तय कर चुकी है, जिसे वैशाली नहीं हरा सकी, उसे अम्बपाली हरायेगी, हरायेगी या देख (अंगूठी दिखाती है) इस अमृत को चूमकर अमर बन जायगी। जो पताका हमारे वीरों ने रणभूमि में गिरा दी, आज अजातशत्रु देखेगा, इस मेरी रंगभूमि में वह कितनी ऊँची लहराती है।

चयनिका—यह अजीब द्वन्द्वमयी बातें हैं, आर्ये !

अम्बपाली—द्वन्द्वात्मक परिस्थित में बातें भी द्वन्द्वात्मक ही हो सकती हैं। हम हराये जा चुके हैं, तो भी विजय की आकांक्षा रखते हैं। हम गिराये जा चुके हैं, तो भी उठने का अरमान हमसे हटा नहीं—इस मनहूस संध्या में हम सुनहली भोर का सपना देख रहे हैं ! द्वन्द्वमयी परिस्थिति में सीधी-सादी बातें क्या हो सकती हैं, पगली !

[वह हाथ बढ़ाकर चयनिका की ऊँगली पकड़ती और उसे खींचकर ठुड्डी पकड़ चुमकारती है, उसके मस्तक पर चुम्बन देती है—

धुँधलका हो रहा है—एक परिचारिका वहाँ आकर दीप जला जाती है—एक ऊँचे चिरागदान पर कितनी ही दीप-शिखाएँ जगमगा उठती हैं—उनके प्रकाश में अम्बपाली का सौन्दर्य और चमक उठता है—

दूसरी परिचारिका इसी समय एक अँगूठी लाकर अम्बपाली को देती है—अँगूठी पर वह नाम पढ़ती है और कहती है,—"जा, उन्हें बुला ला !"

अजातशत्रु आता है—साधारण नागरिक-सा है वेश उसका—अम्बपाली आगे बढ़कर स्वागत करती और मंच पर बिठलाती है—

"चयनिके ! तू भी चली जा, यहाँ कोई न आवे"—कहकर बड़ी ही गम्भीर मुद्रा में अजातशत्रु से पूछती है—]

मगधपति की आज्ञा ?

अजातशत्रु—मगधपति मत कहो, राजनर्तकी! मैं मगधपति की हैसियत से यहाँ नहीं आया। मगधपति इस वेश-भूषा में नहीं आया करते।

अम्बपाली—क्षमा करें, मुझसे गलती हुई। मगधपति तो धनुष के टंकार और तलवारों की झंकार के साथ आया करते हैं।

अजातशत्रु—मगध को अपने धनुष और तलवार पर कम नाज नहीं है, राजनर्तकी! तुम्हारे व्यंग्य में भी सचाई है!

अम्बपाली—सिर्फ एक बात कहना मैं भूल गई थी; क्षमा कीजिए तो निवेदन करूँ।

अजातशत्रु—तुम्हारे लिए हमेशा क्षमा है।

अम्बपाली—क्योंकि मैं नारी हूँ और सुन्दरी भी?

अजातशत्रु—तुम सुन्दरी हो, इसमें भी सचाई है।

अम्बपाली—(ताने के स्वर में) और इसमें भी सचाई है कि मगध को धनुष और तलवार के साथ ही अपने महामंत्री वस्सकार पर भी कम नाज नहीं।

अजातशत्रु—(मुस्कुराते हुए) तुम वस्सकार पर नाराज हो लो राजनर्तकी, लेकिन मंत्री वही है, जो विजय का पथ प्रशस्त करे!

अम्बपाली—चाहे जिस घृणित उपाय से हो?

अजातशत्रु—विजय का पथ हमेशा ही कीचड़ से भरा और रक्त से सना होता है। जो गंदगी और खून से डरे, उसे सिर से मुकुट उतारकर हाथ में भिक्षा-पात्र लेना चाहिए।

अम्बपाली—(जैसे निशाना लेकर) भगवान बुद्ध ने मगधपति को यही शिक्षा दी थी! क्यों?

अजातशत्रु—भगवान ने कुछ दूसरी ही शिक्षा दी थी। (मुस्कुराते हुए) किंतु, एक नन्हीं-सी चीज ने सब बंटाढार कर दिया, राज-नर्तकी! देखोगी वह चीज?

अम्बपाली—कैसी चीज?

अजातशत्रु—(हाथी-दाँत पर बनी अम्बपाली की तस्वीर निकालकर उसके हाथ में देते हुए) यही है वह चीज!

अम्बपाली—(आश्चर्यचकित) ऐं, यह मैं? मेरी......

अजातशत्रु—हाँ, तुम्हारी इस छोटी-सी तस्वीर ने ही फिर एक बार पीला कपड़ा उतार फेंकने को लाचार किया, एक बार फिर गंगाजल से धोये हाथों को खून से धोने को बाध्य किया!

अम्बपाली—(भौंचक बनी) मगधपति!

अजातशत्रु—राजनर्तकी, मगधपति ने जिन्दगी के इतने चढाव-उतार देखे हैं कि उसने तय कर लिया था—शेष जीवन वह गृध्र-कूट पर ध्यान लगाते राजगृह में बिता डालेगा; या राजपाट की झंझटों को दूर फेंक बोधिवृक्ष की छाया में शांति-सुख प्राप्त करने को एक दिन प्रस्थान कर देगा। किंतु, उसके सारे मंसूबे हवा हो गये—उसे छल की शरण लेनी पड़ी, बल का प्रयोग करना पड़ा। किसके चलते? क्यों? इसी छोटी-सी तस्वीर ने... (मुस्कुराता है)

अम्बपाली—तो आप राज्य के लिए वैशाली नहीं आये, सौन्दर्य के लिए वैशाली आये हैं।

अजातशत्रु—तुमने बिल्कुल ठीक कहा।

अम्बपाली—सौन्दर्य, जो राज्य से भी क्षणिक है!

अजातशत्रु—सौन्दर्य, जो राज्य से भी अधिक प्रलोभक, मोहक और आकर्षक है। हर दिव्य वस्तु क्षणिक होती है, राजनर्तकी! फूल की मुस्कान, चपला की चमक, इन्द्रधनुष की रंगीनियाँ और ओस की चमचमाहट सब क्षणिक है! क्षणिकता दिव्यता की अनुचरी ही नहीं सहचरी भी है!

अम्बपाली—और, मानवता की महत्ता इसीमें है कि क्षणिक के पीछे दौड़ा जाय?

अजातशत्रु—क्षणिक के पीछे नहीं, दिव्य के पीछे। हर अच्छी चीज के पीछे उसका बुरा पहलू होता है, राजनर्तकी! जन्म के पीछे मरण है, उल्लास के पीछे विषाद, उत्सव के पीछे मातम। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जिन्दगी और जशन—जीवन और उत्सव—को भूलकर हम हमेशा शोक-सागर में गोते लगाते रहें—मातम मनाते रहे!

अम्बपाली—(घृणायुक्त व्यंग्य में) और इस जिन्दगी और जशन के लिए हजारों आदमियों का खून बहायें, हजारों माताओं को निपूती बनायें, हजारों युवतियों का सुहाग-सिन्दूर धोयें और हजारों मासूम बच्चों की जिन्दगी को आँसुओं में डुबोयें!

अजातशत्रु—हाँ, हाँ। राजनर्तकी, इन भावुकता की बातों से तुम अजातशत्रु के दिल को दहला नहीं सकती—बल्कि, ऐसा करके तुम उसके दिल में सोई उस राक्षसी को कुरेदकर जगाती हो, जिसे वह मुश्किल से सुला पाता है!

[वह अचानक उठकर खड़ा हो जाता है—इधर-उधर टहलने लगता है—आसमान की ओर बार-बार देखता है—अम्बपाली कुछ देर तक उसकी भाव-भंगी देखती है—फिर नजदीक जाकर कहती है—]

अम्बपाली—मगधपति, आसन ग्रहण करें!

अजातशत्रु—नहीं, मुझसे बैठा नहीं जायगा, सुन्दरी!

अम्बपाली—'सुन्दरी' कहकर मेरा अपमान न कीजिए।

अजातशत्रु—हाँ, हाँ, समझा, समझा! (हँसकर) सुन्दरी का आग्रह कोई कैसे टाल सकता है? अच्छा, आओ बैठें।

[अजातशत्रु बैठ जाता है—किन्तु अम्बपाली खड़ी ही रहती है—अजातशत्रु कहता है—]

अजातशत्रु—बैठो, सुन्दरी!

अम्बपाली—क्या नारी सिर्फ सुन्दरी ही होती है?

अजातशत्रु—हाँ, जो सुन्दरी नही है, वह नारी नही है। ठीक उसी तरह कि जो वीर नही है, वह मर्द नही है।

अम्बपाली—नारी वीर भी हो सकती है!

अजातशत्रु—और मर्द सुन्दर भी हो सकते है। लेकिन इन दोनों को प्राकृतिक गड़बड़झाला ही समझो, सुन्दरी!

[अम्बपाली आँखें गड़ाकर अजातशत्रु के चेहरे को देखती है—उसके शीतला के दाग से भरे चेहरे पर अजीब क्रूरता दिखाई पड़ती है—अम्बपाली को यों घूरते देख वह हँसकर बोलता है—]

अजातशत्रु—क्यों? मै कुरूप हूँ, यही न देख रही हो?

अम्बपाली—इसके पीछे की चीज भी।

अजातशत्रु—तुम मुखमुद्रा पढ़ सकती हो?

अम्बपाली—आप शस्त्र चला सकते है?

अजातशत्रु—आहा! (जोरों से हँसकर) तुम-जैसी राजनर्तकी पाकर कोई भी राजसभा धन्य हो सकती है।

अम्बपाली—(उसका अभिप्राय भाँपकर) आप यों मेरा अपमान नहीं कर सकते।

अजातशत्रु—मै तुम्हें सम्मान देने आया हूँ। वैशाली-विजेता आज वहाँ की राजनर्तकी अम्बपाली से...

अम्बपाली—(बीच ही में बात काटकर) प्रणय की भीख माँगने आया है! क्या, यही न कहना चाहते थे?

अजातशत्रु—बिल्कुल ठीक! उफ्, तुम कितनी बुद्धिमती हो, सुन्दरी!

अम्बपाली—अम्बपाली प्रशंसा की भूखी नहीं है, मगधपति! और वह प्रशंसा भी वैशाली-विजेता के मुहँ से। ऐसी प्रशंसा को वह लानत समझती है। घोंसले को उजाड़नेवाले बहेलिये से चिड़िया चुमकार सुनना पसंद नहीं करती।

अजातशत्रु—हाँ, पहले पंख फटफटाती है. चंगुल और चोंच चलाती है; लेकिन पीछे पालतू बनकर हाथ पर खेलती है, कंधे पर फुदकती है और सिर पर घोंसला बनाती है। क्यों? (अजीब उपेक्षा भाव से हँसता है)

अम्बपाली—(तमक कर) कोई ऐसी चिड़िया भी हो सकती है, जो पंख पटक कर मर जाना पसंद करेगी, लेकिन बहेलिये का अहसान न लेगी।

अजातशत्रु—ऐसी चिड़िया आज तक नही देखी गई।

अम्बपाली—आदमी सिर्फ चिड़िया नहीं है।

अजातशत्रु—मगधपति साधारण आदमी नहीं है।

अम्बपाली—अम्बपाली भी साधारण नारी नहीं है।

अजातशत्रु—तुम क्या बोल रही हो, सुन्दरी?

अम्बपाली—आप क्या चाह रहे हैं मगधपति?

अजातशत्रु—मैं क्या चाहता हूँ, इसे कहने की जरूरत रह गई? तो सुनो (दर्प से) अम्बपाली वैशाली-विजेता की राजनर्तकी बनेगी, उसे राजगृह चलने का निमंत्रण देने आया हूँ।

अम्बपाली—और, अगर वह नही जाय?

अजातशत्रु—अजातशत्रु अगर-मगर नही जानता!

अम्बपाली—उन्हें जानने को लाचार होना पड़ेगा।

अजातशत्रु—(आवेश में) क्या कहा?

अम्बपाली—(लापरवाही से) मैंने कहा, मगधपति को सोचना पड़ेगा कि अम्बपाली अगर मगध जाने को राजी न हुई, तो वह क्या करेंगे?

अजातशत्रु—तुम नहीं जाती? (भवें टेढ़ी करता है)

अम्बपाली—जरा अपनी भवें सीधी कीजिए, मगधपति! यह हम नारियों का ही शृंगार है।

अजातशत्रु—(आगबबूला होकर) सम्हलकर बोलो राजनर्तकी, तुम किसके सामने बोल रही हो।

अम्बपाली—उसके सामने, जो मुझसे प्रणय-भिक्षा माँगने आया है। भिखारी को घमंड नहीं शोभता!

[फिर उचककर खड़ा हो जाता है—अजीब उसकी मुखमुद्रा हो रही है—वह बेचैनी से मंच पर टहलने लगता है—कुछ देर तक अम्बपाली चुपचाप खड़ी रहती है—फिर विनम्रता के शब्दों में कहती है—]

अम्बपाली—मगधपति!

अजातशत्रु—(कुछ जवाब नहीं देता, टहलता रहता है)

अम्बपाली—मगधपति से मेरा निवेदन है, आसन ग्रहण करें।

अजातशत्रु—(रुककर, उसके चेहरे पर आँख गड़ाकर) सुन्दरी, तुम्हें याद रखना चाहिए कि वैशाली-विजेता से बात कर रही हो!

अम्बपाली—वैशाली-विजेता पर भी जिन्होंने विजय प्राप्त की थी, उनसे भी अम्बपाली ने इसी तरह ही बात की थी।

अजातशत्रु—(चौंककर) कौन है, जिसने मुझपर विजय प्राप्त की थी? अजातशत्रु अजेय है राजनर्तकी!

अम्बपाली—आह! आदमी अभिमान में अपने-आपको इतना भूल जाता है!

अजातशत्रु—(आँख गुरेरता है)

अम्बपाली—मेरा मतलब भगवान बुद्ध से था, मगधपति!

अजातशत्रु—(कुछ ठंढा पड़ते हुए) ओहो, अब समझा! हाँ, सुना था, भगवान बुद्ध तुम्हारे आम्रकानन मे ठहरे थे। उनसे तुम्हारी बातें हुई थीं?

अम्बपाली—सिर्फ एक संध्या को नहीं, सात दिनों की सात संध्याएँ उनसे बात करने में मेरी गुजरीं।

अजातशत्रु—फिर क्या हुआ?

अम्बपाली—वही, जो दो समान-बलशाली व्यक्तियों की जोर-आजमाई के बाद होता है!

अजातशत्रु—(आश्चर्य से) समान बलशाली?

अम्बपाली—जी, हाँ। बल सिर्फ तलवार और धनुष में नहीं है। मगधपति, कुछ ऐसी ताकतें भी हैं जिनके सामने तलवारें मोम की तरह गल जाती हैं और धनुष तिनके की तरह टूट जाते हैं। क्या आप भगवान बुद्ध के निकट धनुष और तलवार लेकर गये थे?

अजातशत्रु—(कुछ बोलता नहीं, सोचता है)

अम्बपाली—(मुस्कुराती हुई) और अम्बपाली के पास भी तलवार और धनुष लेकर नहीं आ सके।

अजातशत्रु—तुम इस भ्रम में न रहो कि मैं निःशस्त्र हूँ।

अम्बपाली—भगवान बुद्ध ने भी यह कभी न सोचा होगा कि मगधपति साधनहीन होने के कारण उनके पास निःशस्त्र गये थे।

अजातशत्रु—तुम अजीब नारी हो, अम्बपाली।

अम्बपाली—भगवान बुद्ध ने भी यही कहा था।

अजातशत्रु—उन्होंने और क्या कहा था?

अम्बपाली—उनसे मेरी बातें अभी रह गई हैं—वह फिर वैशाली पधारेंगे।

अजातशत्रु—अम्बपाली, राजगृह चलो। वहीं गृध्रकूट पर भगवान के दर्शन करना।

अम्बपाली—मगधपति, अपने को धोखे में मत रखिए। आप मुझे गृध्रकूट पर भगवान के दर्शन कराने के लिए आमंत्रित करने नहीं आये। भगवान और गृध्रकूट का दिव्य सन्देश आपने सुना होता, तो आप यहाँ इस रूप में आते ही नहीं। यहाँ पर आपको बोधिवृक्ष की छाया नहीं, मार की आँधी उड़ा ले आई है। लेकिन सोचिए, सम्राट्! जिसकी एक छोटी-सी तस्वीर ने आपके शरीर से पीला वस्त्र उतरवाया, नर-संहार पर उतारु कराया, उसका वहाँ सशरीर जाना आपके, राज-गृह के और मगध के लिए, क्या मंगल की बात हो सकती है?

[अम्बपाली की यह बात सुन वह थोड़ी देर असमंजस में पड़ जाता है; लेकिन, फिर जैसे सम्हलकर बोलता है।]

अजातशत्रु—मैं अकेला लौट नही सकता। (उसकी आवाज भर्राई हुई है)

अम्बपाली—सभी यही कहते हैं, सभी यही चाहते है, लेकिन, एक दिन सभी को अकेले लौटना होता है, मगधपति! यही होता आया है, यही होता रहेगा। आपसे पहल एक और मगधपति ने ऐसा ही कहा था....।

अजातशत्रु—एक और मगधपति ने? यह दूसरा मगधपति कौन?

अम्बपाली—क्या उनकी तस्वीर देखियगा? (वह झटपट एक मंजूषा से एक तस्वीर निकालती और अजातशत्रु को दिखाती है)

अजातशत्रु—यह तस्वीर तुम्हें कहाँ मिली नर्तकी!

अम्बपाली—और आपको वह तस्वीर कहाँ मिली मगधपति! मगधपति, आप घबरायें नहीं; राजनर्तकी का द्वार सबके लिए खुला है! हम यों ही कभी एक जगह अचानक मिलते हैं और यदि हमने सही मार्ग पकड़ा, तो एक दिन हम सभी एक साथ होंगे—अनन्त काल तक के लिए। सवाल सिर्फ क्षणिक और अनन्त के बीच चुनाव का है, सम्राट्!

[अजातशत्रु चुप हो जाता है—धीरे-धीरे टहलता है—किंतु, अब उसके चेहरे पर उत्तेजना या रोष की भयानकता नहीं, विषाद और

पराजय की भावना है—वह अचानक जैसे कुछ निर्णय कर लेता है और कहता है—]

अजातशत्रु—अम्बपाली, तुमने मुझे पराजित किया, मैं आज ही वापस जा रहा हूँ!

अम्बपाली—वैशाली-विजेता अम्बपाली को यह श्रेय दे रहे हैं, यह उनकी कृपा है!

अजातशत्रु—अजातशत्रु के हृदय में दया, ममता, कृपा, कृतज्ञता आदि कोमल भावनाएँ नहीं हैं, राजनर्तकी! यह सिर्फ जय जानता है और अपनी पराजय को जय मानने की क्षुद्रता इसमें नहीं है। लेकिन याद रखना, अजातशत्रु पराजय नहीं बर्दास्त कर सकता। मुझे वैशाली-विजय को फिर आना पड़ेगा—

अम्बपाली—आइएगा, पर अब पहले महामंत्री वस्सकार को नहीं भेजिएगा, सम्राट्!

अजातशत्रु—अब उसकी जरूरत नही रह गई, अम्बपाली! वैशाली-विजय का पथ तो प्रशस्त हो चुका है!

[वह झपटकर, तेजी से, वहाँ से चल पड़ता है—अम्बपाली उसकी पीठ को एकटक देखती रह जाती है—उसके मुँह से शब्द नहीं निकलते, लेकिन उसकी आँखें पुकार-पुकारकर कह रही हैं, यह अजीब पुरुष है!]

चौथा अंक

१

[रात का सन्नाटे का आलम—

वैशाली का एक प्रान्तर—बाँस का झोपड़ा, जिसके आगे बाँस से ही घिरा एक आँगन—झोपड़े के बरामदे पर एक चिराग टिमटिम कर रहा— झोपड़े के भीतर भी रोशनी—

झोपड़े के भीतर, दरवाजे के सामने, एक खाट पर अरुणध्वज पड़ा है— समूचा शरीर ढँका, सिर्फ सिर उघार—बाल बिखरे, चेहरा सूखा, गाल पिचका—नाक कुछ असाधारण तौर से उभड़ आई—धँसी आँखें बन्द—

जिस दिन वैशाली में मगध-सेना घुसी, यह घायल हुआ—जो तीर अम्बपाली की ओर आ रहा था, इसी ने अपने ऊपर ले लिया था—

जख्म बढ़ता ही गया—रात दिन बुखार में रहता है—मधूलिका की लाख कोशिश करने पर भी हालत नहीं सुधरी—आज उसकी हालत सब दिनों से खराब है—

उसके सिरहाने मधूलिका बैठी, अंगुलियों से उसके बालों को सहला रही है—उसके चेहरे से करुणा टपकी पड़ती है—कई दिन के उपवास और अनिद्रा ने चेहरे पर स्याही-सी पोत दी है—

कभी-कभी अरुण की आँखें खुलती हैं—वह छत की ओर देखता है, फिर मधूलिका की ओर देखता है—रह-रहकर हल्की-सी आह उसके गले से निकलती है और आँखे बन्द हो जाती हैं—

उसकी आँखें बन्द होते ही मधूलिका की आँखों से बड़े-बड़े मोती के दाने-से आँसू टपक पड़ते हैं—किन्तु, वह तुरत सँभल जाती है, जिसमें अरुण आँखें खोले, तो उसे आँसू नहीं दीख पड़े—चिकित्सक कह गये हैं, जरा-सा मानसिक धक्का इसकी बिगड़ी हालत को और खराब कर सकता है—

एक बार अरुण आँखें खोलते ही कहता है—"मधु, पानी"—मधूलिका झट खाट की बगल में रखी सुराही से कटोरे में पानी ढालकर उसे पिलाती है—पानी पीने के बाद अरुण कहता है—]

अरुणध्वज—मधु, अब रात कितनी है?

मधूलिका—अभी तीसरा पहरुआ जाग दे गया है।

अरुणध्वज—आह, भोर न जाने कब होगी?

मधूलिका—बस, अब भोर ही तो होगी, घबराओ नहीं।

अरुणध्वज—(छत की ओर एकटक देखते) देखती है, मधु? देख, देख, माँ बुला रही हैं।

मधूलिका—यह क्या बोल रहे हो?

अरुणध्वज—हाँ, हाँ, माँ बुला रही हैं—कल मेरी शादी होगी...

मधूलिका—ऊपर मत देखो, आँखें मूँद लो।

अरुणध्वज—आँखें मूँद लूँ? माँ से आँखें मूँद लूँ। पगली, वह मेरी शादी के सपने देखती स्वर्ग गईं। स्वर्ग में मेरे लिए एक दुलहन खोज रखी है उन्होंने। और उनसे आँखें मूँद लूँ?

मधूलिका—(उसकी आँखों पर हाथ फेरता) सो जाओ, अरुण, सो जाओ।

अरुणध्वज—सो जाऊँ। अकेले नींद नहीं आती मधु! कल स्वर्ग में ही सोऊँगा। दुलहन के साथ सोऊँगा। तू भी चल न मधु! मै दुलहन के साथ सोऊँगा, तू गीत गाना—

मधूलिका—(उसकी आँखों से बरबस आँसू ढुलक आते हैं)

अरुणध्वज—तू तो फिर रो पड़ी। चल तू भी स्वर्ग चल। वहीं तेरी भी शादी कर देंगे। तू भी निश्चिन्त सोयेगी। यहाँ हमेशा रोते रहने से क्या फायदा भला?

मधूलिका—(आँसू पोंछती, आजिजी की आवाज में) सो जाओ, अरुण, वैद्यजी ने कहा है, बोलो मत।

अरुणध्वज—वैद्यजी ने कहा है? यह वैद्यजी कौन होते हैं मधु?

मधूलिका—सो जाओ। (उसाँसें लेती है)

अरुणध्वज—(कुछ उत्तेजना में) नहीं, बता यह वैद्य कौन होते हैं? वे कौन होते हैं कहनेवाले कि मैं सोऊँ! वैद्य। वैद्य मुझे क्यों कहेंगे?

मधूलिका—तुम बीमार जो हो!

अरुणध्वज—मैं बीमार हूँ? मैं बीमार? मैं बीमार हूँ, तो मेरी शादी कैसे होगी? (छत की ओर देखते) क्यों माँ, मैं बीमार हूँ? मै बीमार हूँ? तो क्यों कह रही थी कि मेरी शादी होगी? (मधु से) मैं कब बीमार पड़ा रे?

मधूलिका—जोर से मत बोलो, उस दिन तुम्हीं न जख्मी हुए।

अरुणध्वज—हाँ, हाँ, मैं उस दिन जख्मी हुआ। उफ्, कैसा वह तीर था, गले में आ लगा। मधु आह! (कराहता है) जोरों से दर्द कर रहा है, मधु! उफ्!

मधूलिका—सो जाओ, जोर से मत बोलो। वैद्य जी ने कहा है, जोर से बोलने पर जख्म का टाँका टूट जाने का डर है—गले का जख्म है न?

अरुणध्वज—टाँका टूटेगा, तो क्या होगा, रे!

मधूलिका—चुप हो अरुण, सो जाओ।

[मधूलिका उसके बालों में फिर हाथ सहलाने लगती है—अरुण आँख मूँद लेता है—मर्मान्तक पीड़ा दबाने की कोशिश की बेचैनी और बेकली उसकी पेशानी पर झलक रही है—मधूलिका की आँखें से आँसू टपकते हैं—

थोड़ी देर तक आँखे मूंदे रहता फिर अरुणध्वज आँखें खोलता और मधु से पानी माँगता है—मधूलिका पानी पिलाती है—पानी पीकर छत की ओर दखता, बोलता है—]

अरुणध्वज—मधु, देख! वह माँ क्या कह रही हैं?

मधूलिका—चुप रहो अरुण, वहाँ माँ नही हैं।

अरुणध्वज—माँ नहीं हैं? क्या कहा, माँ नहीं हैं? माँ नहीं हैं, तो वह कौन है, रे! (ऊपर) क्यों माँ तू नहीं है? (मधु से) दख वह माँ ही तो हैं। पहचान, पहचान—

मधूलिका—चुप रहो, अब अम्बा आती होगी।

अरुणध्वज—(रूठने की आवाज में) अम्बा आती होगी! हाँ-हाँ, तू रोज मुझे ठगती है—'चुप रहो, अम्बा आती है; चुप रहो, अम्बा आती है'—मैं हर बार चुप होता हूँ, किन्तु, अम्बा कहाँ आई?

मधूलिका—इस बार जरूर आयेगी, तुम चुप तो होओ।

अरुणध्वज—क्यों मधु, अम्बा शादी नहीं करेगी? आती है, तो कहना, वह भी स्वर्ग चले। हम तीनों वहीं शादी करेंगे। शादी करेंगे! निश्चिन्त सोयेंगे! (अचानक उत्तेजित होकर) देख मधु, वह अम्बा पर तीर...तीर आ रहा है रे, तीर...तीर! (चिल्लाता है, उठने की कोशिश करता है)

मधूलिका—(उसे पकड़कर सुलाती हुई, तेजी से) तुम नहीं सोओगे? मैं जहर खाकर रहूँगी।

अरुणध्वज—जहर! (बेचैनी प्रगट करते हुए) नहीं, नहीं मधु, मैं सोता हूँ, तू जहर मत खा, मधु! तेरे बिना मुझे कौन देखेगा? (जख्म पर हाथ ले जाते) आह, दर्द! उफ्!!

मधूलिका—जरा दवा ले लो। (दवा पिलाती है)

अरुणध्वज—(दवा पीकर) मौसी कब आवेगी मधु?

मधूलिका—वह आती ही होगी। मैंने रथ भिजवाया है कि वह तुरत रातोरात आ जायँ। अब पहुँचती ही होंगी।

अरुणध्वज—तू यह क्या पिला देती है, मधु! मुझे नींद आ रही है। मौसी आवें, तो जगा देना।

[वह आँखें मूँद लेता है—थोड़ी देर बाद उसे नींद आ जाती है—

मधूलिका घर से बाहर आती है—आँगन में देखती है, शुक्र तारा पूरब के आसमान में काफी ऊपर उठ चुका है—उधर तुला (डंडी-तराजू) पश्चिम क्षितिज पर जा चुकी है—

रथ का घर्र-घर्र शब्द होता है—मधूलिका उधर चौकन्ना होकर देखती है—देखती है सुमना के साथ अम्बपाली आँगन में घुस रही है—]

मधूलिका—तू। (लपकती हुई) तू? तू कहाँ से अम्बे?

अम्बपाली—(मधूलिका से लिपट जाती है) तूने मुझे खबर क्यों न की मधु? उफ्, अरुण कहाँ है?

मधूलिका—जोर से मत बोल, उसे अभी नींद आई है।

अम्बपाली—सुना कि तू इतने दिनों से यहाँ है? अरुण को यह क्या हुआ? कैसा है वह जख्म?

मधूलिका—यह सब मत पूछ अम्बे! दुनिया की यही रीत है। जमीन पर अकेला चकोर तड़पता है, आसमान में तारों से घिरा चाँद हँसता है। सबकी अपनी-अपनी तकदीर होती है!

अम्बपाली—यह तू क्या बोल रही है, मधु?

मधूलिका—हाँ, अपनी-अपनी तकदीर। तू राजनर्तकी बनी, अरुण पागल बना, मैं भिखारिन बनी। अब अरुण जा रहा है... (उसकी आँखों से टपटप कुछ बूँदे गिर पड़ती हैं)

अम्बपाली—हाय, यह क्या? मुझे उसे देखने दे मधु?

मधूलिका—दूसरी गलती मत कर अम्बे! वैद्य जी कह गये है, अधिक उत्तेजना होने से जख्म का टाँका टूट जाने का डर है। कंठ का जख्म है, अब खून जारी हुआ, तो फिर उसका बचना......

अम्बपाली—कंठ का जख्म! यह क्या हुआ? कैसे हुआ?

मधूलिका—यह भी तेरे ही चलते।

अम्बपाली—मेरे चलते?

मधूलिका—हाँ, राजनर्तकी बनने से ही तेरा मन न भरा, तो उस दिन तुझ वीरांगना बनने का शौक हुआ था न? उस वैशाली की चढ़ाई के दिन? तेरा वह व्याख्यान? पागल अरुण ने जिद्द की, मुझे घोड़ा मोल ले दो, मैं लड़ूँगा। वह लड़ाई में गया। हमेशा तेरे पीछे-पीछे लगा रहा। शायद एक तीर तुझपर चला था?

अम्बपाली—(रोती हुई) अरे, वह अरुण था! हाय-हाय, मैं ही उसकी मृत्यु की वजह......तूने मुझे खबर क्यों न की मधु? आह!

मधूलिका—न खबर की, न करती। (सुमना से) मौसी, आपने यह क्या किया? आपको सीधे यहाँ आना था।

सुमना—मैं क्या जानूँ, मधु! मातृत्व मुझे पहले अम्बा के घर घसीट ले गया। इसने पूछा, कहाँ? मैंने कहा, मधु ने बुलाया है। तेरा नाम सुनकर ही चौंकी और अरुण की बीमारी का हाल सुनते ही तेरे भेजे रथ पर यहाँ चली आई! विधाता, यह क्या सुन रही हूँ, देख रही हूँ? (उसका गला भर आता है)

[इसी समय घर से कराह की आवाज आती है—तीनो चुप हो जाते हैं—"तुम दोनो बरामदे पर ठहरो" कह कर मधूलिका दौड़ कर भीतर जाती है—]

अरुणध्वज—पानी, मधु।

मधूलिका—(पानी देती) पी लो।

अरुणध्वज—(पानी पीकर) अब भोर में कितनी देर है मधु?

मधूलिका—भोर होने ही जा रही है।

अरुणध्वज—मौसी भी नहीं आईं?

मधूलिका—तुम चिल्ला पड़ते हो, उठने की कोशिश करते हो, मौसी कैसे आवें भला!

अरुणध्वज—अब न चिल्लाऊँगा, न उठूँगा। मधु, मौसी के दर्शन करा।

मधूलिका—वादा करते हो न?

अरुणध्वज—तेरी कोई बात टाली है?

मधूलिका—अच्छा बुला लाती हूँ, रथ आ गया है, वह पहुँच गई है।

[मधूलिका बरामदे पर जाती है—अम्बपाली को इशारे से ठहरने और चुप रहने को कह सुमना को लिये वह घर में जाती है—अम्बपाली अपनी कान टट्टी से लगाये बरामदे पर खड़ी है—सुमना को देखते ही अरुण का चेहरा खिल पड़ता है—]

अरुणध्वज—मौसी, मौसी, प्रणाम?

सुमना—आह, बेटा! (वह अरुण से लिपटती और उसका माथा चूमती है)

अरुणध्वज—मौसी, कल मेरी शादी है, तुम अच्छी आई!

सुमना—(चुप, आँखों में आँसू)

अरुणध्वज—तुम रोती हो मौसी? मेरी शादी है, और तुम रोती हो! देखो, (छत की ओर ऊँगली उठाकर) वह माँ स्वर्ग से बुला रही हैं। वहीं शादी होगी! तुमने भी कहा न था मौसी, अरुण तू सयाना हुआ, वधू क्यों नहीं लाता?

मधूलिका—मुझसे वादा कर चुके हो न? चुपचाप सोओ, अरुण!

अरुणध्वज—(सुमना से) देखती हो मौसी, मधु कहती है, चुप-चाप सोओ। कल मेरी शादी है, आज कैसे चुपचाप सो जाऊँ मौसी?

सुमना—चुप रहो, बेटा।

अरुणध्वज—चुप रहो, बेटा! (छत की ओर देखता) माँ, चुप रहूँ? बोलो, तुम बोलती क्यों नही माँ? (सुमना से) मौसी, मौसी, देखो, देखो वह माँ नाराज हो रही है! ...माँ, माँ!...

सुमना—बेटा, बेटा मेरी ओर देखो!

अरुणध्वज—मौसी, मौसी! तुम भी स्वर्ग चलो! मैं चलता हूँ, मधु चलती है, तुम भी चलो! (छत पर नजर ले जाकर) माँ, मैं आया! माँ! आया...आया! (दोनों हाथ ऊपर फैला देता है) मौसी, मौसी, छोड़ो मौसी! माँ बुला रही हैं—माँ,... माँ,...माँ,... (चिल्लाने लगता है, उठने की कोशिश करता है)

मधूलिका—(उसके मुहँ पर हाथ रखती) अरुण, चुप रहो अरुण!

अरुणध्वज—(झटक देकर उसका हाथ हटा देता है) मधु, छोड़ मधु! मौसी, मौसी....आह, माँ, बुला रही है! (गुस्से में पुकारता) तू नहीं छोड़ती मधु, तुम नहीं छोड़ती मौसी?

मधूलिका—(आँसुओं की धारा में) अम्बा आ रही है अरुण! शांत हो, चुप हो!

अरुणध्वज—(अम्बा का नाम सुनते ही पूर्व-सा ही फिर सहसा शांत होकर) अम्बा आ रही है, मधु? मौसी, अम्बा आ रही है? ...नहीं, नहीं अम्बा नहीं आयेगी...अम्बा...मौसी, माँ कहती है, मेरी दुलहन अम्बा ऐसी है...अम्बा ऐसी (मुस्कुराता है)...नहीं, नहीं, अम्बा नहीं आयेगी...वह क्यों आवे?...वह राजनर्तकी है—'मधु, मैं राजनर्तकी! अरुण, मैं राजनर्तकी!...' नहीं, अम्बा नहीं आयेगी?

मधूलिका—मैं कह रही हूँ, तुम जरा चुप हो रहो—अम्बा आई ही!

अरुणध्वज—(फिर मुस्कुराता) अम्बा आई ही।...अम्बा...आई ही! (चौंककर दरवाजे की ओर इशारे करता) हाँ, हाँ, अम्बा आई तो...वह अम्बा आई...अम्बा! अरे, यह क्या? ...मधु... मधु... तीर...तीर...अम्बा की ओर तीर,..अम्बा की ओर तीर...बचा रे, बचा...तीर...तीर...तीर...

[आँखें फाड़ता चिल्लाता, वह पूरे जोर से उठना चाहता है—मधूलिका और सुमना उसे पकड़ती हैं—दोनों स्त्रियों की आँखों से आँसू बह रहे हैं— इधर इन बातों को सुनकर बरामदे पर अम्बपाली जार-बेजार रो रही है, उसे हिचकियाँ पर हिचकियाँ आ रही हैं—लेकिन मुँह से आवाज नहीं निकलने देती।]

सुमना—बेटा, अरुण बेटा!

अरुणध्वज—(कुछ शांत होकर) मौसी,...माँ,!...मौसी, माँ! माँ, माँ,...मौसी, मौसी...(जैसे फिर वायु का दौरा आ जाय) देखो, देखो मौसी...अरे, तीर, तीर...अम्बा पर, अम्बा पर...तीर...तीर ...छोड़ो मौसी...छोड़ मधु...तुम नहीं छोड़तीं...तू नहीं छोड़ती... छोड़...छोड़...

[अचानक न जाने उसमें कहाँ से ताकत आ जाती है—वह दोनों औरतों को झटके दे देता है और आधा खड़ा हो जाता है—फिर दोनों उससे लिपट जाती हैं—इतने में मधूलिका का ध्यान उसकी गर्दन पर जाता है—टाँका टूट जाने से गर्दन की पट्टी पर खून की धारा बही जा रही है—मधूलिका चीख उठती है—]

मधूलिका—मौसी, खून! टाँका टूट गया मौसी! हाय! अम्बे, अम्बे! वैद्य-वैद्य!

[अब अम्बपाली से नहीं रहा जाता है—वह घर में घुसती है और 'अरुण-अरुण' चिल्लाती उससे लिपट जाती है—

अरुण अम्बपाली की आवाज सुनते ही ढीला पड़ जाता है, उसको देखते ही, उसकी आँखें चमक पड़ती हैं—वह बिछावन पर लेट जाता है और उसके मुँह से निकल पड़ता है—]

अरुणध्वज—अम्बे, अम्बे!

अम्बपाली—अरुण, हाय अरुण!

मधूलिका—(खून से लथपथ पट्टी पर हाथ रखे) अम्बे, वैद्य ला अम्बे! जा, जा—अम्बे, अम्बे!

[अम्बपाली उठना चहती है—अरुण उसका हाथ पकड़ लेता है—उस हाथ को वह अपनी छाती पर खींच कर ले जाता है—आँखों को मूँदते हुए वह धीमे-धीमे कहता है—]

अरुणध्वज—अम्बे, तू आ गई...तू भी चल अम्बे...चलेगी...चल...(धीरे-धीरे आँखें खोलते और छत की ओर देखते हुए) देखती है अम्बे ...माँ बुला रही हैं...माँ...माँ...माँ......

[उसके होठों पर मुस्कान की रेखा खिंच जाती है—चेहरे पर एक ज्योति दौड़ जाती है—फिर खुली आँखें खुली ही रह जाती हैं और साँस का चलना एकाएक रुक जाता है—इस ओर सबसे पहले सुमना का ध्यान जाता है—वह चिल्ला उठती है—]

सुमना—हाय, हाय! यह क्या हुआ ? अरुण! अरुण!

मधूलिका-अम्बपाली—(एक साथ ही) अरुण! अरुण!

सुमना—(उसकी नाक के सामने हाथ ले जाकर) सर्वनाश अम्बे! अरुण नहीं रहा मधु!

[सुमना और अम्बपाली अरुण की लाश से लिपट जाती और "अरुण, अरुण" चिल्लाती हैं—लेकिन अचानक मधूलिका की मुख-मुद्रा गम्भीर हो जाती है—वह गम्भीरता से बोलती है—]

मधूलिका—सुन, अम्बे! (जोर से) अम्बे सुन!

अम्बपाली—(आँसुओं से भींगा चेहरा उठाती) मधु, अरुण! हाय अरुण!...

मधूलिका—रोने-धोने से न बनेगा अम्बे! मैं अब चली!

अम्बपाली—मधु! मधु!!

मधूलिका—मधु, मधु, नहीं! मधु चली। यह तेरा बोझ था अम्बे! इसकी जिन्दगी मैंने ढोई, अब लाश तू ढो!

अम्बपाली—मधु, मधु! यह क्या मधु? ओहो (रोती है)

मधूलिका—हाँ, जो जिन्दगी नहीं ढोता, उसे लाश ढोनी पड़ती है अम्बे! तू लाश ढो, तब समझ सकेगी, किसी की जिन्दगी ढोना क्या चीज है! मैं चली मौसी, प्रणाम!

सुमना—बेटी। बेटी!

[मधूलिका झट घर से निकलती है—तीन-चार डग में ही वह आँगन में आ जाती है—'मधु-मधु' पुकारती अम्बपाली उसके पीछे आती है—मधूलिका मुड़कर—"जिन्दगी नहीं ढोई तो लाश ढो" कहती आँगन से बाहर हो अंधकार में अन्तर्धान हो जाती है—]

२

[अम्बपाली का सोने का कमरा—वह पलँग पर लेटी है—एक कोने में धुँधली रोशनी टिमटिम कर रही है—वह बार-बार करवटें बदलती और आखिर आँखें खोलती हुई उठ बैठती है—फिर पलँग के नीचे आकर टहलने लगती है—

थोड़ी देर टहलकर फिर पलंग पर जाती है और सोने की चेष्टा करती है—आँखें मूँदती, करवटें बदलती और हारकर, नींद न आती देख, फिर पलँग के नीचे आती है—दीवार पर जो वीणा टँगी है, उसे लेकर बजाने लगती है—

उसका वेष बिल्कुल शृंगार-भूषा से हीन है—बाल खुले, चेहरा उदास—करुणा की मूर्ति सी वह दीख पड़ती है—]

अम्बपाली—(वीणा पर वह गाती है—)

टूटते जब बीन के है तार!
उँगलियों का हो भले नर्त्तन,
कंठ का स्वर दे मनोहर स्वन,

ताल हो, लय हो,
मूर्च्छना हो, मींड़ हो, संगीत की जय हो!
किन्तु, फिर उठती नहीं वह प्राणमय झंकार,

जो बहाती जगत में रस-धार,
और लाती जिन्दगी में भावना का ज्वार!

प्रेम के गुंजार के बदले—
प्रकट होता विषम हाहाकार!
टूटते जब बीना के हैं तार!!

[गाते-गाते उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बही जा रही है—उसी समय चयनिका दरवाजे से झाँकती और भीतर आती है—वह हौले पाँव आकर उसके पास खड़ी है और अम्बपाली रोये और गाये जा रही है—जब गाना समाप्त होता है, चयनिका कहती है—]

चयनिके—भद्रे, आज भी अब तक नहीं सोईं?

अम्बपाली—(चौंक कर आँसू पोंछती) ओहो, चुन्नी! कितनी रात गई रे!

चयनिका—रात क्या गई, अब तो शुक्र तारा उग चुका। यों सारी-सारी रात जगना क्या उचित है, आर्ये!

अम्बपाली—शुक्र तारा! उस रात भी शुक्र तारा उग चुका था! (उसाँस लेती है, लेकिन, तुरत महसूस करती है कि वह क्या बोल गई और बात बहलाने को सोच ही रही है कि चयनिका पूछती है—)

चयनिका—(साश्चर्य)—किस रात भद्रे! यह क्या बात है कि जब से उस रात मौसी आईं और आप उनके साथ गईं, तब से आप ज्यों ही अकेली हुईं कि रोने लगीं! यह रात-दिन का रोना!!

अम्बपाली—रात-दिन का रोना! चयनिके, विधाता ने मानवता को भाषा क्यों दी? क्यों न यह भी कुररी-सी रोती, कोयल-सी कुहकती, पंडुक-सी कुहरती और बुलबुल-सी चीखती अपनी जिन्दगी बिता देती है! बातों में इसे कौन-सा रस मिलता है, चुन्नी!

चयनिका—कोई क्षण ऐसा भी होता होगा आर्ये, जब कुररी, कोयल, पंडुक या बुलबुल की जिन्दगी में आनन्द की रसधारा बहती होगी। अगर ऐसी बात नहीं होती, तो वे जिन्दा नहीं रह पातीं भद्रे!

अम्बपाली—आनन्द की रसधारा! आनन्द की रसधारा की तह में क्या है, क्या अम्बपाली से बढ़कर कोई जानता है? जिस तरह अंगूर को तोड़कर सड़ाकर शराब बनाई जाती है—उस हरे-हरे गोल-गोल, रस से शराबोर, मिठास से लबालब गुच्छों को पुराने बर्त्तन में रखकर, ढँककर, जमींदोज कर, सड़ा-गला कर आदमी शराब का नाम देता और उसके— गले को जलानेवाले, झुलसानेवाले घूँट पीकर मस्त बनता, पागल बन जाता है; आनन्द की रसधारा भी कुछ ऐसी ही चीज है चयनिके! यह रसधारा नहीं मृग-मरीचिका है। यदि मानवता इस मृग-मरीचिका में न फँसी होती, तो न जाने कब न उसने देवत्व प्राप्त कर लिया होता!

चयनिका—मैं इन बड़ी-बड़ी बातों को नहीं समझ पाती भद्रे! लेकिन, यह दिन-रात का रोना—उफ्!

अम्बपाली—फिर वही बात! रुदन इतनी घृणा या उपेक्षा की चीज नहीं है, चयनिके! मानती हूँ, एक जमाना था, मैं भी उसे इसी दृष्टि से देखती थी लेकिन, तब मै भ्रम मे थी, चुन्नी। जिस तरह दुनिया का पाप-ताप धोने को गंगा भू पर अवतीर्ण हुईं, उसी तरह मानवता के पाप-ताप, दर्द-जलन धोने-बुझाने को विधाता ने आसुओं की गंगा-यमुना बहाई है। हमारे हृदय-कमंडलु में संचित यह पावन धारा, किसी दर्दीले भगीरथ की संवेदना या कातर याचना पर, अचानक ऊर्ध्वगामी होती, मस्तक-हिमाचल पर लहराती, फिर काल-ऐरावत के दो दाँतों द्वारा दो आँखों की राह पाती, हरहर करती, गिरती है और अपनी उज्जवल युगल धारा में जग की सारी कालिमा और किल्विष को बहा ले जाती है! यदि किसी की आँखों में आँसू देखो, उसे नमस्कार करो! आँसुओं पर घृणा या उपेक्षा संसार की सबसे बड़ी नास्तिकता है, चयनिके!

चयनिका—उपेक्षा या घृणा की धृष्टता इस अनुचरी से क्या हो सकती है, भला! मैं तो देवी के आँसुओं को देखते ही धीरज खो देती हूँ। इधर तो आप दर्पण भी नहीं देखती, नहीं तो अपना चेहरा देख पातीं—

अम्बपाली—चेहरा! चेहरे का रहस्य भी अच्छी तरह समझ चुकी हूँ, चुन्नी! गालों के गुलाब में कितनी गंध है, भवों की कमान में कितनी तीरंदाजी है; अधरों के बिम्ब में कितना रस है, दाँतों के दाड़िम में कितनी मिठास है; नासिका के शुक में कितनी उड़ान है, आँखों के खंजन में कितनी परवाज़ी है; ललाट के चाँद में कितना अमृत है और लटों के साँप में कितना जहर है—सब देख चुकी, आजमा चुकी, जान चुकी! उसकी 'हाँ' देखी, उसकी 'ना' देखी। उसकी 'हाँ' देखी—मगधपति के सामने, उसकी 'ना' देखी—भगवान बुद्ध के सामने! और लोग तो दोनों छोरों के बीच में चक्कर काटते ही रह गये, चयनिके!

चयनिका—देवी, आप में अपने से, संसार से इतनी उदासीनता, इतनी विषण्णता क्यों पा रही हूँ?

अम्बपाली—अपने से उदासीनता, संसार से उदासीनता—दोनों का एक ही मतलब है, चयनिके! जबतक अपने से उदासीनता न हो, संसार से उदासीनता हो ही नहीं सकती। और संसार के धक्के ही तो अपने में उदासीनता पैदा करते है। 'स्व' और 'संसार' का एक अजीब गोरखधंधा आदि काल से चला आ रहा है! ये एक-

दूसरे को प्रभावित किया करते हैं और इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के भँवर में मानव-मन तुच्छ तिनके-सा डूबता-उतराता रहता है! अम्ब-पाली अबतक भँवर के ऊपर नाच रही थी, अब वह उसकी चपेट में गोते खा रही है।

चयनिका—लेकिन क्या अनुचरी को इतना भी हक नहीं है कि वह उस बात को जाने, जिसने वैशाली की राजनर्तकी के विशाल हृदय को भी यों व्यथित, द्रवित कर दिया है!

अम्बपाली—तुम्हें सब कुछ जानने का अधिकार है, चयनिके! तू ही है, जिससे मन की बातें कहकर दिल हल्का करती आई हूँ! लेकिन दुनिया में कुछ ऐसी बातें हैं, जो कही नहीं जा सकतीं और जिनके न सुनने में ही कल्याण है।

चयनिका—तो देवी रोया करें और मैं चुपचाप देखा करूँ? क्या मैं पत्थर की बनी हूँ, क्या मेरे हृदय नहीं? इससे तो अच्छा है, चयनिका की मुश्क बाँध दें, उसे तहखाने में डाल दें कि वह घुट-घुट कर वहीं मर जाय! (उसका गला भर आता है, आँखें उमड़ पड़ती हैं)

[अम्बपाली वीणा को पलँग पर रख देती और हाथ पकड़कर चयनिका को अपने निकट बैठाती है—फिर उसकी ठुड्डी हाथ में ले दुलारती हुई कहती है—]

अम्बपाली—पगली, तू ऐसा करेगी, तो मेरी गति क्या होगी? जब नाव डूबती है तो सिर का घास का गट्ठर ही—तुच्छ तिनकों का वह समूह ही— उसके ढोनेवाले के प्राण का रक्षक सिद्ध होता है। कम-से-कम कुछ देर तक उसे पकड़ कर वह अपने को बचाये रखता ही है। अम्बपाली की नाव टूट चुकी है, चयनिके! वह अपनी जल-समाधि स्पष्ट देख रही है—जल-समाधि या सम्यक् समाधि! (सामने दीवार से सटी बुद्ध की मूर्त्ति पर उसकी नजर जाती है और वह उसे सिर नवाती है)

चयनिका—(आश्चर्यमुद्रा में) तो क्या आप बौद्ध-धर्म स्वीकार करने जा रही हैं?

अम्बपाली—अब समझ में आई है, चुन्नी, कि आदमी क्यों विराग लेता है, क्यों भिक्षु बनता है। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो स्वभाव से ही दुनिया के रागरंग से परे होते हैं। उनका मन प्रशान्त सागर होता है, जिसमें कितनी ही नदियाँ पानी डालें, जिसके ऊपर कितनी ही कलाओं से चन्द्रमा चमके, लेकिन जिसमें न तो बाढ़ आती है,

न तरंगें उठती हैं—(उँगली से बुद्ध-मूर्त्ति को दिखाती) देख, उस ओर! कैसी शाश्वत शांति! कामना या भावना की एक रेखा भी कहीं पाती है? लेकिन, ज्यादातर मानव-मन झरने की तरह होता है, जो शुरू में कलकल-छलछल करता, तरंगों से युक्त, फेनों से भरा, कभी इधर, कभी उधर भटकता-बहकता चक्कर काटता, गिर्दावें भरता, अन्ततः नदी या नद में परिणत हो, अपनी गति मे आप ही क्षुब्ध, अपनी उठाई हुई लहरों से आप ही थपेड़ खाकर हाहाकार, आर्त्तनाद कर उठता है और त्राहि-त्राहि करता किसी सागर में अपने को रख देता है। हाँ, यहाँ भी भाग्य पर निर्भर है कि वह प्रशान्त सागर प्राप्त करता है या फिर किसी वंगोपसागर की घूर्णि में ही हाहा खाता रहता है। संन्यास या भिक्षुपन कुछ नहीं, थकी हुई आत्मा का आत्मसमर्पण है चयनिके! अम्बपाली भी थक चुकी। अब इससे यह बोझ नहीं ढोया................

[वह अचानक रुक जाती है—छत की ओर देखती है—उसके भय-विस्फारित नेत्रों की टकटकी देख चयनिका काँप उठती है—देखते-देखते अम्बपाली के गाल आँसूओं से तर हो जाते हैं—चयनिका घबराई हुई कहती है—]

चयनिका—आर्ये, आर्ये! यह आप क्या देख रही हैं?

अम्बपाली—(अपने को सम्हालती, आँसू पोंछती) क्या देख रही थी! अच्छी बात है, चुन्नी, तू नहीं देख पाती। (कुछ रुककर) अच्छा, तूने किसी से प्रेम किया है, रे!

चयनिका—(लज्जा से गड़-सी जाती है) आर्ये!

अम्बपाली—तू संकोच कर रही है। ठीक ही तो। इससे बढ़कर बेवकूफी का सवाल और क्या हो सकता है—'तूने प्रेम किया है!' जैसे, प्रेम कहने की चीज हो। जो जबान पर आये, वह भी क्या प्रेम है? हमारे ऋषियों ने कहा है, सुकर्म को जिह्वा पर मत लाओ, जिह्वा पर अग्निदेव हैं, वह उसे जला देंगे, भस्म कर देंगे। बहुत ही सही चयनिके! कोई भी पावन चीज जिह्वा पर नहीं लानी चाहिए! फिर प्रेम! जिह्वा अग्नि है, तो प्रेम बर्फ। वह तो उसकी आँच से ही गल जाती है! राधा किसी से अपनी प्रेमव्यथा कहने गईं—हाँ उनका मूक प्रेम कितने कवियों की वाणी का शृंगार बन गया और अनन्त काल तक बनता रहेगा। यही प्रेम की महत्ता है! इसी वैशाली में रहकर अरुण क्या अम्बपाली से अपना प्रेम कहने आया और हमेशा

उसके साथ छाया-सी घूमती हुई भी मधूलिका ने अरुण से अपना प्रेम कहा ! (उसका गला भर आता है)

चयनिका—भद्रे, यह सब आप क्या कह रही हैं ?

अम्बपाली—चुप रह चयनिके, चुप रह। मौसी ने कहा था, यह अभिमान नहीं, आत्मवंचना है, अम्बे। अब उनके कथन की सचाई मालूम हो रही है। शृंगार, संगीत, उत्सव—ये सब क्या चीजें हैं, तू जानती है ? यों ऊपर से देखने पर तो आत्म-प्रदर्शन के साधन मालूम होते हैं, लेकिन जरा गहरे जा, तो मालूम होगा, इनके द्वारा आदमी अपने को भुलाने की चेष्टा करता है। अपनी शारीरिक त्रुटि को शृंगार से ढँकना चाहता है, अपने हृदय के हाहाकार को वीणा की गुंजार में छिपाना चाहता है और अपने दुख-शोक को उत्सव में विलीन करना चाहता है। उफ्, मानव, मानव, तूने अपने को धोखे में रखने के लिए क्या-क्या न प्रयत्न किये ! लेकिन हाय रे, मानव ! अभिशाप ने कभी तेरा साथ न छोड़ा। वह छाया बनकर तेरे पीछे लगा है, पड़ा है ! ज्यों-ज्यों तू प्रकाश की ओर दौड़ता है, वह और भी स्पष्ट और लम्बा होता जाता है ! अम्बपाली, अम्बपाली, इतने दिनों तक तू जिसे भुलाये रही, उसने एक दिन तेरी सारी हेकड़ी भुला दी (अपने हाथों से चेहरा ढँक लेती है) उफ्, आह !

चयनिका—(सिसकियाँ भरती) भद्रे . . भद्रे !

अम्बपाली—(चेहरे से हाथ हटाती है, सारा चेहरा आँसू में भींगा है) चुन्नी, चुन्नी ! . . . . . . समझा, तू सोने को कहेगी ! मेरी प्यारी बच्ची, तेरी आज्ञा सिर-आँखों पर ! (उसकी ठुड्डी पकड़ती और चूमती है) लेकिन, चयनिके, अम्बपाली के सोने के दिन चले गये। अब तो उसके कंधों पर एक थाती दे दी गई है ! उफ् री निठुर थाती ! (फिर छत की ओर देखती) मधु-मधु, तू यह क्या कर गई रे ! मुझसे यह नहीं ढोई जाती है, मधु ! "जो जिन्दगी नहीं ढोता, उसे लाश ढोनी पड़ती है !" काश, तू जान पाती, मैंने जिन्दगी भी लाश ही की तरह ढोई है ! !

३

[वैशाली का कूटागार—एक ऊँचे टीले पर बना एक रमणीक विहार—विहार का पश्चिमी बरामदा—

सूरज डूबने जा रहा—डूबते हुए सूरज से ऐसी तिरछी लाल किरणें फूट रही हैं, जैसी भोर में दिखाई पड़ती है—हाँ, भोर की किरणों में जहाँ सुनहलापन अधिक होता है, इनमें लाली अधिक है—

कुछ चिड़ियाँ इस लाली भरी पृष्ठभूमि में उड़ती क्षितिज की ओर जा रही हैं—वे ऐसी मालूम होती हैं, मानों लाल सागर में बच्चों ने रंगीन कागज की छोटी-छोटी नावें बहा दी हों—

डूबते हुए सूरज की इस लाली से बरामदे का यह हिस्सा अजीब सुनहला लग रहा है—बरामदे की एक-एक चीज दिप-सी रही है—सूरज की ओर रुख किये ध्यानमग्न बैठे गोरे भगवान बुद्ध तो बिल्कुल सोने की मूर्त्ति-से लग रहे हैं— शरीर में जरा भी स्पन्दन तक नहीं अनुभव होता—

भगवान बुद्ध से थोड़ी दूर हटकर भिक्षु-प्रवर आनन्द बैठे भगवान बुद्ध का चेहरा विमुग्ध होकर निहार रहे हैं—

[अम्बपाली आती है—बिल्कुल सादा है वेश उसका—हौले-हौले भगवान के निकट पहुँच उन्हें सिर झुका मौन-ही-मौन प्रणाम करती और आनन्द के इशारे पर कुछ दूर हटकर बैठ जाती है—

कुछ देर में भगवान बुद्ध आँखें खोलते हैं—सूरज की ओर देखते हैं— अम्बपाली उठकर फिर उन्हें प्रणाम करती है—वह मुस्कुरा पड़ते हैं, कहते हैं—]

भगवान बुद्ध—आप आ गईं, भद्रे!

अम्बपाली—हाँ, भगवान!

भगवान बुद्ध—आपका यह वेश?

अम्बपाली—मैं देख चुकी भगवान, आदमी दो में से एक का ही शृंगार कर सकता है—तन का या मन का।

भगवान बुद्ध—सबसे बड़ा सत्य वही है, भद्रे, जिसपर आदमी खुद अपने अनुभवों से पहुँचे।

अम्बपाली—लेकिन मेरे-ऐसे अनुभवों से पार होने का दुर्भाग्य किसी को भी प्राप्त न हो, भगवान!

भगवान बुद्ध—(मुस्कुराते हुए) वैशाली की राजनर्तकी और दुर्भाग्य!

अम्बपाली—(खिन्न स्वर में) भगवान, मुर्दे को काँटों में मत घसीटिए! जो जिन्दगी भर दीपशिखा-सी खुद जलती और दूसरों को जलाती रही, अगर उसकी भी जिन्दगी सौभाग्य ही हो, तो फिर दुर्भाग्य कहेंगे किसे, भगवान?

भगवान बुद्ध—जब वासनाओं से विरक्ति आ जाय, तब समझना चाहिए, अन्तर का देवता जग उठा!

अम्बपाली—अन्तर का देवता क्या है, मैं नहीं जानती, भगवान। हाँ, मेरे अन्तर में आग लगी है; जो मुझे जला रही है, झुलसा रही है, यह अनुभव करती हूँ। हृदय में जैसे चिनगारियाँ फूटती रहती हैं; नसों में, शिराओं में खून की जगह जैसे बिजली दौड़ती रहती है! जागरण, जैसे वृश्चिक-दंशन! निद्रा, जैसे शूल-शयन! यह जिन्दगी है या मौत? (कातरता से) मुझे बचाइए, भगवान्

भगवान बुद्ध—कोई किसी को बचा नहीं सकता, भद्रे! जहाँ आग की लपट है, उसके निकट ही पानी का झरना है। अशान्ति के कंटक-कानन में ही शांति की चिड़िये का घोंसला है। उस झरने, उस घोंसले को खुद खोजना होता है। दूसरा, ज्यादा-से-ज्यादा, रास्ता-भर बता सकता है।

अम्बपाली—जैसे इस मार्ग-दर्शन का कोई महत्त्व ही नहीं?

भगवान बुद्ध—है; तभी तो तथागत को घर छोड़कर जंगल-जंगल की खाक छाननी पड़ी। बड़ी तपस्या, बड़ी साधना के बाद उस मार्ग का पता लगाया है; लेकिन जो मार्ग उन्हें मालूम हुआ, उसका निष्कर्ष सिर्फ इतना ही है कि ऊपर का कोई देवता और नीचे का कोई आदमी किसी को निर्वाण या मुक्ति नहीं दिला सकता। उस मार्ग पर स्वयं चलना होगा, दूसरा कोई उपाय नहीं।

अम्बपाली—आज उसी मार्ग की दीक्षा लेने आई हूँ, भगवान! मार्ग बताइए, मैं चलने को तैयार हूँ।

भगवान बुद्ध—भद्रे, जरा सोचिए, आप यह क्या कह रही हैं?

अम्बपाली—सोच चुकी हूँ, भगवान! अच्छी तरह सोच चुकी हूँ। याद है, आपने कहा था—"तुम विचित्र नारी हो!"

भगवान बुद्ध—(मुस्कुराते हुए) उसकी एक झलक आज भी देख रहा हूँ! निराशाएँ हमें कहीं भी उड़ा ले जा सकती हैं।

अम्बपाली—सिर्फ निराशा की बात मत कहें, भगवान। निराशा का प्रतिकार अम्बपाली जानती है। अगर भगवान ने उस यात्रा में नर्तकी पर कृपा न की होती, तो......(रुक जाती है)।

भगवान बुद्ध—तो क्या? जरा सुनूँ। (फिर मुस्कुराते हैं।)

अम्बपाली—(तेजस्विता के साथ) जो कायर होते हैं, वे मोड़ पर रुक जाते हैं। जिनके हृदय में साहस है, वे एक पथ पकड़ते और चल देते हैं, चाहे वह पथ जहाँ ले जाय—स्वर्ग या नरक—ये एक ही सिक्के के दो रुख हैं, भगवान!

भगवान बुद्ध—(गम्भीरता से) सिर्फ तेजस्विता बड़ी खतरनाक चीज है, आर्ये। उसके मुँह में साधना की लगाम होनी चाहिए, नही तो न जाने वह किस अंधगुफा में ले जाकर पटक देगी! राज-नर्तकी, सावधान!

अम्बपाली—(प्रकृतिस्थ होकर) जिसने एक बार प्रकाश की किरण देख ली, उसकी आँखें धोखा नहीं खा सकती है, भगवान। इसीसे आज वैशाली की राजनर्तकी भिक्षुणी बनने को भगवान के चरणों की शरण में आई है। (घुटने टेक कर सिर झुका लेती है)

भगवान बुद्ध—(साश्चर्य) भिक्षुणी बनने को!

अम्बपाली—हाँ, अम्बपाली ने तय कर लिया है कि अब वह अपना शेष जीवन धर्ममार्ग पर चलने और धर्म का सन्देश घर-घर पहुँचाने में में ही बितायगी?

भगवान बुद्ध—लेकिन तथागत के धर्मसंघ में भिक्षुणी का विधान नही!

अम्बपाली—क्या कहा भगवान ने? भगवान के धर्ममार्ग में नारियों के लिए स्थान नहीं!

भगवान बुद्ध—नारियों के लिए स्थान नही, ऐसा नही कह सकते। हर आदमी—स्त्री-पुरुष—तथागत के धर्ममार्ग पर चल सकता है। लेकिन, नारियों के लिए भिक्षुणी बनना.........

अम्बपाली—(उत्तेजना में बीच ही में बात काटकर) उचित नहीं है, यही न कह रहे थे भगवान? क्या मैं पूछ सकती हूँ, क्यों उचित नहीं है?

भगवान बुद्ध—उत्तेजित मत हो भद्रे! हर क्यों का जवाब नहीं होता।

अम्बपाली—लेकिन, जिस बात का सम्बन्ध किसी की जिन्दगी से है—उसके अस्तित्व की 'हाँ' और 'ना' से है, उसे हक हासिल है कि वह ऐसा सवाल करे और यह उचित है कि उसे जवाब दिया जाय।

भगवान बुद्ध—आपको मालूम ही होगा, देवी प्रजावती और राहुल-माता यहाँ आई हुई हैं।

अम्बपाली—देवी प्रजावती धन्य हैं जिन्हें भगवान की मौसी होने और उन्हें गोद खिलाने का सुअवसर मिला और राहुलमाता यशो-धरा तो इतिहास में अमर ही हो चुकीं।

भगवान बुद्ध—इन दोनों ने भी यही इच्छा प्रकट की थी, किन्तु तथागत ने उन्हें 'नाही' कह दी।

अम्बपाली—आपने 'नाही' की होगी भगवान ! यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमेशा से अपने पर अत्याचार होता आया है—साधारण जनों द्वारा और महात्माओं द्वारा भी ! लेकिन, भगवान जिस आसानी से देवी प्रजावती और यशोधरा को 'ना' कह सकते थे, और वे मान जा सकती थीं, उतनी आसानी से न तो आप अम्बपाली को 'नाही' कह सकते हैं और न उसे मना सकते है !

भगवान बुद्ध—लेकिन मेरी लाचारी जो है ?

अम्बपाली—क्या अभागी अम्बपाली से भी बढ़कर ? (उसाँसें लेती है)

भगवान बुद्ध—आपकी लाचारी ?

अम्बपाली—(सहसा उसके चेहरे पर विषाद छा जाता है, आँखें भर आती हैं, गला भर्रा जाता है) भगवान, मत कहलाइए ! आप से छिपा क्या है ? दिन-रात लाश ढोते-ढोते तंग आ चुकी। जबतक जगी रहती हूँ, उसके बोझ मे कंधा टूटता, दम फूलता रहता है। एक तो दर्द के मारे नींद नहीं आती, यदि कदाचित आई, तो कंधे का बोझ सीने पर होता है ! साँस घुटने लगती है, कलेजा फटने लगता है—चिल्लाना चाहती हूँ, आवाज नहीं निकलती, घिग्घी बँध जाती है। व्याकुलता की पराकाष्टा में जब नींद टूटती है, तो बिछावन, तकिया, सब तर-ब-तर पाती हूँ ! भगवान, भगवान, मुझे .... (अपनी हथेली मे मुँह ढँककर हिचकियाँ लेती है)

भगवान बुद्ध—धीरज, भद्रे, धीरज !

अम्बपाली—(भर्राई आवाज में ही) धीरज की भी हद होती है, भगवान ! आह, वही धीरज विधाता नारियों के दिल में दिये होता, जिसे पुरुषों के हृदय में इतनी प्रचुरता से दिया है। जिस आसानी से भगवान राहुलमाता को प्रसूतिगृह में छोड़ भागे, उसी आसानी से राहुलमाता भगवान की 'ना' के बाद भी उन्हें छोड़ पातीं !

भगवान बुद्ध—भद्रे, भावना पर यों न बहें; विवेक से काम लें। जरा सोचें—तथागत के धर्म का मध्यम मार्ग तो सबके लिए खुला है, लेकिन जहाँ तक भिक्षुसंघ की बात है...... (रुक जाते हैं)

अम्बपाली—धर्म का मध्यम मार्ग तो समझी, लेकिन उसका मतलब मार्ग के मध्य में जाकर रुकना नहीं हो सकता, भगवान ! फिर अम्बपाली जिस राह पर चलेगी, पूरी चलेगी ! मध्य में रुक नहीं

सकती! बहुत धोखा खा चुकी हूँ भगवान; अब मैं अपने को ज्यादा धोखा नहीं दे सकती!

भगवान बुद्ध—तब!

अम्बपाली—मुझ से मत पूछिए, मुझे इस लाश को उतारना पड़ेगा, भगवान! या तो इसे पीला वस्त्र उतार सकता है, या.... (अचानक वह अधर की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखने लगती है) देखिए, भगवान, वह देखिए! मैं बचपन से ही सपने देखती आ रही हूँ, लेकिन, दिन-रात यह सपने का दृश्य! उफ्! मैं इसे ढो नहीं सकती, जिन्दा रह नहीं सकती। मुझे आत्महत्या के महापाप से बचाइए भगवान! (उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है; सिर से पाँव तक काँप कर वह चेहरे को हथेलियों से ढँकती, फिर जमीन पर घुटने टेक अपने हाथों को बुद्ध के चरणों की ओर पसार देती है)

भगवान बुद्ध—आर्ये, आर्ये!

अम्बपाली—भगवान! भगवान!!

[भगवान बुद्ध उसके इस आत्मसमर्पण से व्याकुल हो जाते हैं—समझ में नहीं आता कि उससे क्या कहें—वह आनन्द की ओर देखते हैं—आनन्द भगवान का असमंजस देख अम्बपाली के निकट आकर उसे उठाते हुए कहते हैं—]

आनन्द—आर्ये, उठें। आज आप जायँ—कल फिर भगवान के दर्शन करें।

अम्बपाली—(सिर उठाती है, आँखों से आँसू बह रहे हैं) भगवान, जाऊँ? आपकी यही आज्ञा है?

आनन्द—यह भगवान की ही आज्ञा है।

अम्बपाली—हाय रे मेरा दुर्भाग्य! मेरे लिए भगवान आज ही प्रतिमा बन रहे हैं! आह! (बुद्ध के मुँह की ओर एकटक देखती है—आँसू अनवरत जारी है)

भगवान बुद्ध—(गम्भीर वाणी में) भद्रे! श्रद्धा प्रतिमा को भी बोलने को लाचार करती है—उससे वरदान लेती है। तुम अपने पर विश्वास रखो, सभी साधन तुम्हें आप ही प्राप्त होंगे!

[अम्बपाली "भगवान, भगवान" कह, घुटने टेक, जमीन से सिर सटाकर, भगवान बुद्ध को प्रणाम करती है; फिर हाथ जोड़े ही मुड़कर चलती है—सूरज डूब चुका है, लाल आसमान के ललाट पर लाल मंगल तारा चमक रहा है—अम्बपाली मुड़ते समय उसे देखकर

प्रणाम करती है और हाथ जोड़े ही वहाँ से धीरे-धीरे चल देती है उसके चले जाने पर भगवान बुद्ध आनन्द से कहते हैं—]

भगवान बुद्ध—आनन्द !

आनन्द—भगवान !

भगवान बुद्ध—अम्बपाली को मैं जानता हूँ, आनन्द ! इसके संघ में आने से संघ को लाभ ही होगा। नारियों द्वारा तथागत का सन्देश घर-घर में ही नहीं, दूर-दूर देशों तक फैलेगा, यह भी मैं देख रहा हूँ। लेकिन मैं आनेवाले दिनों से डरता था। अभी तो ज्वार के दिन हैं, जिसके प्रवाह में सभी गंदगियाँ बह जाती, धुल जाती हैं, लेकिन जब भाटा आता है, अच्छा पानी भी प्रवाह से दूर होकर गँदला हो जाता है, आनन्द ! इसीलिए मैं नारियों को संघ में नहीं लेना चाहता था। मुझे डर है, आगे चलकर संघ को यह बड़ी कमजोरी साबित होगी और तथागत का धर्म जितने दिनों संसार में रहता, उसके आधे दिनों तक ही रह पायगा।

आनन्द—तो मना कर दीजिए न ?

भगवान बुद्ध—आह ! मैं मना कर पाता ! मैं देवी प्रजावती को, राहुलमाता को 'नाहीं' कर सका था, किन्तु इसे नहीं कर सका। यह विचित्र नारी है, आनन्द ! उस बार इसने कहा था—मैं भगवान बुद्ध पर विजय प्राप्त करूँगी। यह आज सचमुच जीत गई !

४

[सारी वैशाली निस्तब्ध सोई हुई है—सिर्फ जाग रहे हैं आकाश में कुछ तारे, जिनकी ज्योति भी उदयाचल की धीमी लाली की आभा में मंद पड़ती जाती है—और वृक्षों पर जग पड़े हैं अपने खोतों में निश्चिन्त सोये कुछ पंछी—हाँ, कुछ ही और वे भी एकाध बार ही चोंच खोलकर चहचह कर उठते हैं, क्योंकि अभी भोर होने में कुछ देर है—पृथ्वी पर कभी-कभी, यहाँ-वहाँ से गायों की रँभाई सुनाई पड़ती है, जिसका उत्तर बछड़े का आँ-आँ देता है—

अट्टालिकाएँ सोई हुई हैं—सड़कें सोई हुई हैं—हाट-बाजार सब पर नींद की हल्की छाया पड़ी हुई है—हाँ हल्की ही, क्योंकि उषा के आगमन की धमक कुहेलिका की तहों को एक-एक कर दूर कर रही है—

इसी समय दूर से सुरीली आवाज सुनाई पड़ती है—वह पहले एक ही ध्वनि मालूम पड़ती है; किन्तु धीरे-धीरे वह ध्वनि, ध्वनि-समूह में बदल जाती है—अब स्पष्ट मालूम हो रहा है, कुछ कोकिलकंठी गाती हुई आ रही हैं—गीत की कड़ियाँ क्रमशः स्पष्ट होती जा रही हैं—]

बहुजन हिताय,
बहुजन-सुखाय,
नर उठो, नारियो, उठो उठो,
झाँको यह झिलमिल स्वर्ण-किरण,
निद्रा खोने, तन्द्रा धोने—
बह चली पुलकमय मलय-पवन
सब उठो, जगो
निज कर्म लगो,
सपनों की दुनिया दूर जाय।

बहुजन-हिताय
बहुजन-सुखाय,
दुनिया उभचुभकर डूब रही,
फैला आँसू का प्रलय-ज्वार
आँहों की आँधी में उजड़ी
जाती मानवता की बहार
आगे बढ़कर
करुणा से भर
रच तो रक्षा के कुछ उपाय।

बहुजन-हिताय
बहुजन-सुखाय
हम सागर यदि न उलीच सकें
आँखों की दो बूँदें हर लें,
हम पर्वत उठा सकें न अगर
बोझे दो सिर के कम कर दें,
अर्पित जीवन
अर्पित जन-धन
अर्पित होवे मन-वचन-काय,
बहुजन-हिताय
बहुजन-सुखाय।

[अब वह मंडली बिल्कुल निकट आ चुकी—इधर आसमान में लाली ही लाली है—अन्धकार धीरे-धीरे दूर हो चुका है—उदित होनेवाले सूरज की प्रभा के कारण या सामने आनेवाली कलकंठियों की शांत मुखाभा के कारण?—अब हम स्पष्ट पहचान सकते हैं कि ये कौन हैं—सब-के-सब भिक्षुणियाँ हैं—टुकड़े-टुकड़े जोड़कर बनाये पीले वस्त्र से, गर्दन से पैर तक, इनके अंग ढँके हैं—जिनके बाल कटा डाले गये हैं, ऐसे सिरों पर पीले रंग के ही छोटे-छोटे कपड़े, रूमाल की तरह, सिर के पीछे की ओर बँधे हैं—काले रंग के भिक्षा-पात्र हाथों में—

अगली पंक्ति में ये तीन भिक्षुणियाँ कौन हैं? जरा गौर से देखिये-बीच में है देवी पुष्पगन्धा—उनकी दाहिनी ओर अम्बपाली—बायीं ओर मधूलिका—हाँ, मधूलिका ही!—भिन्न अवस्थाएँ, भिन्न प्रकृतियाँ सिमटकर एक हो चली हैं—'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के एक पथ पर, एक उद्देश्य पर।

सूरज की किरणें फूटीं—पीले वस्त्रों के बीच अम्बपाली के शांत मुख-मंडल पर वे जा पड़ी—जा पड़ी, नृत्य कर उठीं—फिर प्रति-फलित हुईं—अब अम्बपाली का मुखमंडल सूर्यमंडल सा दिप रहा है—हाँ, साक्षात् सूर्यमंडल सा!—भिक्षुणियाँ गाये जा रही हैं—]

बहुजन हिताय
बहुजन सुखाय

हम सागर यदि न उलीच सकें,
आँखों की दो बूँदें हर लें
हम पर्वत उठा सकें न अगर,
बोझे तो सिर के कम कर दें,
अर्पित जीवन
अर्पित जन-धन
अर्पित होवे मन-वचन-काय,
बहुजन हिताय
बहुजन-सुखाय।

समाप्त

सीता की माँ

[स्वोक्ति रूपक]

प्रतीक्षा

कलाकार प्रतीक्षा में था।

प्रतिदिन की तरह वह अपने तकिये पर झुका था। सामने पान का डब्बा; बगल में सिगरेट का टिन। होंठों पर जलती हुई सिगरेट के धुएँ से जंजीरें बनाता, वह उन्हें गौर से देख रहा था!

इन्हीं जंजीरों की सीढ़ियों से उसकी भारती आती रही है न? वह प्रतीक्षा कर रहा था।

पंखों की फटफट; कोमल स्वर-झंकार; मधुर रुनझुन। यही क्रम सूचना देता था उसकी भारती के आगमन की। जंजीरों पर जंजीरें बनती-बिगड़ती जाती हैं; कहीं कुछ आहट नहीं।

बात क्या है? क्या मेरी भारती मुझसे रूठ गई? या रास्ता भूल गईं?

एक सिसकी! कातर-करुण!

यह क्या?

सिसकियों का तार।

अरे, आज यह कैसा तमाशा?

और, वह ऊपर एक धूमिल छाया!

छाया मूर्त्ति का आकार धारण कर रही—बिखरे बाल, कंकाल शरीर!

यह क्या? यह कौन?

फिर स्वर—

"तुमने भी नहीं पहचाना?"

कलाकार जागता हुआ सपना देख रहा था। बोलना चाहता था किन्तु कंठ नहीं खुल रहा।

"आह! तुमने भी नहीं पहचाना?"

अब हिचकियों पर हिचकियाँ! कलाकार ने देखा—अविरल अश्रुधार बही चली आ रही है, जो शायद उसे भी भँसा ले जाय।

पूरा जोर लगाने पर भी वह इतना ही कह पाया—"देवि!"

"नहीं नहीं, मुझे 'देवी-देवी' कह कर मत चिढ़ाओ! बताओ तुमने मुझे पहचाना या नहीं!"

और कलाकार का मौन मानों उसे असह्य हो उठा—

"हाय रे मेरा भाग्य! तुमने भी नहीं पहचाना? तुमने भी? मुझे वाल्मीकि ने नहीं पहचाना, कालिदास ने नहीं पहचाना, भवभूति ने नहीं पहचाना, तुलसी ने नहीं पहचाना, बहुत से उपेक्षितों का उद्धार करनेवाले रवीन्द्र ने नहीं पहचाना, और आजकल जो वह कवि है—क्या नाम है उसका—कोई गुप्त—उसने भी नहीं पहचाना, तो मैं उतनी अधीर नहीं हुई। ये मेरे कौन होते थे? ये मुझे कैसे जानते? क्यों जानते? किन्तु, तुम—तुम!"

अब तो वह फूट-फूट कर रो रही थी—

"तुम तो मेरे अपने कलाकार हो; मेरे घर-आँगन के कलाकार ! मेरे घर-आँगन के कलाकार, मेरे अपने, अपने कलाकार। और, हाय, तुमने भी नही पहचाना ! नहीं पहचाना !!"

"देवि !"

"फिर वही—अरे, तुम्हीं कहो, कभी तुमने सुना कि मिट्टी से बच्ची पैदा हुई हो और किसी से भी पूछो, कोई कहे कि जनक के कभी सीता नाम की कोई सन्तान हुई हो—!

हाय रे मेरा भाग्य ! बेटी मेरी, और किसी ने कह दिया पृथ्वी की बेटी किसी ने कह दिया जनक की बेटी ! और मैं ! जब तक जीवित थी, अपनी बेटी के पीछे छाया-सी घूमती रही और मृत्यु के बाद भी मेरी आत्मा अशान्त-व्याकुल चारों ओर चक्कर काट रही है !

मेरे कलाकार, मेरे अपने कलाकार; क्या मेरा उद्धार नहीं नहीं करोगे, ओ मेरे, मेरे कलाकार !"

कलाकार को लगा कि वह छाया-मूर्त्ति अब उससे लिपट जायगी। विस्मय से, भय से वह अब अर्द्ध-मूर्च्छित था—

कि वीणा की झंकार ! मंजीर की रुनझुन !

"कलाकार, कलाकार ! अरे, यह क्या ? उठो, उठो।"

"देवि !"

किन्तु यह शब्द कहते हुए वह काँप गया—लगा, कहीं वह छाया-मूर्त्ति फिर न आ जाय ! माँ-भारती मुस्कुराईं; फिर खिन्न स्वर में बोलीं—

"वह बेचारी ! हाँ कलाकारों ने उसके प्रति उपेक्षा की हद कर दी ! उसकी यह दशा मुझे भी व्यथा देती रही है।"

"तो...तो..."

"तो, लेखनी उठाओ—आज उसी का उद्धार हो ! मुझे इसमें प्रसन्नता ही होगी। प्रसन्नता ही होगी, लेखनी उठाओ !"

लेखनी उठी और जो कुछ लिख गया,—ये पंक्तियाँ हैं।

पहला दृश्य

स्थान : सीतामढ़ी के निकट एक अटवी

[पर्दे पर छाया-मूर्त्तियों में जंगल का दृश्य : जंगल उजड़ा-उजड़ा: पेड़ों में पत्ते नहीं, तने भी सूखे : जंगल के प्रांतर में एक झोपड़ी, उघड़ी-उजड़ी !

पर्दे के ऊपरी भाग में हिमालय की दृश्यावली की छाया।

पर्दे के पीछे बादल की गड़गड़ाहट, बिजली की चमक !

पर्दे की छाया-मूर्त्तियों में दीख पड़नेवाली झोपड़ी से एक स्त्री की छाया-मूर्त्ति निकलती है : अस्थि-कंकालमात्र शरीर : फटे-चिटे वस्त्र-खंड : उन्मत्त-सी चेष्टा में वह आकाश की ओर देखती है, फिर बोल उठती है—]

बादल ! बादल ! तू आज क्यों बरसा ? क्यों बरसा ? तुझे दुनिया को तब बसाने की सूझी, जब मेरी दुनिया उजड़ चुकी !

बादल, तू क्यों बरसा ? आज ही क्यों बरसा ? बारह बरसों से तू कहाँ सोया था ? आज तू बरसने आया है, गरजने आया है ! उफ, मेरी दुनिया उजाड़कर ऊपर से धौंस जमाने आया है !

बता, तू क्यों बरसा ? आज ही क्यों बरसा ? कल क्यों न बरसा ? अरे, कुछ घड़ी पहले क्यों न बरसा ? हाँ, कुछ ही घड़ी पहले तो मेरी दुनिया उजड़ी है ! मेरी हँसती हुई दुनिया, मेरी बसती हुई दुनिया को उजाड़ कर, अब तुझें बरसने की सूझी है—बरसने, गरजने, चमकने की !

गरजने की, चमकने की, बरसने की तब तुझे सूझी, जब मेरी बसती हुई, हँसती हुई दुनिया उजड़ चुकी !

उफ, ये बारह वर्ष ! इन बारह वर्षों में तू कहाँ था ? कहाँ छिपा था ? कहाँ सोया था ? पौधे सूख गये, पेड़ सूख गये। घास सूख गई, धरती सूख गई। तालाब सूखे, नाले सूखे; कुएँ सूखे, नदियाँ सूखीं। सारा संसार सूख गया। सूख गया; जल गया। जहाँ शीतल-मंद समीर बहती, वहाँ लू और झंझा बहने लगी। शरीर सूख गये, कलेजे सूख गये ! उफ, उफ ! कलेजे सूख गये।

पानी, पानी, पानी !—बारह बरसों से सारा संसार पानी-पानी चिल्ला रहा था और तू कहाँ सोया था ? कहाँ सोया था ओ निर्दय, निर्मम, निष्ठुर !

हरी-भरी भूमि बंजर बन गई। बस्तियाँ उजड़कर श्मशान हो गईं। हाँ, श्मशान ! जाके बरस, ओ निष्ठुर, उन हड्डियों पर, जो उजड़ी हुई बस्तियों के चारों ओर प्रचुरता से चमक रही है। उन्हें ही तृप्त कर, तृप्त कर। जिनकी जिह्वायें एक बूंद पानी के लिए तरसती-तरसती सूख गईं, उनके कंकालों पर तू अब मूसलधार पानी उँड़ेलने दौड़ा है ? निष्ठुर, निर्मम, निर्दय !

बादल, बादल तू आज क्यों आया ? कहाँ से आया ? किस लिए आया ?

सारे संसार को जलाकर अब तू अपना काला मुँह दिखाने आया है ! हट, ओ कलमुँहे ! भाग, ओ कलमुँहे ! भाग-भाग !

[फिर बादल की गरज : फिर बिजली की चमक]

ओहो, यह गरज, यह हँसी ! पृथ्वी के प्राणियों की वेदनायें आकाश के देवता को क्या बहुत ही प्रिय हैं ? तभी तो बारह साल तक लोगों को तड़पाकर अब तू पधारा है हम पर व्यंग करने—हमारी हँसी उड़ाने।

तो गरज ले चमक ले, बरस ले। जी भरकर, मन भरकर—गरज ले, चमक ले, बरस ले।

आह, ये बारह वर्ष। उफ, ये बारह साल। ये बारह साल कैसे कटे ; मैंने कैसे काटे ?

जब गाँव में अन्न न मिला, न रहा; जब स्वजन, परिजन, पुरजन—कोई नहीं रह गये; तब जंगलों में भगी। पहले सूखे-रूखे फल, फिर पेड़ों की पत्तियाँ; छाल तक नहीं बच पाई ! कन्दों के लिए कुँए खोदे; किन्तु गरम धरती के नीचे जैसे वे भी पिघल गये हों। मिट्टी खोदने पर भी अंगारे मिलते थे।

उफ, क्षुधा, क्षुधा ! पिपासा, पिपासा !

ओ हिमालय, तू अपनी सारी हिमराशि को पानी बनाकर भेज कि यह पिपासा शान्त हो। औषधीश, तू कोई ऐसी औषधि दे कि यह भूख सदा के लिए मर जाय।

लेकिन, आह, मानव की पुकार से पत्थर न पिघला, न पिघला !

कि अचानक एक दिन पत्थर पर कमल खिल उठा !

कमल, कमल ! अहा, कमल ! कमल !

"तू भूखी है, तू प्यासी है ! तो ले....तो ले....!" देवता, देवता, तुम कौन थे देवता ? तुम कहाँ से आये थे देवता ? "तू भूखी है, तू प्यासी है ? तो ले....तो ले....!"

"ले........ले........!"

"ले........ले........!"

"ले........ले........!"

उफ, तुमने क्या नहीं दिया देवता ? तुम कौन थे देवता ? तुम कहाँ से आये थे देवता ? तुमने क्या नहीं दिया देवता ?

मरुभूमि गुलजार बन गई, सूखी टहनी में फूल खिल आये ! अहा, यह बच्ची ! यह बच्ची !

"देवता, यह हू-ब-हू आप ही ऐसी लगती है, देवता!"

"बच्ची! मेरे ऐसी? क्या तुझे और भी कुछ चाहिए!"

"नहीं, देवता, इस बच्ची के पाने के बाद फिर क्या पाना रहा?"

"कुछ नहीं?"

"कुछ नहीं!"

"तो मैं चलूं?"

"चलूं? कहाँ?

"हाँ, हाँ, मैं चला!"

अरे, पत्थर का कमल फिर पत्थर हो गया!

और, बादल, तू फिर भी नहीं बरसा! लू चलती रही; झंझा बहती रही। पृथ्वी जलती रही; आकाश तपता रहा! न फूल, न फल; न शस्य, न तृण। संसार से सारे रंग नष्ट हो गये, रह गया सिर्फ एक रंग—नीलिमा! ऊपर नीला आकाश: नीचे सूखकर, जलकर नीली बनी पृथ्वी! सूरज उगता तो नीलिमा में डूबा हुआ; चन्द्रमा तो पूरा नीला बन चुका था! नीली चाँदनी में अमृत कहाँ? अब उसमें जहर-जहर था!

और, मैं और मेरी बच्ची!

मेरी बच्ची! देवता का वरदान! आह, इस वरदान को अब मैं क्या करूँ? मेरी सोने की बेटी के चाँद से चेहरे पर भी यह नीलिमा की पर्त्त जो पड़ती जा रही है! ओह! ओह!

अरे, मेरे हृदय से अचानक जो एक दिन क्षीर-स्रोत फूटा था, धीरे-धीरे वह भी सूखता जा रहा है!

मेरे देवता, तुम कहाँ गये? देखो, देखो, जो कलिका तुम मुझे सौंप गये हो, वह किस तरह सूखती जा रही है! आह, मैं क्या करूँ? क्या करूँ?

मेरी छाती का क्षीर-स्रोत सूख गया! बेटी, बेटी, अब तुम्हें क्या पिलाऊँ? कैसे जिलाऊँ? देवता, कुसमय में यह क्या वरदान दे गये देवता? आह, मेरी बच्ची रो रही है? मैं इसे क्या पिलाऊँ? आह, मेरी बच्ची.... मैं इसे कैसे जिलाऊँ?

अरे, क्या मेरी बच्ची भी मर जायगी? मर जायगी? नहीं, नहीं, मैं अपनी बच्ची को मरने नहीं दूंगी, नहीं दूंगी, नहीं दूंगी।

तो क्या करूँ? क्या करूँ?

क्षीर का स्रोत सूख गया; तो धमनियों में रक्त का प्रवाह तो दौड़ रहा है! हाँ, जबतक एक बूँद भी रक्त है, मेरी बेटी मर नहीं सकती।

मैं अपनी बच्ची को रखकर दौड़ पड़ी उस बबूल के पेड़ की ओर, जिसमें अब सिर्फ काँटे-ही-काँटे थे! एक लम्बा काँटा लेकर अपनी नस में सूराख बनाऊँ? हाँ, हाँ, छाती का क्षीर-स्रोत सूख गया, तो धमनियों में रक्त-प्रवाह तो दौड़ रहा है। अपनी बेटी को मैं मरने नहीं दूँगी, नहीं दूँगी।

कि डुग-डुग, डुग-डुग; डुग-डुग!

यह क्या सुन रही हूँ, यह कैसा शब्द है?

डुग-डुग, डुग-डुग—यह क्या होने जा रहा है?

ढोंग! ढोंग! ढोंगी राजा! बारह बरस तक यह निश्चिन्त राजमहल में रंग-रेलियाँ मनाता रहा और अब जब पृथ्वी सूखकर पत्थर बन गई है, तो सोने के हल से उसे जोतने चला है!

हाँ, हाँ, बारह बरस के अवर्षण से बंजर बन गई भूमि को वह सोने के हल से जोतने का स्वाँग कर रहा था।

आगे-आगे दो विशाल उजले बैल; उनके कंधों पर सोने का जुआ; पीछे राजा, जिसके हाथ में सोने का परिहथ। अगल-बगल ऋषियों और ब्राह्मणों का दल मंत्र पढ़ रहा। पीछे प्रजा उमड़ी आ रही।

डुग-डुग, डुग-डुग। मंत्रों की ध्वनि-प्रतिध्वनि।

हल बढ़ा आ रहा है, बढ़ा आ रहा है। इतने में देखती हूँ कि हल का रुख उस ओर हुआ, जहाँ मैं अपनी बेटी को रख आई थी। मेरी बेटी!—दोने में लिपटी, घास-फूस से ढँकी। हल बढ़ा आ रहा है—बढ़ा आ रहा है—

अरे, वहीं बैल के पैर मेरी बेटी के शरीर पर पड़ गये तो?

मैं दौड़ी.....

"रुको"—यह कौन बोला? कौन बोला? और किसने मेरे पैर में जैसे जंजीर डाल दी? और किसने मेरी आँखों को जैसे मूँद दिया?.....उफ, उफ.....बेटी, बेटी!

आँखें खुलीं, तो देखती हूँ; हल के दोनों बैल अलग भौंचक्के खड़े हैं और मेरी बेटी राजा की गोद में है। वह रो रही है। राजा उसे चुमकार रहा है। उसकी घनी सुफेद दाढ़ियों से मेरी बेटी जैसे भयभीत हो रही है! मैंने सुना, वह कह रही है—

म् आँ, म् आँ,—म् आँ .....

म् आँ .... माँ दौड़ी; मैं दौड़ी। किन्तु, फिर किसने यह कहा—"रुको, तुम्हारी झोपड़ी इस बच्ची के योग्य नहीं—इसे राजरानी ..."

राजरानी! राजरानी? मेरी बेटी राजरानी! कंगालिन की बेटी राजरानी? अहा! अहा!

और उसी समय सुना, वह राजा कह रहा है—"हम लोग अब राजधानी लौटें; पृथ्वी ने मुझे पुत्री दी है, तो आकाश हमें वर्षा भी देगा।"

क्या कहा—पृथ्वी ने दी है? यह तुम्हारी पुत्री?

इच्छा हुई, दौड़कर उस राजा की लम्बी दाढ़ी पकड़ूँ और कहूँ, भलेमानस, यह बेटी मेरी है, इसकी माँ मैं हूँ। ढोंगी, ढोंग मत रच—दे मेरी बेटी; और वह न दे तो छीनकर ले भागूँ।

किन्तु, आह मेरे पैर न उठे। क्यों न उठे? किसने न उठने दिये?

मेरे देवता, मेरे देवता! यह क्या कर गये तुम?

और देखा, मेरी बच्ची भी अब चुप हो गई है और राजा की सुफेद दाढ़ियों में हाथ डालकर खिलवाड़ कर रही है। और, राजा का मुखमंडल? ओह, अब उससे कैसी दिव्य-ज्योति फूट रही थी!

बादल, बादल! अभी-अभी जब मेरी बेटी उस ओर गई, तो तू अब बरसने आया है!

अरे, तू अब तक क्यों नहीं बरसा? कुछ दिन पहले क्यों नहीं बरसा; कुछ घड़ी पहले क्यों नहीं बरसा? एक घड़ी पहले भी तू बरसा होता, तो मुझे अपनी बेटी से यों हाथ नहीं धोना पड़ता।

आह; ओह!

बेटी! बेटी! बेटी!

देवता! देवता! देवता!

बादल, बादल, बता, मेरे देवता कहाँ हैं? मेरे देवता! और मेरी बेटी कहाँ गई? कहाँ गई?

बादल! बादल!

तू अब बोलता क्यों नहीं? माँ से बेटी छीनकर तू अब चुप्पी लगा रहा है। मेरी बेटी! मेरी सोने की बेटी! राजा, कैसे तुमने कहा कि यह पृथ्वी की बेटी है। मिट्टी की बेटी ऐसी होती है? मेरी सोने की बेटी! सोने की बेटी! बेटी! बेटी!

[मूच्छित होकर गिरती दिखाई पड़ती है]

दूसरा दृश्य

स्थान : जनकपुर की पुष्पवाटिका

[परदे पर छाया-मूर्तियों में वाटिका के दृश्य : दूर पर एक मन्दिर, एक तालाब। एक अधवयस स्त्री की छाया-मूर्ति धीरे-धीरे दिखाई पड़ती है; वह बोलती है—]

ओहो, मेरी बेटी! कितनी जवान हो गई है मेरी बेटी! कितनी जवान; कितनी सुन्दर!

अभी-अभी वह आई थी; अभी-अभी वह गई है!

आई थी वासन्ती उषा की तरह—शीतलता लिये, सुगन्ध लिये, सौन्दर्य लिये। पत्तों ने मर्मर कर उसका स्वागत किया; फूलों ने झूम-झूमकर अभिवादन किया। पराग उड़े, तितलियाँ नाचीं। भौंरों ने

भाँवरे दिये, कोकिलों ने गीत गाया। सारी पुष्पवाटिका रंगीन बन गई थी, मुखर हो उठी थी, महमह बन गई थी—एक पल में ही!

ओहो, मेरी बेटी, कितनी सुन्दर, कितनी जवान! उसकी जवानी, उसकी सुन्दरता—सारी प्रकृति पर कुछ देर तक छा गई थी जैसे!

फूलों के रंग निखर उठे। वृक्षों की डालियाँ झुक गईं। लतायें काँपने लगीं। हवा बोझली बन गई। सूरज की किरणों में फिर एक बार सुनहलापन आ गया। एक अनहद संगीत सारी पुष्पवाटिका में गूँज उठा। अहा, मेरी बेटी क्या आई—सारे उपवन में सौन्दर्य और यौवन छा गये।

वह आई; सखियों से घिरी—जैसे तारों के बीच चन्द्रमा! नहीं, नहीं, अनेक चन्द्रमाओं के बीच कोई महाचन्द्र, जो अभी तक कभी देखा नहीं गया; अभी तक जिसका नामकरण नहीं हुआ—निष्कलंक, अघट, स्वयंप्रदीप्त!

वह आई और इस सरोवर में नहाई! सरोवर—देखो, देखो, अब भी उसकी तरंगें मेरी बेटी के अंगराग से उच्छ्वसित हैं, सुवासित हैं, सुरंजित हैं! मेरी बेटी! डुबकियाँ लगाकर जब वह बाहर निकली, कुंचित-कुन्तल से घिरा उसका मुखमंडल ऐसा लगा कि क्षीर-समुद्र से अभी-अभी चन्द्रमा निकला है, अन्धकार के महाजाल को फाड़ता हुआ!

स्नान किया; उस मन्दिर में गई! वह गिरिजा का मन्दिर! अब भी मेरी बेटी की प्रार्थना उसमें गूँज रही है! क्या तुम सुन नहीं रहे!

लेकिन इस उम्र में यह प्रार्थना! जनक, जनक! तुम नाम के ही ज्ञानी हो जनक! तुम स्त्रियों का हृदय नहीं पहचानते, कुमारियों की कामनायें नहीं जानते। अगर जानते-पहचानते होते, तो मेरी बेटी का भाग्य किसी तीर-कमान से नहीं बाँधे होते जनक! आह, आज तुम इस गिरिजा-मन्दिर में मेरी बेटी की आँखों से झड़ते हुए आँसुओं को देखे होते! कुमारी की करुण-याचना! मैं देख रही थी, पत्थर की गिरिजा भी पानी-पानी हुई जा रही थीं!

और जब वह मन्दिर से बाहर आई, तब तक सारी दृश्यावली बदल गई थी—मानों गिरिजा ने मेरी बेटी की प्रार्थना स्वीकार कर ली हो!

किस कोने से कब घुस आया था वह राजकुमार? हाथ में फूलों का दोना--राजकुमार, ये फूल किस देवता के लिये संचय किये हैं तुमने? अरे, तुम्हारे हाथों में ये फूल किसने खिलाये और ये कौन-से फूल खिलायेंगे? बोलो, राजकुमार, बोलो!

ये पेड़, ये पौधे, ये पंछी, ये भौंरे,—सब तुमसे यही पूछ रहे हैं राजकुमार! सब सकते में हैं—सब की आँखें तुम्हारी ओर! बोलो, राजकुमार, बोलो!

और, अब मेरी बेटी की आँखें भी तो कुछ ऐसा ही प्रश्न कर रही हैं?

ओहो! उधर राजकुमार खड़ा है, इधर मेरी बेटी खड़ी है।

यह कहाँ से पुरानी बात याद आ गई?

मालूम हुआ, जहाँ वह राजकुमार खड़ा है, वहाँ मेरे देवता खड़े हैं और अपनी बेटी की जगह मैं खड़ी हूँ।

हाँ, हाँ, मैंने भी इसी तरह देखा था उन्हें!

राजकुमार, कहीं तुम भी कोई देवता तो नहीं हो? मेरी बेटी, यह देवकन्या है राजकुमार, देवकन्या!

इसे राजकन्या मत समझो। देवकन्या तो किसी देवकुमार को ही मिल सकती है। नहीं, देवकन्या की दृष्टि देवकुमार पर ही स्थिर हो सकती है। उसकी दृष्टि सब के लिए सह्य भी तो नहीं!

मैंने राजकुमार की आँखों को देखा; फिर मैंने अपनी बेटी की आँखें देखीं। वे ही पुरानी बातें—मानों घटना दुहर रही हों।

इसी समय मेरा मातृत्व बोल उठा—

"पगली, तू आँखें बन्द कर ले; ऐसे अवसरों पर मातायें······ हाँ, हाँ, ऐसे अवसरों पर मातायें आँखें मूँद लेती हैं।"

मेरी आँखें मुँदी थीं; लेकिन कल्पना की आँखें—

वहाँ धनुष टूट रहा था; जयमाल पड़ रही थी—मंडप, भाँवरे, सिन्दूर-दान। आह, मैं कल्पना के लोक में अपनी बेटी का व्याह रचा रही थी, कि सुना—

"राजकुमारी देर हो रही है; माँ चिन्ता में होंगी!"

यह कौन बोली? क्या बोली—माँ चिन्ता में होंगी? माँ तो यहाँ खड़ी है, चिन्ता में कौन होगी? क्यों होगी? अरे कौन ऐसी माँ है, जो बेटी को इस दशा में देखकर चिन्ता में पड़ जाय? गाज गिरे

इस चिन्ता पर—गाज गिरे ऐसी माँ पर। बेटी, तू देखा कर, देखा-कर।...तू देखा कर, वह देखा करे, देखा करे—अनन्त काल तक। तुम्हारी माँ को चिन्ता होगी?—वह तो यहाँ पुलकित, प्रफुल्लित हो रही है मेरी बेटी।

किन्तु, यह रुनझुन, रुनझुन! क्या मेरी बेटी जा रही है? हाँ, वह जा रही थी। जा रही थी, और रुक रही थी। रुक रही थी और कह रही थी—"अहा, यह मृगछौना!" "और सखी यह श्यामा है न?" "ओहो, यह मल्लिका तो सरापा फूल उठी है।" "और इस आम में कितनी मंजरी आ गई!" हाँ, हाँ, वह जा रही थी, वह रुक रही थी। क्यों रुक रही थी? क्या करे मेरी बेटी—कोई अलक्षित शक्ति जो उसके पैर बार-बार पकड़ लेती थी। अहा हा, मेरी बेटी! रुक बेटी, रुक। प्रारम्भ में ऐसा ही होता है, मेरी बेटी—ऐसा ही···

"देर हो रही है, माँ नाराज हो रही होंगी।"

उफ़, अब तो मेरे धैर्य की सीमा टूट गई! इच्छा हुई, बढ़ूँ और उसकी उस कलमुँही सखी से कहूँ—पगली, वह माँ नहीं, कोई चुड़ैल होगी, चुड़ैल; जो मेरी बेटी के पीछे पड़ी है! जो मेरी बेटी को उसके प्राणधन से···हाँ! हाँ, चुड़ैल, चुड़ैल—वह चुड़ैल होगी, चुड़ैल! उसकी माँ तो मैं हूँ, मैं हूँ! देख, माँ ऐसी हुआ करती हैं! ऐसी··

ऐसी!!तुरन्त अपने पर ध्यान आया! क्या अब इस बच्ची की माँ कहलाने योग्य मैं रह गई हूँ? आह, अब तो मेरी बेटी राजकुमारी बन चुकी है; मुझ कंगालिन···!

नहीं, नहीं, अब मैं यह बताकर कि मैं उसकी माँ हूँ, उसे लज्जित नहीं होने दूँगी! हाँ, अब राजा उसका पिता है, राजमहिषी उसकी माँ है! और यह राजकुमार भी तो मुझे अपनी सास के रूप में ग्रहण करने में लज्जा बोध करेगा!

जा, बेटी, जा। तू इस राजकुमार को प्राप्त कर, यह तुझे प्राप्त करे! राजा आनन्द मनाये, राजमहिषी मंगल-गीत गाये। मेरे भाग्य में सिर्फ यह सुख बदा है कि छाया-सी तेरे पीछे-पीछे घूमती रहूँ!

अहा, अभी-अभी मेरी बेटी गई है, शारदीय सन्ध्या की तरह—कलरव में डूबी, सारी चीजों पर एक रंगीन पर्दा डालती! वह चली गई है, लेकिन अब भी सरोवर की तरंगों पर, मन्दिर के गुम्बदों पर, पेड़ों की फुनगियों पर, फूलों पर, पत्तियों पर एक स्वर्णिम आभा छा रही है—जगमग, झलमल!

तीसरा दृश्य

स्थान : चित्रकूट का पहाड़ी अंचल

[छाया-मूर्तियों में पहाड़ी प्रदेश के दृश्य। दूर पर एक नदी दिखाई देती है, सामने एक झोपड़ी ! एक अधेड़ स्त्री की छाया-मूर्ति दिखाई पड़ती है, वह कहती है—]

उफ, कहाँ मेरी बेटी को राजरानी बनना था, कहाँ वह जंगल में मारी-मारी फिर रही है !

मेरी बेटी—कहाँ वह राजा जनक की बेटी कहलाई; कहाँ वह सम्राट् दशरथ की पुतोहू बनी; उसके स्वर्ण-सिंहासन पर बैठने का दिन भी तय हो चुका था; कि यह क्या हुआ? मेरी बेटी आज वन-वन मारी-मारी फिर रही है !

कैकेई, तुम्हें यह क्या सूझी! राम को जंगल—क्या तुम्हारे ध्यान में यह बात नहीं आई कि राम जंगल में निर्वाह भी कर लें, लेकिन सीता का क्या होगा? वह उनके साथ जायगी ही और मेरी सीता क्या जंगल के लिए बनाई गई है?

कैकेई-कैकेई! मालूम होता है, राजा से इस वरदान को माँगते समय तुम्हें सीता की सुध ही नहीं रही!

सीता जंगल में और चौदह वर्षों तक? अभी छः महीने भी नहीं बीते और देख जाओ, मेरी बेटी की दशा!

और, राम, राम! पिता के वचन को स्वीकार करते समय तुम्हारे ध्यान में भी सीता नहीं थी, राम! सीता को भी चौदह वर्षों तक जंगल में रहना है, तुम यह सोच पाते, तो पिता का वचन स्वीकार करने के पहले उनके चरणों में गिरकर तुम एक बार क्षमा माँगे होते, राम! "आपकी आज्ञा मेरे सिर-आँखों पर, पिताजी।"—जब तुम यह बोले, तो तुम्हारी आँखों के सामने मेरी बेटी नहीं थी, नहीं थी! शायद तुम सोच भी नहीं सकते थे कि कोई पत्नी भी इतने संकट में शरीक होने का साहस कर सकेगी! तुमने सीता को साधारण मानव-कन्याओं की तरह मान रखा था, राम।

आह, तुम जान पाते, सीता किसकी बेटी है!

क्या अब भी कभी सोचते हो राम, यह सीता कौन है? अधिक-से-अधिक पृथ्वी की बेटी ही तुमने माना होगा इसे—पृथ्वी की बेटी, सहनशीलता की मूर्त्ति—आँधी-पानी, जाड़ा-गर्मी में एक भाव से रहनेवाली! और तुम्हारी यह भावना आज भी बनी है; तभी तो उससे सारे काम लेते हुए तुम्हें संकोच नहीं होता।

नहीं राम, नहीं! यह जनक की बेटी नहीं, पृथ्वी की बेटी नहीं! यह उस देवता की बेटी है, जिसकी एक झलक जब-तब तुममें देखकर मैं निहाल हो उठा करती हूँ!

मेरी सीता—देव-कन्या!

इस संकट में भी वह किस तरह खिलती जा रही है! चंदन घिस रहा है, सुगन्ध फैल रही है! जंगल की यातनायें उसकी शरीर को सुखा रही हैं; किन्तु उसकी आत्मा और भी विकसित होती जा रही है। पागल दुनिया कपोल पर हमेशा कमल ही खोजती है—यदि वह जान पाती, रंग और गन्ध की मोहकता उसकी

क्षणभंगुरता में है। जो शाश्वत है, वह तो रंग-रूप से परे है, जिसे हवा-पानी, गर्मी-सर्दी विनष्ट नहीं कर पाती है; जो अजर है, अमर है, जिससे उसका वंश चलता है, चल रहा है।

सीते! बेटी सीते! तुझे अपने बाप के दुलार की लाज रखनी है बेटी! तुझे अपनी माँ की अकिंचनता की मनुहार रखनी है, बेटी!

और, मेरी बेटी रख रही है, रख रही है! इच्छा होती है, अब भी प्रकट होऊँ और इस अवसर पर बेटी के बोझ को कुछ हल्का करूँ—किन्तु क्या ऐसा कर पाती हूँ?

अभी उस दिन की बात है—

मेरी बेटी नदी से पानी भरने गई थी। पहाड़ी नदी; खड्ड के नीचे धारा; पथरीली पगडंडी की चढ़ाई। जब कलसी भर कर चली, पैर डगमग करने लगे। लक्ष्मण, लक्ष्मण, तू कहाँ से इतना बड़ा घड़ा उठा लाया। तुझे यह भी पता नहीं कि तेरी भावज कितना बोझ उठा सकती है? वह भारी घड़ा, वह पिच्छल पथ-रीली राह। जो कभी जमीन पर पड़े नहीं और पड़े भी तो मिथिला की मक्खन-सी मुलायम जमीन पर, वे पैर रह-रहकर रपट रहे हैं; और वह शरीर के समतुलन पर ध्यान दिये बढ़ रही है—ऊपर चढ़ रही है। ललाट पर पसीना, कपोल पर पसीना। ललाट का पसीना लुढ़क कर आँखों में गिरना चाहता है, किन्तु वह उसे पोंछे तो कैसे? एक हाथ से घड़ा को पकड़े हुई है; दूसरे से आँचल सम्हाल रही है—इस सूनसान जंगल में भी मर्यादा का कैसा बोध है उसे?—परीशान, परीशान। इच्छा हुई अभी दौड़कर जाऊँ और कहूँ—बेटी, मैं तेरी माँ हूँ, मेरे अछत तुम पानी भरो। कि, उसी समय सुनाई पड़ा—"सीते"! और जब तक मेरी सीता बोले—वह नौ-जवान उसके सामने आकर कह रहा था—"सीते, मैंने मना किया था न? कहो, कितना कष्ट हो रहा है तुम्हें इस जंगल में?"

"नहीं नाथ, कष्ट कहाँ?"—मेरी सीता बोली और, अरे यह क्या? कहाँ गया पसीना, कहाँ गई पैर की रपट? क्या हुआ घड़े का भारी बोझ? वह उस घड़े को लिये ऊपर इस तरह उछलती हुई बढ़ी, जैसे पहाड़ी रस्तों पर बकरी के छौने! और, वह कुछ ही आगे बढ़ी थी कि वह नौजवान जल्द-जल्द नीचे उतरा और उसके घड़े को छीनकर एक हाथ से अपने कन्धे पर रख लिया और

दूसरे हाथ से उसकी कमर को लपेटे हँसता हुआ ऊपर चला। ओहो, अब दोनों हँस रहे थे, किलक रहे थे! और ऊपर आते-आते.......

नहीं, नहीं, ऐसे अवसरों पर माँ को आँखें मूंद लेनी चाहिए। मैंने आँखें मूंद लीं। मेरी आँखें मुँदी थीं और मेरी कल्पना की आँखें उस युगल जोड़ी पर आशीर्वाद की वर्षा कर रही थीं, जिनके प्रेम को इस संकट ने और भी गम्भीर कर दिया था।

और उस दिन--

मेरी सीता रसोई बनाने बैठी। लक्ष्मण, लक्ष्मण, तुझमें इतना शऊर नहीं कि किस लकड़ी का ईंधन होता है, कैसी लकड़ी का ईंधन होता है। सब धान बाईस पसेरी है तेरे लिए। ऐसी लकड़ी तोड़ लाया तू, कि मेरी बेटी परीशान-परीशान हो गई, लेकिन आग न धधकी। धुँआ, धुँआ! फूंक-पर-फूंक दी; आँचल से विजन किया; फिर तालपत्र से हवा की। किन्तु आँच न धधकी, आग न धधकी। मेरी बेटी की गुलाबी आँखें सुर्मई बन गईं। हारकर वह कुटिया से बाहर आई, आँखें पोछीं, लम्बी साँस ली और खिन्न होकर आकाश की ओर देखा--आह दिन इतना चढ़ आया, वे आते ही होंगे, रसोई अब तक न बना सकी मैं! इच्छा हुई कि अब प्रगट होऊँ ही। जाऊँ, रसोई बना दूं, दामाद को खिलाऊँ, बेटी को खिलाऊँ--जन्म सार्थक करूँ, कि इतने में वही आवाज--"सीते! सीते! अरी, छोड़ो रसोई, देखो ये फल, ढेर के ढेर!" ऐसा कहता हुआ वह नौजवान अब सीता के सामने खड़ा था। "ओहो, तुम्हारी ये आँखें! इसलिए कहा था न कि जंगल.........!"

"यों न कहा कीजिये, नाथ!" सीता ने कहा और फिर दोनों........

नहीं, नहीं! ऐसे मौकों पर माँ को नहीं देखना चाहिए। मेरी आँखें मुँद गईं और कानों ने सुना--"भाभी, इसमें मेरा भी हिस्सा होना चाहिए, भाभी!" फिर तो वह पर्ण-कुटीर हास्य-सदन बन गया! चुहल, व्यंग्य, हँसी, ठहाके--मेरी आँखें मुँदी रहीं, मेरे कान तृप्त होते रहे!

और तीसरे दिन तो मैं कैसे रुकी, यही आश्चर्य होता है!

मेरी बेटी उस कुंज की ओर से फूल चुनकर लौट रही थी। फूलों से उसे कितना प्रेम है! किन्तु, वह बेचारी भूल गई थी, जहाँ फूल है, वहाँ शूल भी हैं और जितना सुन्दर फूल, उतने बड़े शूल! वह जल्द-जल्द पैर बढ़ाये आ रही थी कि एक लम्बा काँटा उसके पैर में चुभ गया। चुभ गया, वह चीखी, बैठ गई! रक्त की धारा—"आह!" मैं थोड़ी दूर थी, दौड़ी! "ओह!!"—यह आह! यह ओह!! मालूम होता था, जैसे कलेजा मुँह को आ गया! मैं आई बेटी—कहती हुई मैं दौड़नेवाली थी कि देखा वह नौजवान पहुँच चुका था वहाँ। मैं ठिठक गई; छिप रही। वह बैठ गया, काँटे को खींचा। लहू की धारा और तेज हो गई। वह अपने वल्कल से लोहू पोंछने लगा। रक्त बहा जा रहा है, और वह पोंछे जा रहा है। "लक्ष्मण, लक्ष्मण, पानी लाओ, लक्ष्मण! ओह, सीते! सीते!" सीता तो तब तक बेहोश हो चुकी थी! उसने सीता को उठा कर छाती से लगा लिया और उन्मत्त-सा चिल्ला उठा—"सीते!" तब तक लक्ष्मण पानी लेकर पहुँच चुका था। सीता के मुँह पर छींटे दिये गये—सीता ने आँखें खोलीं—"नाथ!"

"सीते!"

"अरे, यह क्या हो गया था मुझे नाथ!"

"कुछ नहीं सीते!"

क्या सचमुच कुछ नहीं! सारी पृथ्वी जो रक्त-रक्त हो चली थी और उस रक्त की धारा में राम के आँसू की धारा कहाँ तक मिली थी—कौन बताये?

यों जंगल में भी पति का असीम लाड़-प्यार पाकर मंगल मना रही है मेरी बेटी! किन्तु, उसे यहाँ देखकर रह-रहकर न जाने मेरा हृदय कैसा हो जाता है? मेरी सोने की बेटी, क्या यह जंगल के लिए बनाई गई? दशरथ ने अपना वचन रखा, राम पितृभक्त कहलाये, लक्ष्मण ने भायप निबाहा—किन्तु, मेरी बेटी! क्यों मेरी बेटी के सिर पर यह आपत्ति आ ढही? कहीं मेरा भाग्य तो मेरी बेटी के पीछे नहीं लगा है? आह, उसकी माँ बारह वर्षों तक जंगल में मारी-मारी फिरी और वह चौदह वर्ष जंगल-जंगल की खाक छानती फिरेगी! उफ्! मेरा दुर्भाग्य मेरी बेटी के सिर पर जा गिरा!

मेरा दुर्भाग्य और मेरी बेटी के सर! अच्छी बात है कि मेरी बेटी नहीं जानती कि वह अपनी माँ के दुर्भाग्य का शिकार है—नहीं तो, नहीं तो ......

हाँ, हाँ, कभी अज्ञान ही कल्याण का मार्ग सिद्ध होता है। मेरी बेटी, तू इसी कल्पना में रह कि जनक तेरे पिता हैं, पृथ्वी तेरी माता है! यद्यपि जनक को कभी सीता नाम की कोई सन्तान न हुई और पृथ्वी ने न कभी हाड़-मांस का शिशु प्रसव किया और न कर सकेगी। हाँ, जिस पृथ्वी ने हरे-हरे पेड़ों को, इन लोनी-लोनी लताओं को, इन रंग-बिरंगे फूलों को पैदा किया, उसकी बेटी कहलाने में भी कुछ कम गौरव नहीं है, बेटी! तो मेरी बेटी, अपने इन भाई-बहनों के बीच विचरती रह, खेलती रह, फूलती रह, फलती रह!

फलती?—आह! आह रे माँ का हृदय! हमेशा संतान की कामना में पगा रहता है यह? अपनी संतान, संतान की संतान, संतान की संतान की संतान—संतान! संतान! संतान!

बेटी, मेरी बेटी! तेरे फूल देख रही हूँ; फल कब देखूंगी बेटी? अरे, मुँह बनाकर कहाँ चली! हाँ, हाँ, हर बेटी संतान का नाम सुनकर पहले योंही मुँह बनाती है, बेटी; लेकिन जब संतान आती है, फिर सारा संसार भूल जाती है उसपर। तू इस नौजवान को भी भूल जायगी बेटी! क्या?—"नहीं?"

"नहीं,"—तो ऐसा ही हो! तब तू अपने माँ की सच्ची बेटी साबित होगी! तेरे पीछे छाया की तरह पड़ी हूँ, तब भी अपने देवता को न भूल सकी, मेरी बेटी; यद्यपि मेरे देवता मुझे भूल गये।

आह मेरे देवता! धन्य मेरी बेटी!

चौथा दृश्य

स्थान : लंका की अशोकवाटिका

[छायामूर्तियों में अशोक-वाटिका के दृश्य: अशोक की छायामूर्त्ति तले बैठी हुई सीता की छायामूर्त्ति। दूर पर लंका की अट्टालिकाओं की छाया।

एक स्त्री की छायामूर्त्ति—वृद्ध, कमर कुछ झुक रही, जिसपर हाथ रखकर रह-रहकर तनकर खड़ी होने की चेष्टा करती हुई, बोलती है—]

यह है लंका, सोने की लंका! मेरी सोने की बेटी इस सोने की लंका में!

क्यों? क्योंकि मेरी सोने की बेटी ने सोने के मृग की आकांक्षा की थी!

सोने की मेरी बेटी; सोने का मृग और सोने की यह लंका!

सोना, सोना, सोना!

सोने के मृग को आकांक्षा में बन्दिनी बनी है मेरी सोने की बेटी!

मालूम होता है, सोना तेरे लिए शकुन नहीं है बेटी!

सोने के सिंहासन पर बैठने चली थी, वनवास मिला; सोने का मृग चाहा, कारावास मिला!

मेरी सोने की बेटी, तू तो स्वयं सोने की है; फिर क्यों सोने की आकांक्षा हो तेरे हृदय में? तूने अपने को ठीक से नहीं देखा बेटी! तू अपने को ठीक से नहीं समझ सकी, मेरी सोने की बेटी! तभी तुझे वनवास मिला, कारावास मिला।

या यह भी मेरा अभिशाप है, जो तेरा पीछा किये चल रहा है?

हाँ, हाँ, यह मेरा अभिशाप ही है, जो तेरे सिर पर कभी वन-वास बनकर बरसा; कभी कारावास बनकर बरस रहा है!

नहीं तो, सीता को वनवास! नहीं तो, सीता को कारावास!

या, यह रावण का सर्वनाश है, जो तुझे घर से जंगल में घसीट लाया, अब जंगल से लंका में घसीट ले गया है!

हाँ, अब आग उसके सोने की राजधानी के परकोटे के भीतर आचुकी है। अब सोने की लंका जलकर रहेगी!

सोने की लंका को शायद जलना लिखा है, इसीलिए सोने का मृग बना; इसीलिए मेरी सोने की बेटी के हृदय में उस सोने के मृग के लिए आकांक्षा जगी।

कहीं सोने का मृग होता है? और कहीं राम ऐसे ज्ञानी को उसके पीछे दौड़ने के लिए लाचार होना पड़ता है?

रावण, रावण! तुम्हारी सोने की लंका को धूल में मिलना है, इसीलिए तुमने मेरी सोने की बेटी पर हाथ बढ़ाया है, रावण!

आग से खेलवाड़ करना चाहा है—आप जलेगा, सारा परिवार जलेगा; सोने की लंका जलेगी!

तुम समझ नहीं सके, सीता क्या है? तुमने उसे साधारण नारी समझा या साधारण रानी समझा!

यह कौन है, यह किसकी बेटी है—दुनिया तक नहीं जानती, तो तुम क्या खाकर समझते, रावण!

तुम समझो या न समझो, लेकिन तुमने अपना नाम सार्थक कर लिया, रावण! रावण—रुलानेवाला! उफ् तुमने मेरी बेटी को कितना रुलाया! उफ्, तुमने उस नौजवान को कितना रुलाया!

वह नौजवान रोया, बच्चों की तरह फूट-फूटकर, पागलों की तरह रट-रटकर! उसे घमंड था अपने ज्ञान का, अपने धैर्य का—किन्तु सारे ज्ञान-ध्यान धरे रह गये!

जब वह मृग मारकर लौटा और अपना आँगन सूना पाया, तो पागल की तरह पर्ण-कुटीर में दौड़ गया—"सीते, सीते" पुकारते हुए!

पर्ण-कुटीर से आँगन में! आँगन से कुंजों में "सीते,—कहाँ हो? सीते, कहाँ हो? सीते, छिपो मत सीते; लो अपना मृग! अपना सोने का मृग, सीते!"

कुंजों से नदी-तट पर; फिर उस स्फटिकशिला पर, जहाँ सीता एकाकी जा बैठती थी। फिर पर्ण-कुटीर में! "लक्ष्मण, सीता क्या हो गई लक्ष्मण? सीता कहाँ गई लक्ष्मण? सीते, सीते, सीते!"

थोड़ी देर में ही सारी वन-भूमि 'सीते' 'सीते' की ध्वनि से ध्वनित-प्रतिध्वनित होने लगी!

और क्या यह ध्वनि-मात्र थी! नहीं; जब पुरुष रोता है, तो उसकी ध्वनि स्त्री या बच्चों के रुदन की तरह ध्वनि-मात्र नहीं होती! स्त्री के रुदन में करुणा है; बच्चों के रुदन में याचना है! किन्तु, पुरुष का रुदन—वह क्या है, उसमें क्या है, वह कैसा होता है, शब्दों में क्या इतनी शक्ति है, जो वर्णन कर सके उसका!

ज्ञानी राम, वीर राम, अरे मर्यादा-पुरुषोत्तम राम इस तरह रोया कि सारा जंगल रुदन से ओतप्रोत हो गया!

हाँ, सारी वन-भूमि रुदन से ओत-प्रोत।

अब पंछी रोते थे, पशु रोते थे; पेड़ रोते थे, पौधे रोते थे; नदी रोती थी, झरने रोते थे। झरने के झरझर में, पत्तों के मर्मर में, पंछियों के कलरव में अब राम की रुदन-ध्वनि समाई हुई थी। पशु रँभाते क्या थे—मानों अपना कलेजा निकालकर जमीन पर रख

देते थे। हवा राम के रुदन से सिसकियाँ भरती ; नदी राम के रुदन में सुर मिलाती ! 'सीते' 'सीते' !—यह जंगल की करुण रागिनी की एक कड़ी बन गई थी, मानों ! निभृत निकुंजों से, निर्जन तलहटी से, गह्वर गुफाओं से, मालूम होता था, रह-रहकर कोई पुकार रहा है—'सीते' ! 'सीते' ! राम ने 'सीते' 'सीते' की ऐसी रट लगा दी कि मैने-तोते की ज़बान पर भी यह जा चढ़ी और ज्योंही वे राम को देखते, चीख उठते—'सीते ! सीते ! '

"लक्ष्मण, लक्ष्मण, मैं इस जंगल जी नहीं सकता लक्ष्मण ! यह दिन-रात की 'सीते' 'सीते' मेरा हृदय विदीर्ण कर छोड़ेगी लक्ष्मण ! जहाँ जाओ सीते, जहाँ देखो सीते ! लक्ष्मण इस जंगल को छोड़ो लक्ष्मण !"

राम, तुमने ही तो इन्हें सीता कहना सिखलाया, सीता के लिए रोना सिखलाया, चीखना सिखलाया ! अब जब तुम्हारा व्यक्तिगत रुदन सार्वजनीन हो चला है, तब तुम घबरा रहे हो, राम !

आह, इस जंगल से उस जंगल ; उस जंगल से इस जंगल ! सीते ! मेरी बेटी, अहा, तुम जान पाती, तेरे वियोग में तेरा वह प्राण-प्यारा किस तरह उन्मत्त बना था !

"लक्ष्मण, कहो इन पंछियों से, ये अपना कोलाहल बन्द करें ! लक्ष्मण, कहो, इन पेड़-पौधों से कि शाम-सुबह आँसू न टपकाया करें ! लक्ष्मण, ये झरने क्यों चिल्लाते हैं ? ये नदियाँ क्यों विलाप करती हैं ? कहो, यह विलाप-प्रलाप, अश्रु-उच्छ्वास बंद करें, बंद करें ! नहीं तो······

नहीं तो, लक्ष्मण, मैं अपने इस तीर-धनुष से इस जंगल को जलाकर खाक बना दूंगा, लक्ष्मण ! मैं जल रहा हूँ और ये मखौल करें—नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता लक्ष्मण ! मैं इसे बर्दाश्त नहीं करूँगा—इन्हें मना करो, इन्हें मना करो !"

राम, राम, तुम बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को ज्ञान देते रहे ; वही तुम हो और भोला लक्ष्मण तुम्हें समझा रहा है—"भैया, भैया, ऐसा नहीं कहते भैया ! ऐसा नहीं करते भैया !"

मेरी बेटी, तू धन्य है और धन्य हैं वे सब बेटियाँ, जिनका विरह उनके प्राण-प्यारों को यों विक्षिप्त बना डाले ! यह विक्षिप्तता नारी की विजय-पताका होती है, मेरी बेटी !

और, अपने सिर के ऊपर यह विजय-पताका फहराती हुई, लहराती हुई तू किस शान से बैठी है, इस अशोक-वृक्ष के नीचे !

हाँ, हाँ, यह शान ही तो है ! ऐसी शान कि जिसपर किसी की आँख न ठहरे !

निस्सन्देह, मेरी बेटी भी रोई, जब रावण उसे हर ले चला ; रोई, धाड़ मारकर—कलेजा उलटकर ! किन्तु तुरत उसने अपने रुदन को संयम की शृंखला में कस दिया !

हृदय रोया करो—किन्तु आँखे, तुम्हें आँसू नहीं टपकाना होगा ! अब तुम्हें चिनगारियाँ उगलनी है, पानी बहाना नहीं ! तुम्हें चिनगारियाँ उगलनी है ; क्योंकि वे ही तुम्हारी रक्षा कर सकेंगी।

मुँह से आह नहीं, उच्छ्वास नहीं ! हृदय की आग भट्ठी की तरह धधकती रहे, धधकती रहे—इसके लिए जरूरी है कि मुँह पर ताला जड़ दिया जाय।

राम के रुदन पर रावण हँस सकता था ; सीता का यह संयम रास्ते में ही उसके लिए असह्य हो उठा।

रावण, तू सीता को ले आया था राजरानी बनाने के लिए न ? तो, तू इसे महल में क्यों नहीं ले गया ? क्यों इसे वाटिका में ही छोड़ भागा ?

हिम्मत थी तेरी कि इसे महल में ले जाता—अरे, तेरा स्वर्ण-सौध मेरी बेटी की साधना की आग से उसी समय पिघल जाता, जल जाता, बिला जाता, ओ रावण !

तू मूर्ख तो नहीं है, महापंडित है; इसलिए तू चेत गया। किन्तु यह कैसी मूर्खता कि तू समझता है कि मेरी बेटी स्वयं तेरे प्रसाद में जाने को तैयार हो जायगी कभी-न-कभी।

और, तू हारकर उस दिन धमकी दे गया !

तूने किसे धमकाया रावण, काश, तू जान पाता !

ओहो, सीता पर धमकी, मेरी बेटी पर धमकी, मेरे देवता की बेटी पर धमकी !

ओ आँधी, तू चलाकर, चलाकर ! यह मणिदीप जला करेगा, जला करेगा !

दुनिया में अन्धकार ही अन्धकार है, मेरी बेटी आई है इस अन्धकार-जगत में प्रकाश-पुंज प्रदान करने।

जब मेरी दुनिया अन्धकारमय थी, तब यह प्रकाश-पुंज होकर मेरी गोद में पधारी। फिर इसने जनक के अँधियारे भवन को प्रभासित किया, प्रकाशित किया। यह अयोध्या आई और वह जगमग हो उठी। लेकिन जंगल की बेटी ने देखा, दूसरा जंगल अन्धकारमय है, वह सिंहासन छोड़ उधर दौड़ी! और, वहाँ से इस राक्षस-पुरी में आई है, इसके चिर-अन्धकार को सदा के लिए दूर करने!

यह लंका! यह राक्षसपुरी! अन्धकार से ढँपी यह पुरी; अन्धकार में पुते यहाँ के अधिवासी! अन्धकार में पुते—उनके काले-काले शरीर, उनकी मैली-कुचैली आत्मा! यहाँ के सघन अन्धकार को दूर करने के लिए मेरी बेटी की तरह की ही प्रकाश-पुंजिका की आवश्यकता थी!

राक्षसता को विनष्टकर मानवता की प्रतिष्ठा करने के लिए ही मेरी बेटी यहाँ पधारी है। हाँ, मेरी सोने की बेटी इस सोने की पुरी में मानवता की प्रतिष्ठा करने के लिए ही पधारी है।

मेरी बेटी की यह अखंड समाधि! अशोक-वृक्ष के नीचे यह अखंड समाधि! वायु ही जहाँ आहार है; नाम ही जहाँ आधार है। शरीर छीजता जाता है, ज्योति बढ़ती जा रही है। प्रकाश फैलता जा रहा है—अन्धकार हटता जा रहा है।

हाँ, हाँ, अन्धकार, भाग! भाग! नहीं भगेगा, तो तेरे भगाने के लिए किसी हनूमान को आना पड़ेगा, लंकाकांड मचाना पड़ेगा! सोने की लंका जलेगी, धू-धू करके जलेगी और उसकी विशाल लपटों में, ओ अन्धकार, तू सदा के लिए जलकर रहेगा! जलकर रहेगा!

पाँचवाँ दृश्य

स्थान : अयोध्या का प्रान्तर

[दूर पर अयोध्या की अट्टालिकाओं की छाया-मूर्त्तियाँ। एक जर्जर बुढ्ढा की छायामूर्त्ति धीरे-धीरे प्रकट होती है। वह अयोध्या की अट्टालिकाओं की तरफ कुछ देर तक घूरती रहती है; फिर फूट पड़ती है जैसे—]

आह, यह क्या हुआ? कहाँ गई मेरी बेटी? क्या हुई मेरी बेटी! मेरी बेटी, मेरे सोने की बेटी! मेरी सीते! सीते!!

सीते कहाँ गई? क्या हुई? तुम बताती क्यों नहीं हो, ओ अट्टालिकाओं! तुमने मेरी सीता को क्या किया? ओह, तुम खा गई मेरी बेटी को? झोपड़ी की बेटी को अट्टालिका खा गई!

कंगालिन की बेटी को राजधानी खा गई! देवता की जिस बेटी को राक्षस-पुरी न खा सकी, उसे मानव-पुरी खा गई—खा गई, लील गई! जिन्दा निगल गई! ओह! मेरी बेटी! बेटी! सीते! सीते!

कंगालिन की बेटी, तू, राजरानी बनने चली थी! देव-कन्या तू, मानव से प्रेम करने चली थी! राजधानी तुझे लील गई बेटी; मानव ने तुझे निगल लिया बेटी! अरे, ये मानव—इनसे दानव भले थे! लंका से भी बुरी निकली तुम ओ अयोध्ये! उफ़, ये मानव! इनसे दानव भले थे! हाँ, हाँ लंका से भी बुरी निकली तू ओ अयोध्ये!

हाय रे! लंका-विजय के बाद विभीषण को राज्य मिला, राम को साम्राज्य मिला और मेरी बेटी को मिला अग्नि-स्नान!

राम, राम! जो स्त्री तेरह वर्षों तक तुम्हारे पीछे छाया बनी घूमती रही; दस महीने में ही तुमने उसपर से विश्वास उठा दिया!

सिर्फ दस महीने तक मेरी बेटी तुमसे दूर रही थी, उस राक्षस-पुरी लंका में रही थी और इतने ही छोटे अर्से में तुम्हारा इतना बड़ा अविश्वास कि उसे अग्नि-परीक्षा के लिए तुमने चुनौती दी!

मेरी सीता लंकापुरी में किस तरह रही, तुमने सोचा भी नहीं! और लंकापुरी में वह रही ही क्यों? क्यों तुमने उसकी बहिन की नाक कटवाई थी, जो रावण ने तुम्हारी पत्नी का हरण किया! फिर यह तो तुम्हारी नपुंसकता थी राम, कि कोई तुम्हारी पत्नी का हरण कर ले! अपनी कायरता का प्रायश्चित्त तुम्हें करना था कि मेरी सीता को?

लंकाविजय के बाद उस दिन भी मैं वहीं खड़ी थी जब तुम्हारे सामने सीता आई। आह! मेरी बेटी तुम्हारी ओर किस ललक से बढ़ी! "नाथ! नाथ!"—कहती, चिल्लाती! सबके रोमांच हो आये—तुम्हारे बन्दरों के, लंका के बचे-खुचे राक्षसों के। तुम्हारे लक्ष्मण की आँखों से तो आँसू झरने लगे थे राम!

कि, तुमने कहा—"रुको सीते! तुम्हें परीक्षा देनी होगी।"

किस चीज की परीक्षा? काहे की परीक्षा? सीता दस महीने तक लंका में पड़ी रही, इसकी परीक्षा? उसके सतीत्व की परीक्षा? राम, जब तुम यह बोले, तब भी क्या तुम राम ही थे राम!

आह ! उस दिन रावण की आत्मा कितनी हँसी होगी ! उसने कहा होगा—"सीते, सीते ! यही है राम, जिसको तुम्हारे चरित्र पर भी संदेह है ! ऐसे आदमी के लिए ही तुम मर रही थी !" हाँ, हाँ, रावण की आत्मा उस दिन अट्टाहास कर उठी होगी राम !

तुमने कहा—"रुको" ! मेरी सीता रुक गई ! वह चुप थी—किन्तु राम, तुम नहीं सुन रहे थे कि मेरी बेटी का रोआँ-रोआँ क्या कह रहा था ?

तुमने पहले से ही चिता सजवा रखी थी ! कितने दूरदर्शी हो तुम राम ! धू-धू आग जल रही थी। "सीते, अग्नि-परीक्षा देनी होगी तुम्हें !" अग्नि परीक्षा !—सीता ने आग की ओर देखा और कूद पड़ी उसकी लपटों में ! आश्चर्य से तुम्हारी आँखें फटी जा रही थीं राम, यह देखकर, कि मेरी बेटी उस अग्नि-ज्वाल के बीच भी मुस्कुरा रही है ! तुम्हारा वह भोला भाई, तुम्हारी वानरी सेना, तुम्हारे युद्धबन्दी राक्षस—उन सबकी तो हालत मत पूछो ! राम, तुम्हें फुर्सत कहाँ थी उन्हें देखने की—तुम्हारी आँखें तो अग्नि-ज्वाल में खड़ी मेरी बेटी के दिव्य-भव्य चेहरे पर अड़ी थीं, गड़ी थीं, जड़ी थीं !

धीरे-धीरे अग्नि-ज्वाल प्रशमित हुई और मेरी बेटी निकली, आग में तपाये सोने की तरह, कुंदन की तरह—दिपती, चमकती। तुम्हारे आँखों में चकाचौंध लगी थी राम, जब मेरी बेटी आकर तुम्हारे चरण छू रही थी !

अब तुम एक बार फूट पड़े, रो पड़े !—"सीते, सीते ! तुम सतीशिरोमणि हो सीते ! लोकापवाद को सदा के लिए, नष्ट करने के ही लिए मुझे यह कठोर-कर्म करना पड़ा है सीते !"—तुम बोले !

लेकिन राम, तुम्हारे हृदय का अविश्वास तब भी नहीं गया था, राम ! नहीं तो इस अग्नि-परीक्षा के बाद एक धोबी के कहने पर, तुम उसे वनवास नहीं देते और उस हालत में, जब उस बेचारी पर तुमने मातृत्व का बोझ लाद दिया था !

उफ, निर्दयता की भी कोई हद होती है, राम। और यही करना था तो साफ क्यों नहीं कह दिया—धोखे से उसे जंगल भेजा और जब तुम्हारा नाम लेती-लेती वह मूर्छित हो गई, तो तुम्हारा भाई उसे एकाकी छोड़कर भाग आया ! वाह रे तुम्हारा भोला भाई !

भगवान ने तुम्हें भाई भी कैसा दिया है कि जिससे तुम जब जो चाहो करवा लो।

तुम निरपराधिनी सीता पर दंड पर दंड बरसाते रहे और वह ऐसी कि तुम्हारे अपराधों पर पर्दा डालती रही। यदि वह वाल्मीकि ऋषि से सब बातें खोलकर कह दिये होती, तो राम, एक तो रामायण लिखी नहीं जाती और यदि लिखी जाती, तो कुछ दूसरी ही तरह।

और, जब उसके बेटों ने बता दिया कि उसकी माँ क्या है—जब तुम्हारे महावीर हनूमान बन्धन में पड़े दुम दबाये बैठे थे, जब तुम्हारे भक्त-विभीषण भ्रातृ-द्रोह का फल चख रहे थे, जब तुम्हारे भोंदू लक्ष्मण बेहोश पड़े थे—तब तुम्हारी आँखें थोड़ी देर के लिए फिर खुलीं राम ! राम, फिर तुमने एक बार त्याग का स्वाँग किया! हाँ, हाँ, यह स्वाँग ही था। तुम्हें चक्रवर्ती कहलाना था और सीता के बेटों पर विजय प्राप्तकर यह गौरव नहीं प्राप्त किया जा सकता, यह तुम समझ गये। इसीलिए फिर सीता को गले लगाया; उसके बेटों को 'बेटे, बेटे' कहकर फुसलाया।

किन्तु, जब चक्रवर्तित्व मिल गया, तो फिर सीता की क्या कीमत? तुमने इस बार भरी सभा में बुलाकर उसे अपमानित कराया राम!

आह! सीता पर कलंक! मेरी सीता पर कलंक! मेरे देवता की सीता पर कलंक! यह सीता पर कलंक नहीं, तुम्हारी अयोध्या पर कलंक है राम; जहाँ के धोबी ऐसे मुँहचढ़े हैं, जहाँ का पुरोहित इतना सिरचढ़ा है। मैं जानती हूँ राम, इस सारी घटना में तुम्हारे उस बूढ़े ब्राह्मण का कितना हाथ है ! तुम्हारी अयोध्या के ही योग्य वह पुरोहित है राम !

आह ! जिस पृथ्वी पर मन्दोदरी के लिए जगह है, जिस पृथ्वी पर तारा के लिए जगह है, जिस पृथ्वी पर कर्कशा कैकई के लिए जगह है, जिस पृथ्वी पर तुम्हारी 'साध्वी' माता कौशल्या के लिए जगह है, उसपर सीता के लिए जगह नहीं ! सीता के लिए, सती-सीमन्तिनी सीता के लिए, पति-प्राणा सीता के लिए।

देखती हूँ राम, देखती हूँ। माताओं की चर्चा ने तुम्हें तिलमिला दिया। किन्तु कहे देती हूँ राम, आँखें मत गुरेड़ो, मत गुरेड़ो। बात तीखी हो गई; किन्तु सच्ची बात हमेशा मीठी नहीं हुआ करती। हाँ, हाँ, मुझे अफसोस यही है राम, कि तुमने अपने घर या अपने

मित्रों के घर की स्त्रियों के मापदंड से ही मेरी बेटी के चरित्र को मापने की कोशिश की। आँखें मत गुरेड़ो, राम, जरा तह तक देखने की कोशिश करो !

और, एक दिन तुम तह तक देखोग और रोओगे ! हाँ, हाँ, राम तुम रोओगे। तुम जंगल में भी रोये थे राम; किन्तु इस बार का रुदन कुछ विचित्र होगा ! अबकी तुम्हारा रुदन कोई देख भी नहीं सकेगा, सुन भी न सकेगा राम ! अरे, अपनी ही हिचकियाँ तुम्हारा गला दबा देंगी—तुम अपने ही आँसुओं में डूब मरोगे राम ! हाँ, डूब मरोगे, डूब मरोगे ! तुम डूबोगे, तुम्हारा यह भोला भाई डूबेगा, तुम्हारा सारा परिवार डूबेगा और उसी के साथ डूबेगी सारी अयोध्या की श्रीशोभा। जहाँ सीता का अपमान हुआ, वह स्थान अपना गौरव खो चुका। वाल्मीकि की कृपा से तुम मर्यादा-पुरुषोत्तम भले ही बने रहो राम, लेकिन सीता के साथ ही, ओ अयोध्ये, तुम्हारा गौरव सदा के लिए पाताल-प्रवेश कर गया।

आह, राजा जनक ने उस दिन एक भविष्यवाणी ही की थी, जब उन्होंने सीता को पृथ्वी की पुत्री कहा था। पृथ्वी, पृथ्वी, तूने मेरी बेटी को अपनी गोद में ले लिया; अब आकाश, आकाश, तू अपनी शरण मुझे दे।

आकाश, आकाश ! अहा, बेटी पाताल चली; माँ आकाश की ओर जा रही है !

[स्त्री की छाया-मूर्त्ति धीरे-धीरे ऊपर उठती हुई विलीन हो जाती है]

संघमित्रा

[एकांकी]

यह संघमित्रा

सम्राट् अशोक की सुपुत्री संघमित्रा उनकी आज्ञा पर भिक्षुणी बनकर सिंहल गई और वहाँ बुद्ध के शान्तिधर्म का प्रचार किया।

संघमित्रा बोधिवृक्ष की जिस डाल को लेकर सिंहल गई थी, वह या उसका वंशज अश्वत्थ वृक्ष आज भी सिंहल में जीवित है।

इस छोटे-से एकांकी में मैंने उसी घटना को चित्रित करने की चेष्टा की है।

हाँ, मैंने उसके मूल उत्स को खोजने का भी प्रयत्न किया है। अशोक के धर्म-परिवर्तन में कलिंग का स्थान रहा है, यह तो सर्व-विदित है। किन्तु संघमित्रा ने भिक्षुणी बनना क्यों स्वीकार कर लिया? क्या सिर्फ पिता का आज्ञापालन ही इसमें कारण रहा है? या कहीं उसके हृदय में कोई अपना अन्तर्द्वन्द्व भी था? केवल आज्ञापालन की भावना इतना बड़ा परिवर्तन कराने में तो प्रायः असफल रही है!

"रहने दो, रहने दो; इतिहास के पन्ने को बन्द ही रहने दो!" इस वाक्य से यह नाटक समाप्त होता है। इसी पन्ने को मैंने थोड़ा-सा उलटकर पाठकों के सामने रख दिया है!

इसका अधिकार मुझे था? किन्तु कलाकार तो प्रायः ही अनधिकार चेष्टा कर बैठता है न?

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पात्रियाँ

संघमित्रा :: मल्लिका



पात्र

महेन्द्र :: नीलमणि

१

[सम्राट् अशोक के राजप्रासाद का एक कक्ष। सम्राट् के पुत्र महेन्द्र और उनकी पुत्री मित्रा, जो पीछे चलकर संघमित्रा के नाम से प्रसिद्ध हुई, परस्पर बातें कर रहे हैं]

संघमित्रा—हाँ, तो फिर क्या हुआ भैया ?

महेन्द्र—महीने-पर-महीने बीतते गये, हमारा घेरा मजबूत होता गया, कसता गया। हमने ऐसी स्थिति ला दी कि उनकी राजधानी के अन्दर न एक छटाँक अन्न पहुँच पाये, न एक चुल्लू पानी।

संघमित्रा— ओह ! वे बेचारे ! भैया, फिर क्या हुआ ?

महेन्द्र—उनकी राजधानी में पहले कोलाहल-कोलाहल था, फिर सन्नाटा छाने लगा—मृत्यु का सन्नाटा ! किसी भयानक निश्चय का सन्नाटा !! जब मृत्यु सामने होती है, आदमी भीषणतम संकल्प पर उतारू हो जाता है, मित्रे !

संघमित्रा—उन्होंने भी भीषणतम संकल्प किया ! क्या संकल्प किया भैया ?

महेन्द्र—एक दिन उनके दुर्ग का फाटक खुला, वे निकले ! ताँबे के रंग के वे लोग ! वे आदमी नहीं मालूम होते थे, ताँबे की जीवित प्रतिमायें—सुघर, सुन्दर, चमकीली—

संघमित्रा—कलिंग के लोग सचमुच बड़े सुन्दर होते हैं, भैया !

महेन्द्र—सुन्दर और बहादुर भी ! वे ताँबे की प्रतिमायें गुस्से में लाल अंगारे-सी दहकती मालूम पड़ती थीं। सबके हाथों में हथियार,

सबके मुँह में जयनाद ! कलिंग की वाहिनी हम पर इस तरह टूटी, जैसे भूखे शेर शिकार पर टूटते हैं।

संघमित्रा—भूखे शेर—शिकार पर ! ओहो ! (भय-मुद्रा)

महेन्द्र—हाँ, हाँ, वे ऐसे टूटे जैसे भूखे शेर शिकार पर। दिन भर घमासान लड़ाई होती रही मित्रे ! ऐसी लड़ाई जिसमें एक पक्ष ने तय कर लिया हो कि वे या तो मरेंगे या मारेंगे—नहीं, मार कर मरेंगे। क्योंकि कलिंग वाले समझ गये थे, वे जीत नहीं सकते और पराजय की अपेक्षा उन्होंने मरण को वरण किया था।

संघमित्रा—तब तो सचमुच बड़ी घमासान लड़ाई हुई होगी, भैया ?

महेन्द्र—बड़ी घमासान ! जब शाम को हम विजयी हुए, तो पाया, हम मुर्दों के देश के राजा हैं ! उफ, रक्त का समुद्र हिलोरे ले रहा था; मानवता चीख-पुकार कर अंतिम दम तोड़ रही थी !

संघमित्रा—रक्त का समुद्र ! ओह !

महेन्द्र—हाँ, हाँ, मित्रे, रक्त का समुद्र ! जिसने उस समुद्र को देखा, किसी का कलेजा स्थिर नहीं रहा ! पिताजी तो फूट-फूट कर रोने लगे !

संघमित्रा—(आश्चर्य में) पिताजी रोने लगे ?

महेन्द्र—हाँ, मित्रे, रोने लगे, बच्चों-सा बिलख-बिलख कर ! जिन्होंने अपने सौ भाइयों की हत्यायें करवाई थीं, हर हत्या पर उत्सव मनाया था; जिनकी वीरता क्रूरता की भी सीमा पार कर गई थी, वे ही पिताजी बच्चों-से बिलख-बिलख कर रोने लगे ! और हिचकियों में कहा—चलो पाटलिपुत्र, आज से हम युद्ध नहीं करेंगे !

संघमित्रा—हाँ सुना है; और आप लोग चले आये !

महेन्द्र—नहीं ! उस समय संध्या हो चली थी। पिताजी ग्लानि में युद्ध-भूमि से लौट रहे थे। मैं उनके साथ था; कि अकस्मात् कुछ शब्द हुआ, और हमने पाया, जैसे मुर्दों के बीच से कोई उठ खड़ा हुआ हो !

संघमित्रा—मुर्दों के बीच से कोई खड़ा हुआ हो !—आप लोग डर गये होंगे; भैया !

महेन्द्र—पगली, मर्द डरा नहीं करते !

संघमित्रा—मर्द नहीं डरते! ओहो! अच्छा, तो आगे क्या हुआ भैया?

महेन्द्र—मालूम हुआ, एक लाश खड़ी हुई, चीखी, हमारी ओर बढ़ी—तीर की तरह! और, उसने पिताजी पर वार कर दिया!

संघमित्रा—अरे, अरे!

महेन्द्र—किन्तु तलवार कहाँ थी? थी सिर्फ मूँठ! पिताजी की ढाल पर ठस-सा शब्द हुआ और वह लाश आप ही भहरा पड़ी! और थोड़ी ही देर में लाश पिताजी के कंधे पर ढोई जाकर हमारे शिविर में थी। लाश में अब भी साँस थी। पिताजी ने तुरंत चिकित्सकों को बुलाया और आज्ञा दी—इसे अच्छा करना ही है तुम्हें! कलिंग का यही उपहार लेकर मुझे पाटलिपुत्र लौटना है!

संघमित्रा—उसका क्या हुआ? वह कौन था भैया?

महेन्द्र—उसका जो कुछ हुआ, सामने देखो! (प्रकोष्ठ की ओर इंगित करता हुआ) वही नीलमणि है। कलिंग की प्रतिहिंसा की जीवित प्रतिमा और पिताजी के आध्यात्मिक कायाकल्प का चलता-फिरता प्रमाण! देखो, वहाँ प्रकोष्ठ के सुनसान कोने पर निश्चल खड़ा हुआ किस तरह गंगा की ओर घूर रहा है!

२

[सम्राट् अशोक के प्रासाद के प्रकोष्ठ का एक एकान्त स्थान। सम्राट्-कुमारी मित्रा कलिंग-कुमार नीलमणि से बातें कर रही हैं]

संघमित्रा—क्या देख रहे हैं, कलिंग-कुमार!

नीलमणि—ओहो, आप? क्या देख रहा हूँ? आप भी देखिये न राजकुमारी! देखिये, वह क्या है?

संघमित्रा—कितना सुन्दर दृश्य! एक ओर से सोनभद्र का सुनहला पानी, दूसरी ओर से सदानीरा की तुरत-तुरत हिमालय से उतरी शीतल जल-धारा! दोनों बाँहें पसार कर, दौड़ कर गंगा-मैया से मिल रही हों मानों! वह कलकल, वह कुलकुल! यहाँ से भी हम शब्द सुन रहे हैं, कुमार! कितना सुन्दर, कितना मधुर!

नीलमणि—केवल यही देख रही हैं आप ?

संघमित्रा—नहीं, नहीं ! और भी देख रही हूँ—अस्ताचलगामी सूर्य्य की किरणों के स्पर्श से गंगा की उर्मियाँ किस प्रकार स्वर्णिम-स्वर्णिभ हो रही हैं और उनपर नागरिकों की सजी-सजाई नौकायें, पुष्पवाटिका में उड़ती तितलियों की तरह, किस शान से तैर रही हैं····

नीलमणि—रहने दीजिए; आप बिल्कुल कवि हैं; आप सत्य नहीं देख सकतीं !

संघमित्रा—सत्य नहीं देख सकतीं ! तो क्या मैं झूठ कह रही हूँ ?

नीलमणि—झूठ वह है जो देखने या सुनने के प्रतिकूल कहा जाय। मैंने कहा, सत्य आप देख नहीं सकतीं। सत्य का देखना कुछ आसान काम नहीं है राजकुमारी !

संघमित्रा—अच्छा, तो आप ही कहिए, किस कठोर सत्य को आप देख रहे हैं यहाँ ?

नीलमणि—सत्य को देखना कठिन है; तो उसका कहना कठिन-तर। और राजकुमारी, उसका सुनना तो शायद कठिनतम !

संघमित्रा—मुझे पहेली में नहीं रखिए कलिंग-कुमार ! बताइए क्या देख रहे थे आप !

नीलमणि—बताऊँ ? आप सुनने को तैयार हैं ?

संघमित्रा—(खीझ में) ओह !

नीलमणि—तो सुनिए ! मैं देख रहा था आपकी इस गंगा मैया के पानी में कितना रक्त है और कितने आँसू !

संघमित्रा—(साश्चर्य) रक्त, आँसू ! गंगा के जल में ?

नीलमणि—हाँ, राजकुमारी, रक्त, आँसू ! मैं देख रहा हूँ, गंगा की इस उज्ज्वल धारा में रक्त–ही–रक्त है, आँसू–ही–आँसू हैं !

संघमित्रा—यह क्या कह रहे ह आप ?

नीलमणि—सत्य ! नग्न सत्य ! जो पर्दे के पीछे है, वह कठोर सत्य ! यह गंगा—यह विशाल नदी ! यह आप लोगों की साम्राज्य-लिप्सा की प्रतीक है, राजकुमारी ! इसने आपको बढ़ने की प्रेरणा दी है, फैलने की प्रेरणा दी है। सीमाओं को तोड़ने, रास्तों की रुकावटों को उखाड़ फेकने, साहस करने वालों को डुबोने और चारों ओर एक-छत्र राज स्थापित करने की प्रेरणा इसीसे आप लोगों ने प्राप्त की

है ! शायद ही किसी नदी के तट पर इतना रक्त बहा हो ! शायद ही किसी की धारा में इतने आँसू मिले हों !! गंगे-गंगे ! तू दुनिया में किस अभिशाप का फल बन कर आई ?

संघमित्रा—यह आपको क्या हो गया है, कलिंग-कुमार ! आप क्या बोल रहे हैं ?

नीलमणि--(उसकी बातों से बेपरवाह) और, साम्राज्य न चले जब तक उसमें ढोंग न हो । गंगा, ढोंग की मूर्ति ! ऊपर उज्ज्वल चंचल लहरियों की अठखेलियाँ, नीचे रक्त का हाहाकार, आँसुओं का चीत्कार ! (नीलमणि का ध्यान संध्याकालीन किरणों के पड़ने से लाल बन रही गंगा की धारा की ओर जाता है—वह अचानक अट्टहास कर उठता है) हा-हा--हा-हा-हा, देखो; देखो राजकुमारी, देखो ! सूरज की अंतिम किरणों ने लहरियों पर पड़कर तुम्हारी गंगा का सारा ढोंग खत्म कर दिया । देखो, वह लाल-लाल ! वह अब लाल-लाल हो रही है तुम्हारी गंगा ! अब तुम्हारी गंगा में रक्त ही रक्त है ! रक्त··· रक्त··· (विक्षिप्त-सी भावभंगी करने लगता है)

संघमित्रा—(उसे पकड़ती हुई) कुमार, कुमार ! अभी तुम स्वस्थ नहीं हुए कुमार ! आह !.....

नीलमणी—(संघमित्रा की बातें जैसे उसने सुनी नहीं हो) रक्त, रक्त ! (संघमित्रा की आँखो में आँसू देखकर) और यह तुम्हारी आँखों में आँसू ! उफ, गंगे, तुम्हारी धारा में रक्त-ही-रक्त है ! तुम्हारे तट पर आसू-ही-आँसू हैं ! रक्त, आँसू ! रक्त, आँसू ! (चिल्लाता है)

संघमित्रा—शान्त, कुमार, शान्त !

नीलमणि—शान्त ? आह, मैं शान्त हो पाता ! जिसका घोंसला जला दिया गया हो, वह पंछी भी शान्त हो सकता है राजकुमारी?

संघमित्रा—घोंसला जला दिया गया हो ! हाँ, (कुछ रुककर) किन्तु दूसरा घोंसला बन सकता है कुमार ! (आँखों में अनुराग)

नीलमणि—क्या कहा, दूसरा घोंसला ? क्या इसीलिए मुझे श्मशान से उठा लाया गया ? क्या इसीलिए मेरी चिकित्सा कराई गई ? क्या इसलिए तुम्हारे पिता मुझपर इतना प्रेम दिखाते हैं ? ढोंग-ढोंग--काषाय वस्त्र के नीचे भी इतनी कालिमा ···

संघमित्रा—(बात काटती हुई) पुत्री के समक्ष पिता की निन्दा भद्रोचित नहीं, कम-से-कम इतना तो समझो ।

नीलमणि—भद्रोचित! (शान्त होते हुए) आह, ऐसी समझ मुझमें आती राजकुमारी ! एक दिन मैं भी भद्र था, हम भी भद्र थे । किन्तु हमारी सारी भद्रता को तुम्हारे पिता ने लाशों और लोथों से ढँक दिया !

संघमित्रा—अतीत का गीत दुहराने से कुछ नही होता कुमार ! हम वर्तमान को देखें, भविष्य की चिन्ता करें ! तुम चाहो, तो कलिंग का भाग्य-सूर्य्य फिर सोलहों कला से दीप्त-दृप्त हो सकता है !

नीलमणि—(साश्चर्य) मेरे चाहने से ?

संघमित्रा—हाँ, तुम्हारे चाहने से ?

नीलमणि—मेरे चाहने से ? मैं यह समझ नहीं पाता ?

संघमित्रा—(जमीन की ओर देखती हुई) समझोगे राजकुमार, समझोगे ।

नीलमणि—(कुछ हतप्रभ-सा) तुम्हारा मतलब !

संघमित्रा—क्या हर मतलब को प्रकट करने के लिए शब्द ही चाहिए ?

नीलमणि—(जैसे वह भाँप गया हो) ओहो ! (फिर कुछ सोचकर) किन्तु राजकुमारी, खँड़हर पर नई इमारत बन सकती है; खँडहर खुद इमारत नही बन सकता । जो उजड़ गया, उजड़ गया; जो नया आयगा, वह नया आयगा ! कलिंग मर चुका, कलिंग के अनेको राजपुरुप और राजकुमारों के साथ ही यह तुच्छ नीलमणि भी मर चुका । यह जो तुम्हारे सामने खड़ा है, वह नीलमणि नही है । वह नीलमणि का भूत है, जिसे तुमने मंत्रबल से खड़ा किया है। तुम्हारी सेवा, तुम्हारी शुश्रूषा—जीवन भर इसे नहीं भूल सकता, राजकुमारी ! किन्तु भूत को जीवित प्राणी समझने की नासमझी न करूँगा, न करने दूँगा !

संघमित्रा—कुमार !

नीलमणि—राजकुमारी !

संघमित्रा—अभी तुम स्वस्थ्य नहीं हुए हो, कुमार !

नीलमणि—और न हो सकूँगा राजकुमारी ! मेरी मानसिक स्थिति तुमलोग समझ नहीं सकते । विजेता और विजित की मनोदशा में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। दोनों बिलकुल दो वस्तुयें हैं। न तुम लोग हमें समझ सकोगे, न हम तुम्हें समझ सकेंगे ! हम समानान्तर रेखायें हैं, एक बिन्दु पर मिल नहीं सकते !

संघमित्रा—(व्याकुल होकर) ओह! कुमार...

नीलमणि—व्याकुल मत हो राजकुमारी! अब मैं पाटलिपुत्र में नहीं रह सकता। मुझे लगता है सारा पाटलिपुत्र ढोंगों से भरा है! यहाँ की गली में ढोंग है, यहाँ के बाजार में ढोंग है। यहाँ के झोपड़ों में ढोंग, यहाँ की अट्टालिकाओं में ढोंग। यहाँ के नागरिक ढोंगी, यहाँ की नागरिकायें ढोंगी। इस गंगा के पानी में ही ढोंग है राजकुमारी! (उसाँसें लेता हुआ) अरे, इससे तो हमारा सागर अच्छा—जो न अपने रंग को छिपाता है, न अपने स्वाद को। संसार भर का विष पीकर जो नीला बना है, संसार भर के आँसू आत्मसात् कर जो खारा हो चुका है। जो अपनी जगह नहीं छोड़ता, जो अपनी मर्यादा नहीं तोड़ता! बस उसी का तट शायद मुझे स्वस्थ कर सके, मित्रे!

संघमित्रा—बस करो, बस करो, राजकुमार!

नीलमणि—मित्रे! (अपराध बोध करते हुए) क्षमा करना राजकुमारी, तुम्हारा नाम लेकर पुकार दिया! यह पहला और अंतिम अपराध हुआ—क्षमा करो! क्षमा!! (वह झपट कर चल देता है, सम्राट्-कुमारी मित्रा देखती रह जाती है)

३

[सम्राट् अशोक का अतःपुर। सम्राट्-कुमारी मित्रा अपनी परिचारिका मल्लिका से बातें कर रही हैं]

संघमित्रा—नीलमणि ने कहा था, गंगा के पानी में ही ढोंग है—क्या उसकी बात सच थी मल्ली?

मल्लिका—नीलमणि को आप भूल न सकीं राजकुमारी!

संघमित्रा—नीलमणि मेरे जीवन की एक चुनौती था मल्ली! चुनौती भी क्या भूली जा सकती है?

मल्लिका—चुनौती?

संघमित्रा—हाँ, पिताजी के लिए कलिंग चुनौती, मेरे लिए नीलमणि चुनौती। एक ने युद्ध की निरर्थकता सिद्ध की और दूसरे ने....

मल्लिका—प्रेम की, क्यों?

संघमित्रा—हाँ, हाँ, प्रेम की ! और जानती हो मल्लिके, प्रे
और युद्ध एक ही सिक्के के दो रुख हैं—अलग रूप, किन्तु शरीर एक,
अलग शब्द, किन्तु अर्थ एक; बोल अलग, किन्तु मोल एक।

मल्लिका—कलिंग ने सम्राट् को पीला वस्त्र दिया—

संघमित्रा—और नीलमणि एक दिन मित्रा के शरीर से भं
यह रंगीन चीर उतार कर रहेगा, मल्ली !

मल्लिका—यह क्या बोल रही हैं राजकुमारी ! कहीं.....

संघमित्रा—कहीं मेरे पतिदेव सुन लें, तो। और तू चिंतित होती
उनका नाम स्मरण कर ! (मुस्कराती है)

मल्लिका—हाँ, उनके पिता ने यह अच्छा नाम नहीं चुना था—
अग्निवर्मा ! किन्तु स्वभाव तो बहुत ही प्रेमल है।

संघमित्रा—तभी तो मित्रा ने अपना शरीर उन्हें पूर्णतः समर्पि
कर रखा है।

मल्लिका—शरीर ?

संघमित्रा—हाँ, पिता शरीर का दान करता है। पति क
नैतिक अधिकार शरीर पर होता है ! जिसका जो अधिकार है, उसे
मिलना ही चाहिए, मल्लिके !

मल्लिका—केवल शरीर ? और हृदय.......

संघमित्रा—ढोंग नहीं मल्ली, ढोंग नहीं। जिस दिन नीलमणि क
अंतिम पदचाप सुनकर लौटी, हृदय को कहीं अलग अर्पित कर दिया

मल्लिका—अलग ?

संघमित्रा—हाँ, अलग। किन्तु किसी व्यक्ति पर नहीं ! औ
नीलमणि के बारे में तो सोचना भी अन्याय है मल्ली ! नीलमणि
कोई व्यक्ति तो था नहीं ! उसने यह सच कहा था—नीलमणि म
चुका, वह जो यहाँ था, वह तो भूत था उसका !

मल्लिका—तो किसे अर्पित किया राजकुमारी ने ?

संघमित्रा—एक स्वप्न को।

मल्लिका—स्वप्न को ?

संघमित्रा—हाँ, एक स्वप्न को, सपने के एक संसार को, जिसमें
किसी को नीलमणि नहीं बनना पड़े ! जहाँ हराभरा देश श्मशान न

बन जाय, जहाँ जीवित मानव भूत न बन जाय। मेरा हृदय उसी स्वप्न को अर्पित हो चुका है मल्ली !

मल्लिका—तो फिर विवाह क्यों किया ? हृदय अलग, शरीर अलग—यह तो अजीब साधना है राजकुमारी !

संघमित्रा—बिल्कुल सही कह रही हो मल्लिके ! शरीर अलग, हृदय अलग। अजीब साधना ! किन्तु पिताजी की आज्ञा जो थी। पिता की आज्ञा, राजाज्ञा ! किन्तु मैं जानती हूँ मल्ली, एक दिन पिताजी मुझे इससे भी बड़ी साधना की कसौटी पर कसेंगे। मैं उस दिन की तैयारी कर रही हूँ, मल्लिके !

मल्लिका—पिताजी....साधना की कसौटी......

संघमित्रा—हाँ, कलिंग ने पिताजी को जो ठेस दी, उसका प्रारम्भ ही अभी देख रही हो। उसकी परिणति हम-तुम सब पर बरस कर रहेगी। चोट खाया हुआ आदमी बीच में नहीं रुकता—वह छोर खोजता है, छोर; और उसे पाकर ही दम लेता है। मैं जानती हूँ, वह एक दिन हमें, तुम्हें, भैया को, उन्हें और सुमन को भी........(बच्चे के रोने की आवाज)

मल्लिका—सुमन ? सुमन शायद जग गया है, राजकुमारी !

संघमित्रा—लाओ, उसे जरा दुलरा लें। जितने दिनों तक ही सही—पुत्र-प्रेम, पति-प्रेम, सबका आनन्द लिया जाय। फिर तो.....

४

[कलिंग की तटभूमि : संघमित्रा का बेड़ा सिंहल जाते हुए यहाँ ठहरा है : तटभूमि में एकाकी सान्ध्य भ्रमण करती हुई संघमित्रा नीलमणि को देखकर पुकार उठती है—]

संघमित्रा—ओ, नीलमणि !

नीलमणि—(मुड़कर धीरे-धीरे निकट आते हुए) तुम, राजकुमारी ?

संघमित्रा—हाँ, हाँ ! तुम मुझे पहचान न सके ?

नीलमणि—पहचानूं और यह वेश ?

संघमित्रा—हाँ, कुमार.......यह वेश !

नीलमणि—नहीं, कुमार नहीं, नीलू कहो। कलिंग मर गया, कुमार मर गया, नीलमणि मर गया। यह तो नीलू भूत है जो अपनी नाव लेकर इस समुद्र के किनारे-किनारे प्रातःसन्ध्या जल-विहार किया करता है!

संघमित्रा—अह, उस दिन तुम किस प्रकार भगे? पिताजी ने तुम्हारी खोज कराई—कलिंग में भी तुम नहीं मिले। बाद को पता चला, कभी-कभी तुम समुद्र-तट पर दिखाई पड़ते हो!

नीलमणि—क्या तुम्हारी उस दिन की बात के बाद भी मैं वहाँ ठहर सकता था! और कलिंग कहाँ रह गया? रह गया है यह नील विस्तृत सागर! अब इसीकी शरण है! (खिन्न हो जाता है)—किन्तु तुम यहाँ कैसे? और तुम्हारा यह वेश? यह क्या देख रहा हूँ मित्रे!

संघमित्रा—मैं सिंहल जा रही हूँ नीलू! हाँ नीलू! तुम्हारा यही नाम अच्छा लगता है! और मुझे भी मित्रा नहीं कह अब संघमित्रा कहो। मैं सिंहल में भगवान बुद्ध के शान्ति-धर्म का संदेश लेकर जा रही हूँ!

नीलमणि—धर्म का, शान्ति-धर्म का—आह! फिर ढोंग! (घृणा से) सचमुच गंगा के पानी में ही ढोंग है!

संघमित्रा—(उत्तेजना में) ढोंग, ढोंग मत चिल्लाया करो नीलू! अगर हम ढोंगी होते तो मैं सात दिनों से कलिंग की इस तटभूमि पर अपने जलपोतों में लंगर डलवाकर तुम्हारी खोज में दिन-रात इधर-उधर मारी-मारी नहीं फिरती! और फिर राज-पाट, धन-धान्य, सुख-ऐश्वर्य को ठुकरा कर युवक-युवतियों का यह झुंड जो सात समुद्र पार शान्ति का संदेश लेकर जा रहा है, वह क्या सिर्फ ढोंग ही है? आदमी बदलता भी है नीलू?

नीलमणि—अरे! आदमी बदलता भी है?

संघमित्रा—सिर्फ बदलता ही नहीं है। बदला हुआ आदमी संसार को भी बदल देता है! हम बदल गये हैं, हम संसार को बदलने चले हैं। हम संसार को बदल देंगे, उसे ऐसा बना देंगे जिसमें न विजेता हो, न विजित; न युद्ध हो, न पराजय; न हिंसा हो, न घृणा! जहाँ व्यक्तित्व टुकड़ों में न बँटे, जहाँ हृदय खींचातानी में न पड़े। जहाँ मानव-आकांक्षा की परिणति हो ज्ञान में, मानव-कल्याण में। हम संसार को बदलने चले हैं—देखो, हमारा यह अलौकिक अभियान!

भाई जंगलों को रौंदता, पहाड़ो को कुचलता थल-पथ से गया है; बहिन नदियों को लाँघती, समुद्र को फाँदती जल-पथ से जा रही है!

निलमणि—भाई! कौन? कुमार महेन्द्र?

संघमित्रा—भिक्षु महेन्द्र! नोलू, भिक्षु महेंद्र! कलिंग धन्य है जिसने चंडाशोक को प्रियदर्शी अशोक बनाया। प्रियदर्शी—देवनाम् प्रिय। संसार के इतिहास में अशोक ही अमर नहीं रहेंगे, कलिंग भी अमर रहेगा! किन्तु नीलू, एक बात पूछूं? क्या कलिंग इस महान धर्माभियान में शामिल नहीं होगा? अब तो गंगा का पानी समुद्र में मिलने जा रहा.....

नीलमणि—मित्रे,—नहीं, नहीं, संघमित्रे! उफ, तुम लोगों के ढोंग का पारावार नहीं है! तुम लोग जिस ओर बढ़ोगे, कहाँ तक जा सकोगे, कोई कल्पना नहीं कर सकता। मैं! मैं तो तुमलोगों को देखते ही डर जाता हूँ! देखो, देखो, मेरे सारे शरीर का यह रोमांच! (दिखलाता है, संघमित्रा चकित हो रहती है!) नहीं, नहीं मुझे जाने दो, देखो, वह मेरी छोटी सी नौका मुझे पुकार रही है; विदा.......विदा..........विदा.........

(अचानक द्रुतगति से चल पड़ता है और थोड़ी-थोड़ी दूर से मुड़ कर कहता जाता है—विदा ....विदा)

५

[**सिंहलद्वीप : संध्या समय संघमित्रा मल्लिका के साथ बोधिवृक्ष के बिरवा की पूजा कर रही है**]

संघमित्रा—उधर मल्ली, उस दीपक में घी रख दे!

मल्लिका—रख रही हूँ, भद्रे।

संघमित्रा—और तनिक उसकी बाती उकसा दे।

मल्लिका—अभी किया!

संघमित्रा—और गिन लिया है न; एक सहस्र दीपक हैं न?

मल्लिका—गिन लिया है, भद्रे!

संघमित्रा—इन बातियों की झिलमिल में यह बोधिवृक्ष कितना शोभ रहा है मल्ली!

मल्लिका—बहुत ही सुन्दर लगता है, भद्रे !

संघमित्रा—याद है न ? सिर्फ एक पतली डाली थी और गिन-कर दो पत्ते। साल भी नहीं लगा और एक डाली अनेक डालियाँ दे चुकी, दो पत्ते सैकड़ों पत्तों में फैल गये। लाई थी, तो बिरवा लगता था ! मालूम होता है, अगले साल से ही छाया देने लगेगा मल्ली !

मल्लिका—छाया ! शरीर को ही नहीं, हृदय को भी भद्रे !

संघमित्रा—सत्य—पूर्ण सत्य ! इसकी माँ ने भरतखंड को छाया दी, यह सिंहल को शान्ति की छाया देगा !

मल्लिका—अनन्त काल तक देता रहेगा, भद्रे !

संघमित्रा—हाँ, अनन्त काल तक। कल्पना की आँखों से देख रही हूँ मल्ली, यह वृक्ष बढ़ता जा रहा है ! बढ़ता जा रहा है ! इसका सिर आसमान को छू रहा है, इसकी जड़ पाताल को नाप चुकी है। शताब्दियों, सहस्राब्दियों के बाद भी, जब हम न होंगे, हमारी यह सौभाग्यशाली पीढ़ी न होगी, सम्भवतः यह राजवंश भी नहीं रहे, तो भी यह वृक्ष बढ़ता जायगा, फैलता जायगा, लोगों को शान्ति की छाया देता जायगा !

मल्लिका—यह सब आपकी तपस्या का परिणाम है आर्ये !

संघमित्रा—इसमें मेरा कोई श्रेय नहीं है मल्ली ! इसमें पिताजी की सूझ की बलिहारी है। अहा, किस प्रेम से उन्होंने इस बिरवा को हमें सौंपा था—गंगा में नंगे बदन, छाती भर पानी तक, वे आये और मंत्रों की ध्वनि में सजल आँखों से इसे मेरे हाथों में सौंपते हुए बोले थे—बेटी तथागत के इस बिरवा को आवश्यकता होने पर अपने रक्त से सींचने में भी नही चूकना ! पिताजी···! (ध्यानमग्न होती है)

मल्लिका—और आपने उसे अक्षर-अक्षर निबाहा भद्रे ! सम्राट् प्रियदर्शी तो अमर हो ही चुके हैं, किन्तु आर्या को भी इस बिरवा ने अमर कर दिया !

(अकस्मात् नीलमणि का प्रवेश)

नीलमणि—सच; तुम बिलकुल सच कह रही हो मल्ली !

संघमित्रा—(चौंक कर) कौन ? नीलू ? अरे···

नीलमणि—क्या पहचान नहीं सकी थी ?

संघमित्रा—तुम्हारा यह वेश जो ?

नीलमणि—और उस दिन इसी वेश के कारण तुम्हें नहीं पह-चान सका, तो मुझे उलहना दिया था तुमने।

संघमित्रा—किन्तु तुम और यह वेश ? तुम मेरे ढोंग का व्यंग करने तो नहीं आये ?

नीलमणि—आया तो था यही करने मित्रे, किन्तु इन बातियों के प्रकाश ने कुछ दूसरा ही कर दिया ! इस दिव्य प्रकाश ने मेरे भूत को न जाने कहाँ भगा दिया।

संघमित्रा—अरे ?

नीलमणि—(प्रसन्न मुद्रा में) हाँ, आया था देखने कि तुम लोगों का ढोंग कहाँ तक जाता है। जब तुम्हारे जलपोत खुले, मैंने अपनी नाव का पाल भी उनके पीछे खोल दिया ! किसी तरह डूबते-उतराते यहाँ पहुँचा। तब, दिन भर कहीं माँग-मूँग कर खाता और शाम को इस जगह आता ढोंग की गहराई नापने। किन्तु धीरे-धीरे...

संघमित्रा—हाँ, प्रकाश धीरे ही धीरे फैलता है नीलू ! यह तो अंधकार है जो एक ही बार ढँक लेता है। (कुछ रुककर) मैं जानती थी तुम एक दिन···

नीलमणि—(साश्चर्य) जानती थी ?

संघमित्रा—(मुस्कुराती हुई) हाँ-हाँ मेरा विश्वास था, नीलू का भूत अपने माध्यम को छोड़ नहीं सकता ! बोलो, इस भूत का माध्यम मैं थी या नहीं ?

नीलमणि—ओह, ओह !

(अचानक पद-चाप सुनाई पड़ता है : महेन्द्र आते है)

महेन्द्र—कौन ? तुम ? नीलमणि ? यहाँ ? इस वेश में ?

संघमित्रा—यह हमलोगों का ढोंग नापने आये थे भैया !

महेन्द्र—संघमित्रे ! तुम बार-बार भूलकर जाती हो। अब हम भाई-बहिन नहीं रहे। अब हम संघ के सदस्य-सदस्या हैं। हमलोग रक्त-सम्बन्ध छोड़ चुके हैं।

(संघमित्रा आँखों में आँसू भरकर एकटक महेन्द्र को देखती रह जाती है)

महेन्द्र—फिर ये आँसू!

नीलमणि—'रक्त' 'आँसू'। उफ, घूम फिर कर वही—रक्त··· आँसू; ····आँसू, रक्त! महेन्द्र, महेन्द्र, तुम सब धन्य हो!

महेन्द्र—धन्य हम नहीं, धन्य वह मार्ग है, जिस पर चल कर हम सब यहाँ पहुँचे हैं। किन्तु, तुम यहाँ कैसे?—

नीलमणि—कैसे? कैसे बताऊँ कि कैसे?

संघमित्रा—(अपने को सम्हालकर) कहा था न, हमलोगों का ढोंग देखने।

महेन्द्र—देख लिया ढोंग? और रंग गये ढोंग में! (मुस्कुराता है)

नीलमणि—तुम सब विचित्र प्राणी हो महेन्द्र!

महेन्द्र—क्या इसी से हमें छोड़कर भगे थे?

नीलमणि—क्या तुम लोग क्षमा नहीं कर सकते?

संघमित्रा—एक दिन और भी तुमने क्षमा माँगी थी नीलू, और कहा था, यह पहला और अन्तिम··· (इतना कह कर संघमित्रा रुक जाती है—वह सोचती है, क्या कह गई!)

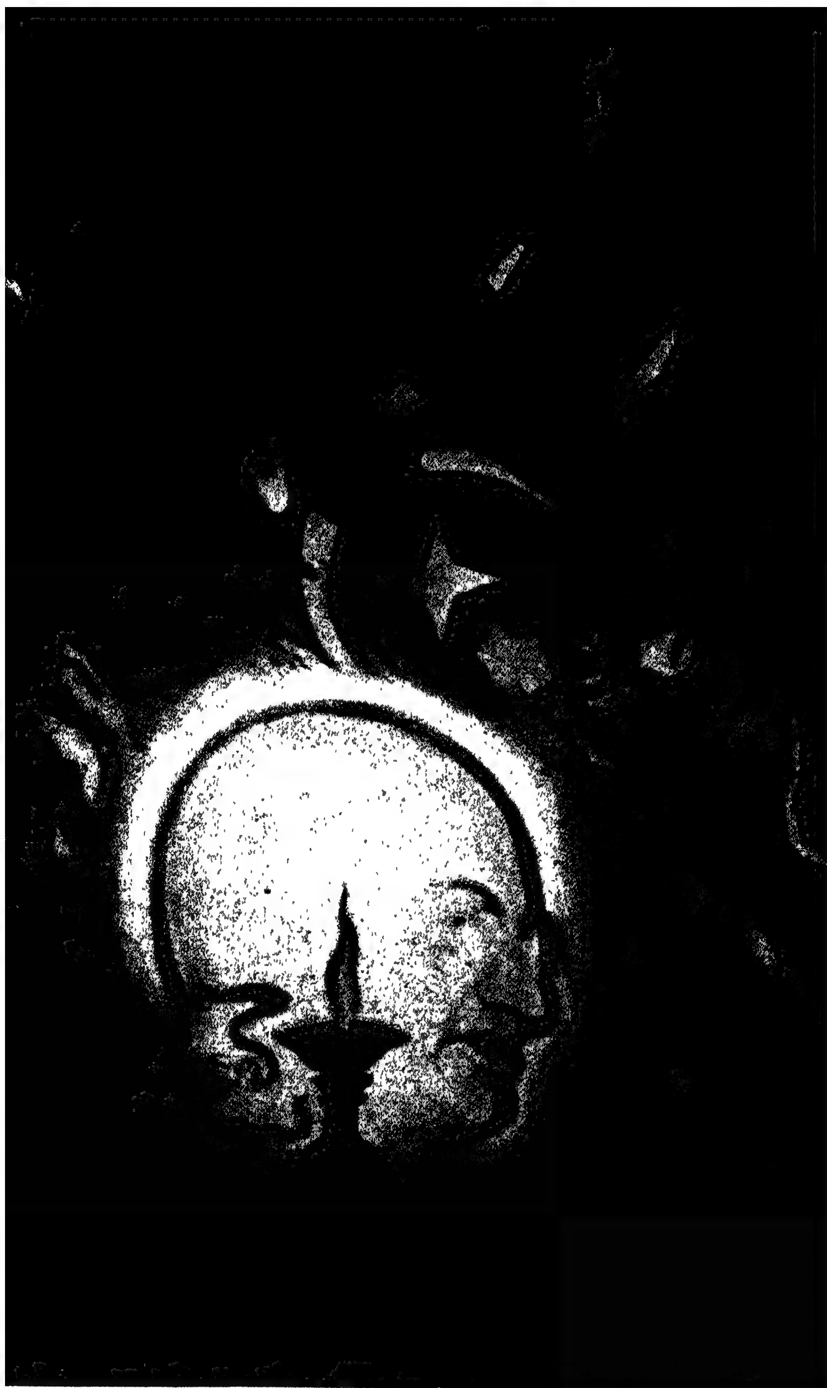
महेन्द्र—कब—कब नीलू?

नीलमणि—रहने दो, रहने दो; इतिहास के एक पन्ने को बंद ही रहने दो। आह!

[**पटाक्षेप**]

अमर ज्योति

[रेडियो रूपक]



अमर ज्योति

१

(पहला प्रवक्ता)

अंधकार-अंधकार। जहाँ देखिये, जिधर देखिये, अंधकार ही अंधकार। ऊपर अंधकार, नीचे अंधकार—चारो दिशाएँ अंधकार में डूबीं। अंधकार—जिसमें आप अपने को न देखें! अंधकार जिसमें शरीर ही अदृश्य नहीं हो गया था; जिससे आत्मा भी ढँक गई थी! ढँक गई थी, चीख रही थी! चीख—अरे............

(स्त्री के करुण कंठ से)

आह,. मुझे बचाओ, मुझे उबारो! यह अंधकार, ये बंधन! ये जंजीरें, ये दीवारें—काली, कलूठी! ओह, ओह! मेरा दम घुंट रहा है! मुझे बचाओ, मुझे उबारो!

यह रात है? ऐसी भी रात होती है? मास, वर्ष, दशाब्दियाँ, शताब्दियाँ! शताब्दियों से इस अंधकार में जकड़ी हूँ, मैं! कुछ देख नहीं सकती, कुछ कर नहीं सकती! मुझे उबारो! बचाओ।

यह अंधकार, ये जंजीरें! हाथों को, पैरों को, छाती को, सब जगह जकड़ रही हैं ये! हिल-डुल नहीं सकती, चल-फिर नहीं सकती; घूम-फिर नहीं सकती! घूमूँ, कहाँ? ये दीवारें-काली-कलूठी! इन्हें तोड़ो— तोड़ो!

तुम सुन नहीं रहे? तुम कहाँ हो? आओ, बचाओ, उबारो! यह अंधकार— इसे हटाओ, हटाओ!

देवता ! देव ! देव ! दौड़ो, आओ। इस अंधकार से बाहर निकालो, ले चलो प्रकाश की ओर, ज्योति की ओर–देवता, देवता– तमसो मा ज्योतिर्गमय !

(दूसरा प्रवक्ता)

और भारत के एक कोने में, सुप्रसिद्ध सुदामापुरी में, आश्विन वदी १२, संम्वत् १९२५ अर्थात् २ अक्टूबर १८६९ को एक चिनगारी चमक उठी !

चिनगारी—ज्योति की पहली रेखा ! इस अंधकार के देश में ! अंधकार उसपर टूट पड़ा, अंधकार की सेना टूट पड़ी ! उसने उसे घेर लिया—ज्योति की वह क्षीण रेखा झबकती-सी मालूम पड़ी—

(एक बच्चे की आवाज़)

मोहन, मोहन, बेबकूफी की बात नहीं। अरे, बिना मांस खाये अपने देश का कल्याण नहीं ! तुम मेरी बात न सुनो, पर, कवि नर्मद क्या कह गये हैं——

अँगरेजी राज करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई जो ने बेनी शरीर भाई,
पेलो पाँच हाँथ पूरो-पूरो माँस सेवे !

हाँ, हाँ, वे खूब मांस खाते हैं; इसलिए वे इतने हट्टे-कट्टे हैं, हमें दबा रखा है ! देश को स्वतंत्र करना चाहते हो, तो मांस खाना आवश्यक है, अनिवार्य है !

और, मांस के साथ सिगरेट न हुई, तो फिर क्या मजा ? शराब भी तो जरूरी है ही, लेकिन अभी उसे छोड़ो । मुँह में मांस, होठ पर सिगरेट ! मजा तब ?

(पहला प्रवक्ता)

मोहन—वह ज्योति-रेखा इस लोक में इसी नाम से अभिहित हुई थी—हाँ, तो मोहन, मोह में फँस गया। परिवार वैष्णव था, तो भी चुप-चोरी मांस उड़ने लगा, सिगरेट उड़ने लगी ! पूरी नहीं मिली, तो जूठी फेंकी हुई सिगरेट भी ! उँह, जूठन पर कब-तक रहा जाय ? तब चोरी शुरू हुई—चोरी ! चोरी ! भाई के सोने के कंठे की चोरी !

किन्तु बचपन में ही उसने 'श्रवण-कुमार' का चरित्र पढ़ लिया था! क्या मा-बाप के साथ यह विश्वासघात नहीं है! क्या पुत्र का धर्म यही है? और उस दिन उसने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक देखा था। सत्य के लिए हरिश्चन्द्र ने कौन-कौन सी तकलीफें नहीं उठाईं? और उस नाटक को देखकर वह कितना रोया था—और आज वही चोरी कर रहा है!

ज्योति की रेखा ने सिर सीधा किया—

(किशोर गांधी के कंठ से)

पिताजी, मुझमे अपराध हो गया है। मैंने आपको धोखा दिया है। मैं माँस खाता रहा हूँ; मैं सिगरेट पीता रहा हूँ। मैंने चोरी की है। इसके लिए आप मुझे सजा दीजिये।

(दूसरा प्रवक्ता)

हाथ में चिट्ठी थी; सामने बेटा था। पिताजी की आँखों से मोती की बूँदें टपकने लगीं। चिट्ठी भींग गई। मोहन भी रो पड़ा! पचास साल के बाद उसने यों लिखा—

(महात्मा गांधी के कंठ से)

"इस मोती-विन्दु के प्रेमवाण ने मुझे वीध डाला! मैं बद्ध हो गया। इस प्रेम को वही परख सकता है; जिसे उसका अनुभव हुआ है———

'राम वाण वाग्यारे, होय ते जाणें'

मेरे लिए यही अहिंसा का पदार्थ पाठ था! ऐसी अहिंसा जब व्यापक रूप धारण करती है, तब उसके स्पर्श से कौन अलिप्त रह सकता है!"

(पहला प्रवक्ता)

हरिश्चन्द्र ने सत्य दिया था, पिताजी ने यह अहिंसा दी—सत्य और अहिंसा! सत्य का तेल, अहिंसा की बाती। ज्योति की रेखा अमर ज्योति के रूप में प्रस्फुटित होने लगी!

००

२

(पहला प्रवक्ता)

पिताजी चल बसे। मोहन ने मैट्रिक पास किया—और कालेज में पढ़ने लगा है। एक दिन उसके घर में एक परामर्श-समिति जुटी है—

जोशीजी—मेरी सलाह तो यह है कि मोहन को आप इसी साल विलायत भेजें। तीन साल में बैरिस्टर बनकर चला आवेगा; फिर अपने बाप की जगह राजकोट का दीवान बनने में इसे क्या दिक्कत होगी? क्यों, मोहन, तुम्हें यह राय पसंद है?

विद्यार्थी गांधी—विलायत भेजें तो बहुत अच्छा। पर मुझे डाक्टरी के लिए क्यों नही भेजते?

बड़े भैया—पिताजी को यह पसंद नहीं था। डाक्टरी की बात जब निकलती, तो कहते, हम वैष्णव हैं। हाड़-मांस नोचने का काम हम कैसे करें?

जोशीजी—मुझे कबा गाँधी की तरह डाक्टरी से नफ-रत तो नहीं है, शास्त्रों ने भी इसका तिरस्कार नही किया है। परन्तु डाक्टरी पास करके तुम दीवान नही बन सकते। मैं तुमको तुम्हारे पिताजी की तरह राज्य का दीवान देखना चाहता हूँ! तुम्हें भी मेरी राय पसंद होगी, मोहन की अम्मा!

माताजी—हमारे कुटुम्ब में कोई विलायत नहीं गया, फिर तरह-तरह की बातें सुनती हूँ......

विद्यार्थी गांधी—माताजी, माताजी.....

माताजी—हाँ, मोहन, लोग कहते हैं वहाँ नवयुवक बिगड़ जाते है; वे मांस खाने लगते है, शराब पीये बिना वहाँ काम नहीं चलता, वहाँ की औरतें भी.....

विद्यार्थी गांधी—मुझपर विश्वास रखो माँ, मैं विश्वास-घात नहीं करूँगा। मैं शपथ खाकर कहता हूँ, मै इन तीनों बातों से बचूँगा!

माताजी—मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर देश में तेरा कैसा क्या होगा? मेरी तो बुद्धि काम नहीं करती! मैं बेचर-स्वामीजी से पूछूँगी।

(दूसरा प्रवक्ता)

स्वामीजी ने मोहन से बाजाब्ता प्रतिज्ञा कराई। तब माताजी की आज्ञा मिली।

और फिर, मोहन विलायत चला—अठारह साल का मोहन! जिसका हाथ बचपन में ही पकड़ा था, अपनी उस नवोढ़ा पत्नी को छोड़कर—माताजी के आँसुओं-भरे आशीर्वाद लेकर!

तीन साल तक वह विलायत रहा—बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ आईं, तरह-तरह के प्रलोभन आये; लेकिन उसने प्रतिज्ञा न छोड़ी, न छोड़ी!

(पहला प्रवक्ता)

सत्य का तेल, अहिंसा की बाती—'अमर ज्योति' हवा के झकोरे में भी जलती रही!

००

३

(पहला प्रवक्ता)

'मोहनदास-करमचंद गाँधी, बार-एट-ला' बम्बई के एक घर के सामने यह तख्ती टँगी है। बैरिस्टर गाँधी ने अच्छे बैरिस्टर बनने के लिए क्या-क्या न सीखा था—अँगरेजी कानून, रोमन कानून; लैटिन भाषा, फ्रेंच भाषा; व्याख्यान-कला, नृत्य-कला। यहाँ तक कि मुख-मुद्रा-शास्त्र तक पढ़ गये थे। लेकिन यह क्या हुआ? यह है बम्बई की छोटी अदालत—

जज—आपही मुदाल्लह के बैरिस्टर हैं।

बैरिस्टर गांधी—जी हाँ।

जज—तो जिरह कीजिये।

बैं० गांधी—जी. . . . .

जज—जिरह शुरू कीजिये न?

बैं० गांधी—जी. . . . . . .

जज—यह क्या हो रहा है आपको, जिरह क्यों नहीं शुरू करते?

बैं० गांधी—जी. . . . .जी. . . . ..

जज—(हँसता है)

(दूसरा प्रवक्ता)

लगभग पचास साल के बाद बैरिस्टर गाँधी की तस्वीर उन्हीं की लेखनी से देखिये —

(महात्मा गाँधी के कंठ से)

"मैं खड़ा हुआ, पैर काँपने लगे, सिर घूमने लगा। मुझे मालूम हुआ, सारी अदालत घूम रही है। सवाल क्या पूछूँ यह सूझ नहीं पड़ता था। जज हँसा होगा, वकीलों को मज़ा आया होगा। पर उस समय मेरी आँखें ये सब देख नहीं सकती थी।"

(पहला प्रवक्ता)

बम्बई में बैरिस्टरी न चली, शायद कठियाबाद में चले। राजकोट आये। एक दिन भाई के एक काम से वहाँ के पोलिटिकल एजेंट के पास गये —इस साहब से विलायत की जान-पहचान थी। सोचा था, प्रेम से मिलेगा, मेरी बात ध्यान से सुनेगा, किन्तु यह क्या?

पोलि० एजेंट—मैं तुम्हारी बातें ज्यादा नही सुनना चाहता, समय नहीं है।

बैरि० गाँधी—हुजूर, मेरे भाई ने ऐसा कुछ. . . .

पो० एजेंट—अब तुमको चला जाना चाहिए!

बै० गाँधी—मेरी बात तो पूरी सुन लीजिये!

पो० एजेंट—चपरासी, इसको दरवाजे से बाहर कर दो!

चपरासी—हुजूर. . . . . हटो, बाहर जाओ।

(दूसरा प्रवक्ता)

यही गोरा विलायत में कितना शिष्ट था! हिन्दोस्तान में आते ही वह क्यों बदल जाता है? लेकिन इस प्रश्न पर ठीक से गौर करने के लिए चपरासी का धक्का ही काफी नहीं है—

(पहला प्रवक्ता)

अभी आँधी-पानी का आना शुरू ही हुआ है–कुछ और तेल दे, कुछ और बाती उकसा—सत्य का तेल, अहिंसा की बाती! अमर ज्योति! झकोरों में भी निर्धूम जलने का अभ्यास कर!

००

४.

(पहला प्रवक्ता)

ब्रीफ-लेस बैरिस्टर गाँधी किसी तरह बम्बई में दिन काट रहे थे कि एक दिन सेठ अब्दुल्ला नामक एक व्यापारी उनके पास आते हैं ——

सेठ अब्दुल्ला—दक्षिण अफ्रीका में हमारा व्यापार है। वहाँ एक मुकदमा चल रहा है। बड़ा मुकदमा है—बहुत दिनों तक चलेगा। आप चलिये न ?

बै० गांधी—चलने को तो तैयार हूँ। लेकिन......

सेठ अब्दुल्ला—लेकिन क्या ? आपको बहुत मिहनत नहीं करनी पड़ेगी। मेरी ओर से बड़े-बड़े बैरिस्टर हैं। आप को उन्हें कागज समझा देना है। नये देश की सैर हो जायगी, नये-नये लोगों से जान-पहचान होगी।

बै० गांधी—मेहनत से तो मैं नहीं भागता। किन्तु माफ कीजिये, कितने दिनों तक मुझे काम करना पड़ेगा, और मेहताना क्या मिलेगा ?

सेठ अब्दुल्ला—एक साल से ज्यादा का काम नहीं होगा। आने-जाने का फर्स्टक्लास का किराया। रहने को बँगला मुफ्त—खाने-पीने का जिम्मा हमारा रहेगा। इनके अलावा १०५ पौंड।

बै० गांधी—एक साल, १०५ पौंड। अच्छी बात ! बात पक्की रही। आप टिकट वगैरह का इन्तजाम कीजिये !

(दूसरा प्रवक्ता)

बैरिस्टर गाँधी अपनी तकदीर आजमाने को अफ्रीका के लिए रवाना हुए ! बम्बई से जहाज रवाना हुआ ! समुद्र में ज्यादा ऊँची तरंगें थीं या बैरिस्टर गाँधी के मन में ?

जहाज जा रहा है—जा रहा है—जा रहा है !

(जहाज के भोंपू का स्वर)

(पहला प्रवक्ता)

और अब यह अफ्रीका है ! घनघोर जंगलों का अफ्रीका, भयानक मरुभूमियों का अफ्रीका। दहाड़ते सिंहों, चिग्घाड़ते हाथियों, विशाल अजगरों, बड़े-बड़े मगरों, काले साँपों और काले हब्शियों का अफ्रीका !

और, हिन्दुस्तान के मजदूरों ने इस जंगल में मंगल रचा दिया है! लेकिन, उफ, उन्ही की क्या हालत है? गोरे उनके साथ क्या व्यवहार कर रहे हें, बैरिस्टर गाँधी को पद-पद पर उसका अनुभव हो रहा है—पहले ही दिन कचहरी में—

मैजिस्ट्रेट—यह कौन है? क्या सर पर यह अटपटा लपेट रखा है! यह कचहरी है; यहाँ......

पेशकार—हुजूर, हिन्दोस्तान से एक नया बैरिस्टर आया है! बेढंगा-सा आदमी मालूम होता है?

मैजिस्ट्रेट—बैरिस्टर हो या जो कुछ, कहो, सर से यह चिथड़ा हटा ले! नहीं तो निकल जाय कचहरी से!

(दूसरा प्रवक्ता)

बैरिस्टर गाँधी पहले ही दिन कचहरी से निकाले गये! और, एक दूसरे दिन एक यात्रा में फर्स्ट क्लास का टिकट कटाकर रेलगाड़ी के डब्बे में बैठे थे कि —

गार्ड—चलो, तुमको दूसरे डब्बे में जाना होगा!

बै० गांधी—लेकिन मेरे पास फर्स्ट क्लास का टिकट है!

गार्ड—कोई मुजायका नही। मै कहता हूँ, तुम्हें सबसे आखिरी डब्बे में बैठना होगा।

बै० गांधी—मै कहता हूँ, मै इसी डब्बे में डरबन से आ रहा हूँ और इसी में....

गार्ड—नही, नहीं। ऐसा नहीं होगा। तुम्हें उतरना पड़ेगा, नहीं तो सिपाही को तुम्हें उतारना पड़ेगा।

बै० गांधी—सिपाही मुझे भले उतार दे, मै अपनेसे नहीं उतरता....

गार्ड—नहीं उतरते, तो यह ले लो—
(ट्रंक, बेडिंग आदि के गिरने का स्वर: फिर बूटों की ठोकर का स्वर)

बै० गांधी—(दर्द से) उफ!
गार्ड—(हँसता हुआ) हा, हा, हा, हा,!

(पहला प्रवक्ता)

और ट्रेन चल पड़ती है ! यों ही एक दिन एक घोड़ा-गाड़ी से भी बैरिस्टर साहब नीचे घसीटे जाते हैं !

जब उन्हीं की यह हालत, तो फिर बालासुन्दरम् की दुर्गत का क्या पूछना ? बालासुन्दरम्—मद्रास का रहनेवाला सीधा-सादा किसान—रुपये कमाने की लालच दिलाकर उसे यहाँ लाया गया और अब—

(कोड़े की चटाचट)

बाला सुन्दरम्—बापरे, बापरे, बापरे. . . . .

(कोड़े की चटाचट)

बाला सुन्दरम्—मरे रे, मरे रे ! उफ ! उफ!———

(गिरने का स्वर—बूट की ठोकरों का स्वर)

आह ! . . . . .आह ! . . . . आह ! . . . .

(दूसरा प्रवक्ता)

बेचारे बालासुन्दरम् के अंग-अंग लहूलुहान हुए ही—उसके आगे के तीन दाँत भी टूट गये ! किन्तु गोरे साहब को कौन पकड़े, कौन सजा दे !

(पहला प्रवक्ता)

बैरिस्टर गाँधी तयकर लेते हैं—नहीं, मैं देश-भाइयों को इस हालत में छोड़कर नहीं जाऊँगा। मैं यहीं रहकर उसकी सेवा करूँगा ! हिन्दोस्तान आते हैं अपने बाल-बच्चों को ले जाने के लिए; क्योंकि अब तो जमकर रहना है। बच्चों के साथ जब डरबन के बंदरगाह में पहुँचते हैं, तो—

(हल्ला. . . .शोर. . . . . हल्ला)

पहला स्वर—गाँधी को वापस करो–जहाज को लौटाओ।

(हल्ला. . . . . .हल्ला)

दूसरा स्वर—गाँधी को हमें दे दो,—हम उसे फाँसी देंगे–हम उसका खून पीयेंगे. . . . .

(हल्ला. . . . . .हल्ला)

तीसरा स्वर—वह कुलियों को बगावत सिखाने लौटा है....लाओ हम उसे बगावत का सबक सिखा दें......

(हल्ला. . . . . .हल्ला)

पहला स्वर—देखो, वह गांधी उतर रहा है–गांधी–सूअर!

(हल्ला. . . . .हल्ला)

दूसरा स्वर—हाँ, हाँ, अंडे से ही उसका स्वागत हो सकता है। लो यह. . . . . . .

(अंडे फूटते हैं: जोरों का अट्टहास)

तीसरा स्वर—गांधी ! अपना चेहरा आईने में देखो–अंडे की जरदी ने तुम्हारे काले चेहरे को कैसा सुन्दर बना दिया है. . . . .

(अट्टहास...........अट्टहास)

पहला—और यह भी लो—यह घूँसा तुम्हारे नाम पर!

दूसरा—और यह ठोकर तुम्हारे देश के नाम पर!

तीसरा—और यह. . . ..(घूँसे की आवाज)

दूसरा—और यह. . . . .(घूँसे की आवाज)

पहला—और यह. . . . .(घूँसे की आवाज)

(दूसरा प्रवक्ता)

घूँसे और ठोकरों से बैरिस्टर गांधी बेहोश हो चले–पुलिस ने किसी तरह उन्हें बचाया! हाँ, किसी तरह! और थाने में रखा, फिर भेष बदलवाकर घर पहुँचा दिया. . . . .

यह तूफान। यह आँधी! किन्तु 'अमर ज्योति' क्या बुझने को आई थी? वह निर्लिप्त, निर्विकार किस प्रकार जलती रही, इसका पता तब चला, जब चेम्बरलेन ने तार दिया कि मुजरिमों पर मुकदमे चलाये जायँ, किन्तु गांधी ने स्पष्ट कह दिया—

(गांधीजी के कंठ से)

"नहीं, मैं उनपर मुकदमा नहीं चलाना चाहता! वे भटके नहीं, भटकाये गये लोग थे।"

(पहला प्रवक्ता)

सत्य का तेल, अहिंसा की बाती—अमर ज्योति जलती रहे; प्रकाश देती रहे—अफ्रीका की इस काली भूमि को, यहाँ के काले आदिवासियों को और उन गोरों को भी जिनके हृदय काले बन गये हैं!

००

५

(पहला प्रवक्ता)

यह अपमान, यह अत्याचार! अहिंसा कहती है, इसे क्षमा कर दो। क्षमा दे दी गई। लेकिन सिर्फ क्षमा से ही इसका प्रतीकार हो जायगा ?

उफ, जिन भारतीयों ने इस दुर्गम जंगल को आबादी के योग्य बनाया, उन्हीं के लिए कैसे-कैसे बुरे कानून बनाये जा रहे हैं—हर भारतीय तीन पौंड का टैक्स दे, हर भारतीय अपनी दसों उँगलियों की छाप देकर अपनी रजिस्ट्री करा ले, हर भारतीय को अपनी बस्ती की सीमा के अन्दर ही रहना पड़ेगा; गोरों की बस्तियों में घुसना उनके लिए गुनाह है!

यह तो अत्याचार की पराकाष्ठा है। क्या इसे बर्दाश्त कर लिया जा सकता है? क्या इसे बर्दाश्त कर लिया जाना चाहिये ?

(दूसरा प्रवक्ता)

गाँधी के हृदय में तूफान उठा है। वह अंधकार में टटोल रहे हैं। इसका मुकाबला कैसे किया जाय? गोरों के हाथ में सभी साधन हैं। भारतीय साधन-हीन हैं! वे कोई प्रतीकार कैसे कर सकते हैं?

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ। टाल्स्टाय की एक किताब उनके हाथ में आती है। प्रतीकार का एक रास्ता मिल जाता है—पैसिव रेजि-स्टेंस।

अत्याचार के सामने सर मत झुकाओ! दबो नहीं, पर हाथ भी मत उठाओ! यदि इस प्रतिज्ञा के साथ एक भी आदमी डट कर खड़ा हो जाय, तो अत्याचारी को ही एक दिन झुकना पड़ेगा!

पैसिव रेजिस्टेंस! किन्तु इसे भारतीय भाषा में क्या कहेंगे? मोहन के अनन्य सखा मगनलाल जी ने कहा—इसे 'सदाग्रह' कहेंगे-सद्-आग्रह-सदाग्रह! मोहन ने कहा, नहीं, जरा और साफ कर दो-सत्य-आग्रह-सत्याग्रह !

सत्याग्रह! सत्याग्रह! अफ्रीका के भारतीयों ने आवाज बुलंद की—

एक—हम पोल टैक्स नहीं देंगे!

सब (मिलकर)—पोल टैक्स नहीं देंगे !
पोल टैक्स नहीं देंगे !

एक—हम बस्ती के घेरे में नहीं रहेंगे !

सब (मिलकर)—घेरे में नहीं रहेंगे !
घेरे में नही रहेंगे !

एक—हम उँगुलियों की छाप नहीं देंगे !

सब (मिलकर)—उँगलियों की छाप नहीं देंगे !
उँगलियों की छाप नहीं देंगे !

(पहला प्रवक्ता)

अहा ! अफ्रीका-प्रवासी भारतीयों में कैसा उत्साह है ! चारों ओर हलचल है। सबके हृदयों में अपने अधिकारों के लिए, अत्याचार के खिलाफ खड़े होने के लिए, उमंग का सागर लहरा रहा है। वे एक बड़ी सभा में एकत्र होते हैं। वह देखिये, उनके बीच में वह कौन बोल रहा है—

(सत्याग्रही गांधी का स्वर)

भाइयो, आज मेरा दिल भरा आ रहा है। आप लोगों में यह अपूर्व उत्साह देखकर मैं फूला नहीं समाता। आप सब सत्याग्रह करने को तैयार हैं। लेकिन याद रखिये, सत्याग्रह का रास्ता सुगम नहीं है। यह तो तलवार की धार पर चलना है। आपको जेल में जाना होगा। आपकी जायदादें जब्त की जा सकती हैं। आप पर लाठियाँ पड़ सकती हैं; आप पर गोलियाँ बरस सकती हैं। हाँ, हाँ, सत्याग्रह का रास्ता फूल से बिछा नहीं होता। यह तलवार की धार पर चलना है। इसलिए वे ही लोग अपने नाम लिखायें, जिनका हृदय मजबूत हो। जो सारी तकलीफें हँस-हँस कर झेल सकते हैं ! जो कमजोर हैं, वे अलग ही रहें। महात्मा ईसा ने कहा है, जो प्रतीक्षा करते हैं, वे भी सेवा करते हैं। आप अलग रह कर भी हमारी मदद कर सकते हैं। उसके भी मौके आयेंगे। अब वे लोग जो सत्याग्रह-सेना में नाम लिखाना चाहते हैं, वे नाम लिखावें। फिर कहता हूँ, सोच-समझ कर ही आप नाम लिखावें, खूब सोच-समझ कर—

(चारो ओर से आवाजें आती हैं)

मेरा नाम लिखिये !

मेरा नाम लिखिये !

मेरा नाम लिखिये !

(दूसरा प्रवक्ता)

देखिये, यह आपके सामने सत्याग्रहियों की सेना खड़ी है ! न अस्त्र, न शस्त्र ! न जिरह, न बख्तर। यह मारनेवालों की नही, मरनेवालों की सेना है।

इसमें हिन्दू हैं, मुसलमान हैं; पारसी हैं, ईसाई हैं। इसमें गुजराती हैं, मद्रासी हैं; अवधी है, बिहारी हैं। इसमें स्त्री हैं, पुरुष हैं, बूढ़े हैं, बच्चे हैं ! हाँ, कुछ उदार हृदय गोरे भी तो हैं इस सेना में !

यह सत्याग्रह की महिमा है ! सत्याग्रह सब भेदभाव को मिटा देता है। वह सभी मनुष्यों को भाई-भाई के रूप में परिणत कर देता है।

वह देखिये, वह सेना बढ़ी——

(नारे लगाते है)

पोल टैक्स........नहीं देंगे, नहीं देंगे !

घेरे के अन्दर.......नहीं रहेंगे, नहीं रहेंगे !

उँगलियों की छाप......नहीं देंगे, नहीं देंगे !

(पहला प्रवक्ता)

सत्याग्रह का श्रीगणेश होता है। अफ्रीका का जर्रा-जर्रा हिल रहा है। वहाँ की गोरी सरकार दमन की चक्की चलाती है। गिरफ्तारियाँ शुरू होती है। अफ्रीका के जेल सत्याग्रहियों से—पुरुष, स्त्री और बच्चों से भर जाते हैं।

जेल में तरह-तरह की तकलीफें हैं—किन्तु सत्याग्रही कितने मगन है।

(दो सत्याग्रहियों में वार्त्तालाप हो रहा है)–

क—क्यों भाई, कैसे कट रही है !

ख—बड़े मजे में भाई !

क—मकई की लपसी कैसी लग रही है !

ख—अरे, इसमें इतना स्वाद कहाँ से आ गया भाई !

क—ओहो, उधर देखो, वह देखो, वह कौन आ रहा है?

ख—वह तो गाँधी-भाई मालूम पड़ते हैं!

क—उनके सर पर वह क्या है?

ख—अरे रे, यह टोकरी—उसमें क्या है भाई!

क—गाँधी-भाई, गाँधी-भाई! अरे, यह टोकरा और आप उठावें! ओह!

(दूसरा प्रवक्ता)

लेकिन गाँधी उन्हें समझाते हैं। हम सत्याग्रही हैं। हमें सब काम करना चाहिए। फिर पाखाना ढोना क्या कोई छोटा काम है? नीच काम है? बिना सफाई के हम कैसे जी सकते हैं? हम गंदा करें और दूसरे लोग ढोयें, यह क्या उचित है? नही भाई, नहीं। सत्याग्रही के लिए सब काम बराबर है!

हाँ, उन दिनों न गाँधी महात्मा बने थे, न बापू। वह सबके भाई थे—मोहनभाई, गाँधीभाई!

बार-बार जेल। जेल में भी सब प्रकार के काम करते—पाखाने की सफाई करते, पाखाने का टोकरा ढोते। अन्त में सत्याग्रह की विजय हुई। तानाशाह स्मट्स को झुकना पड़ा, झुकना पड़ा!

(पहला प्रवक्ता)

सत्य का तेल, अहिंसा की बाती—सत्याग्रह उसकी टेम, उसकी शिखा! निर्धूम, निर्विकार! अमर ज्योति जलती रहे, जलती रहे!

००

६

(पहला प्रवक्ता)

सत्य मिला, अहिंसा मिली, सत्याग्रह मिला! एक दिन एक अँगरेज मित्र ने गाँधी को एक पुस्तक दी। वह पुस्तक थी रस्किन की—अनटू दि लास्ट! उस पुस्तक ने इस कड़ी को पूरा कर दिया। उसने 'सर्वोदय' दिया! अपनी "आत्मकथा" में गाँधीजी लिखते हैं—

(गाँधीजी के स्वर में)

"मेरा यह विश्वास है कि जो चीजें मेरे अन्तरतर में बसी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिविम्ब मैंने इस ग्रंथरत्न में देखा और इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमा लिया।

'सर्वोदय' के सिद्धान्त को मैंने इस प्रकार समझा—

(१) सबके भला में अपना भला।

(२) वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिये; क्योंकि जीविका का हक़ दोनों को है!

(३) मजदूर और किसान का सादा जीवन ही सच्चा जीवन है।

उस पुस्तक को मैंने जो एक बार पढ़ना शुरू किया, तो खत्म किये बिना नही छोड़ा। रात-भर नींद नहीं आई। सुबह होते ही मैं उसके अनसार अपना जीवन बिताने की चिन्ता में लगा।"

(दूसरा प्रवक्ता)

गाँधीजी शहर छोड़कर देहात में चले गये। वहीं एक आश्रम बना। उसका नाम रखा गया– टाल्स्टाय-आश्रम। वहाँ सब मिलकर रहते; सब सर्वोदय के नियमानुसार चलते। ऋषियों का-सा तपस्वी जीवन बिताया जाता। मांस तो बचपन से ही छूट गया था। नमक भी छोड़ दिया; दूध भी छोड़ा और अन्त में अखंड ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ले ली। घर में रहते हुए भी पूरे वैरागी—

"त्याग न टिके रे वैराग बिना!"

(पहला प्रवक्ता)

सत्य का तेल, अहिंसा की बाती, सत्याग्रह उसकी शिखा और सर्वोदय उसका प्रकाश! अफ्रीका की काली भूमि जगमग कर उठी! अब 'अमर ज्योति' अपने दिव्य प्रकाश से अपनी पवित्र मातृभूमि को जगमग करने के लिए अपने देश की ओर चली! अमर ज्योति की जय!!

००

७

(पहला प्रवक्ता)

अफ्रीका की काली भूमि को प्रकाश से जगमग कर अमर ज्योति अपने देश में, भारत में, पहुँची। भारत की जनता ने उसे 'कर्मवीर गांधी' के नाम से अभिहित किया।

कर्मवीर गांधी सोच रहे हैं, भारत में अपनी कर्मभूमि किसको बनावें, कहाँ बनावें? गोखले की सेवा में पूना पहुँचे। क्या भारत-सेवक-समिति में सम्मिलित हो जावें?

पहले घूम कर देश देख लो—गोखले की आज्ञा होती है! शान्ति-निकेतन को कैसे नहीं देखें? बाल-बच्चों की, आश्रितों की एक पल्टन भी तो साथ में है। उन्हें कहीं रखने का भी तो प्रबंध होना चाहिये? फिर हरद्वार जाकर कुम्भ के मेले के साथ स्वामी श्रद्धानन्द का गुरुकुल भी देखा! दोनों जगह प्रेम मिला। किन्तु कर्मवीर को प्रेम ही नहीं, कर्म भी चाहिये। और यह कर्म दिया, बिहार के चम्पारण ने।

(दो किसान आपस में बातें करते हैं)

एक किसान—सुनलीं ह जी, मोतिहारी में उहे बालिस्टर आयल बाड़न जे अफरीका में सतेआग्रह कइले रहस!

दूसरा किसान—कवन बालिस्टर! करमवीर मोहनदास गांधी का?

पहला किसान—हाँ जी, उहे, उहे! सुकुल जी हुनका बोला लइले ह। हुनका साथ और बहुत से बालिस्टर, वकील बाड़न। ब्रजकिसोरबाबू बाड़न, राजीन्दर बाबू बाड़न! हमरा सबके मदद करे आयल बाड़न! अब निलहा साहबन के बुझाई!

दूसरा किसान—का बुझाई उ सारन के! हमरा सबके बरबाद क दिहलस—धन लूटलस, धरमो लूटलस!

(नीलहा साहब और किसान)

साहब—ओ-टुम! टुम टिनकठिया नहीं देगा, बेगार नहीं करेगा! टो, लो......

(कोड़े की चटाक, चटाक)

किसान—आह ! आह ! आह ! साहेब, माफ करीं साहब !

साहब—माफी माँगटा है ! नहीं, नहीं ! अभी नहीं।

(कोड़े की चटाक चटाक)

किसान—साहेब ! दुहाई साहेब ! हाय ! हाय ! हाय ! जे कहीं सब करब साहेब ! सबे ! सबे !

साहब—हाठ बढ़ाओ। कागज पर अंगूठे का छाप डो ! हाठ बढ़ाओ ! बढ़ाओ......ओ, टुम नहीं मानेगा !

(कोड़े की चटाक चटाक)

किसान—हाय ! हाय ! हाय ! दुहाई साहब, जो मन होय, से करीं साहेब ! जान बकस दिहीन ! दुहाई साहब !

साहब—(किसान के अंगूठे की छाप लेता है, फिर उसके हाथ पर थूक कर हँसता है) हा! हा! हा !

किसान—हाय ! हाय ! धनो लिहलस, धरमो लिहलस !

(दूसरा प्रवक्ता)

नीलहे साहबों के अत्याचार की कोई सीमा नहीं थी ! धन, धर्म, इज्जत, प्रतिष्ठा दिनदहाड़े लूटे जाते थे; किन्तु कौन उनसे बोले। कहाँ बोले ? अदालतों में उनका राज्य, उन्हीं के भाई-बंद हाकिम-हुक्काम !

लखनऊ में काँग्रेस हो रही थी। राजकुमार शुक्ल एक पीड़ित किसान थे। उन्होंने ब्रजकिशोर बाबू का पल्ला पकड़ा और लखनऊ पहुँच कर नेताओं से अपनी बिपता सुनाई ! किन्तु, किसानों की बिपता एक किसान के मुँह से सुनना भी कौन पसंद करे ? उस समय के वे काँग्रेस-नेता—जो रहनसहन, बातचीत सब में साहब-ही-साहब थे !

किन्तु, वहाँ एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनकी कमर में धोती थी, बदन पर अँगरखा था, सिर पर काठियावाड़ी पगड़ी थी,—जो पूरे किसान थे ! वह थे कर्मवीर गाँधी। शुक्लजी की आजिजी पर गाँधीजी ने चम्पारण पहुँचने का वचन दिया !

गाँधीजी चम्पारण पहुँचे। एक ग्रामीण कवि के मुख से यह गीत फूट निकला—

पधारे आज चम्पारण में मोहन दास गांधीजी !
मदनमोहन, तिलक, लाला, बनर्जी, शास्त्री, आइय्यार
सबों की शान से बढ़कर है तेरी शान गांधीजी !

हाँ, शान लम्बी धुआँधार वक्तृता या सजधज की पोशाक में नहीं ! शान वह जिसके सामने दुश्मन भी झुक जाय ! चम्पारण के नीलहे साहब झुके, बिहार की गोरी नौकरशाही झुकी ! नीलहे साहबों के अत्याचार समाप्त हुए ! चम्पारण के गाँव-गाँव में जयजयकार होने लगा—

बोलो—कर्मवीर गाँधीकी—जय !

बोलो—मोहनदास गाँधीकी—जय !

(पहला प्रवक्ता)

अमर ज्योति का पहला प्रकाश उसके अपने देश ने पहली बार देखा—सब आँखें मलने लगे, सबने इस प्रकाश को आनेवाले दिन की सूचना के रूप में स्वागत किया ! भारत के किसानों के चेहरों पर एक नई आशा की छटा छहराने लगी ! अब उनके दिन फिरेंगे, यह विश्वास उनकी आँखों में जगमगा उठा।

००

८

(पहला प्रवक्ता)

किसान और मजदूर—राष्ट्र शरीर की ये दो भुजायें ! चम्पारण में किसानों ने राह पाई और अहमदाबाद में मजदूरों ने।

अहमदाबाद—गुजरात का सबसे बड़ा व्यापारकेन्द्र, उद्योगकेन्द्र ! स्वदेशी की भावना ने कपड़े के उद्योग में सबसे बड़ी प्रगति दी। अहमदाबाद कपड़े का प्रमुख उद्योग केन्द्र बना। वहाँ के पूँजीपति मालामाल बनने लगे। किन्तु बेचारे मजदूर ! वे पिसते रहे, कराहते रहे। उनकी सहायता में बढ़ीं, वहाँ के पूँजीपतियों के नेता की बहन।

गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—

(गाँधीजी का स्वर)

मेरी स्थिति बहुत नाजुक थी। मजदूरों का पक्ष मुझे मजबूत जान पड़ा। श्री अनुसूइया बहन को अपने सगे भाई से लड़ना था। मिलमालिकों से मेरा सम्बन्ध भी प्रेम का था। उनके साथ लड़ना टेढ़ा काम था। उनके साथ बातचीत करके

मजदूरी की माँग के बारे में पंच चुनने की प्रार्थना की। पर मालिकों ने पंच के बिचवई बनने का औचित्य स्वीकार नहीं किया। मजदूरों को मैंने हड़ताल की सलाह दी!

(दूसरा प्रवक्ता)

हड़ताल—मजदूरों का अन्तिम अस्त्र, अमोघ अस्त्र। किन्तु वह अस्त्र, जो सावधानी से प्रयोग नहीं किये जाने पर, प्रहारक के ही सिर से आ टकराता है, उसे चूर-चूर कर डालता है। फिर इस अमरज्योति के साथ सत्य और अहिंसा की मर्यादा भी तो थी। मजदूरों को आज्ञा हुई—हड़ताल करो! किन्तु यह मर्यादा रख दी गई—

(गाँधीजी का स्वर)

१. किसी भी दशा में शान्ति का भंग नहीं करना।
२. जो काम पर जाना चाहे, उस पर जबर्दस्ती नहीं करना।
३. मजदूर भीख पर न जीयें।
४. हड़ताल जितने दिन चले वे दृढ़ रहें और अपने पास पैसा नहीं रहे तो दूसरी मजदूरी करके खाने भर कमा लें।

(दूसरा प्रवक्ता)

हड़ताल इक्कीस दिन चली। पूँजीपति टस-से-मस नहीं हुए। इधर मजदूरों का धीरज टूटने लगा। काम नहीं, पैसे नहीं। भूखों मरने की नौबत! तुम भूखो मरो और मैं खाऊँ! एक नया नेतृत्व—जब तक तुम्हारा मामला सुलझ नहीं जाता, मेरा भी उपवास रहेगा!

गाँधी का उपवास! सारा अहमदाबाद डोल उठा। पूँजीपतियों ने पंचायत मान ली। मजदूरों की विजय हुई! अहमदाबाद में मजदूर-संगठन की वह दृढ़ नींव पड़ी, जो भारत में एक दिन अनन्य सिद्ध हुई!

(पहला प्रवक्ता)

सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सर्वोदय—सबकी एक झलक पेश की अमरज्योति ने अपनी जन्मभूमि के प्रान्त में! मजदूरों ने एक नया नेतृत्व पाया—वह नेतृत्व जो अनुयायियों के पहले अपने को ही मृत्यु के मुख में झोंकने को तत्पर हो! जहाँ आत्मबलिदान, वहाँ विजय क्यों न मिले!

००

९

(पहला प्रवक्ता)

जिस समय कर्मवीर गाँधी चम्पारण के किसानों का, अहमदाबाद के मजदूरों का, उद्धार करने में लगे थे, इतिहास-प्रसिद्ध प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था! जर्मनी की सेना मित्रराष्ट्रों को तबाह किये हुई थी। इस विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय के लिए आवश्यक था, भारत से उन्हें धन-जन की अपार सहायता मिले!

अँगरेजों ने घोषणा की, हमारी मदद करो। युद्ध के बाद हम तुम्हें स्वराज्य देंगे!

कुछ नेताओं ने कहा, यह अँगरेजों का मायाजाल है, हम इसमें नहीं फँसेंगे।

(दूसरा प्रवक्ता)

किन्तु, सत्य के उपासक गाँधीजी उनके कथन को झूट कैसे मान लेते! उन्होंने कहा—वे संकट में हैं, उनकी मदद करो! कर्मवीर कह कर ही नहीं रह जाता; उन्होंने घूमघूम कर अँगरेजी सेना के लिए रंगरूट भर्ती करना शुरू किया! इसी सिलसिले में उन्होंने अपने ऊपर ऐसा संकट मोल लिया कि मरते-मरते बचे।

मित्रराष्ट्रों की विजय हुई; जर्मनी हार गई। किन्तु भारत को उपहार मिला स्वराज्य के बदले रौलट ऐक्ट! न वकील, न दलील, न अपील! जिसे जब चाहो, जेल में बंद कर दो!

फिर पंजाब-हत्या-कांड!

(गोली की बौछार)

धायँ! धायँ! धायँ!
धायँ! धायँ! धायँ!
धायँ! धायँ! धायँ!

(घायलों की पुकार)

आह! आह! आह!
हाय! हाय! हाय!
ओह! ओह! ओह!

(पहला प्रवक्ता)

पंजाब में हिन्दू, मुसलमान, सिख—तीनों का खून एक साथ गिरा, एक में मिला, मिलकर एक हुआ। तीनों ने एक स्वर में नारे लगाये—

(नारे)

वन्दे—मातरम् !
अल्लाहो—अकबर !
सतश्री—अकाल !

सत्य के पुजारी के मुँह से निकला—यह शैतानी सरकार है ! इससे असहयोग करो—

(नारे)

सरकारी पदवियाँ—छोड़ दो !
स्कूल-कालेज—छोड़ दो !
वकालत-कचहरी—छोड़ दो !

देश में अद्भुत जागरण आया। कचहरियाँ खाली होने लगीं। स्कूल-कालेज सूने पड़े। कवीन्द्र रवीन्द्र ऐसे महान व्यक्ति ने 'सर' की उपाधि लौटा दी। सरकार हक्का-बक्का। फिर दमन-चक्र ! तरह-तरह के दमनात्मक फरमान निकलने लगे। देश के नौजवानों ने उनका जवाब दिया—

निकल पड़ो ! निकल पड़ो !

निकल पड़ो सब बनकर सैनिक भंग करो फरमानों का।
बिना स्वराज्य के नहीं हटेंगे क़ौल रहे मरदानों का।
अंधी होकर पुलिस चलावे डंडे कुछ परवाह नही।
घर का माल लूट ले जावे निकले मुँह से आह नहीं।
चले गोलियाँ गली-गली में मार्शल ला की हो भरमार !
ओ माता के लाल तुम्हारे मुँह से निकले यही पुकार—

निकल पड़ो ! निकल पड़ो !

निकल पड़ो सब बनकर सैनिक भंग करो फरमानों का !
बिन स्वराज्य के नहीं हटेंगे क़ौल रहे मरदानों का !

(दूसरा प्रवक्ता)

गाँव-गाँव में, घर-घर में असहयोग की गूँज, स्वराज्य की गूँज ! और गूँज चरखे की ! सरकार से लड़ना है, तो आत्मशुद्धि करो—

विदेशी कपड़े को जला दो, खादी पहनो, चरखा चलाओ! नशा छोड़ो—शराब शैतान की बोतल है, उसे फोड़ो! छूआछूत—ओहो! आदमी आदमी को अछूत समझे? इस पाप को धोओ! स्वराज्य चाहते हो, तो हिन्दू-मुसलमान एक हो! कवि की वाणी फूटी—

मन्दिर में हो चाँद चमकता मस्जिद में मुरली की तान!
मक्का हो या हो वृन्दावन आओ मिलकर हों बलिदान!

बलिदान का वह शरूर! दमन-चक्र जोरों से चलने लगा। एक-एक कर नेता पकड़े जाने लगे—कार्यकर्त्ताओं से जेल पटने लगे। अली-बँधु, शंकराचार्य, देशबन्धु दास, मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय—सब-के-सब जेल में। गाँधीजी बारडोली में सत्याग्रह करने की तैयारी में लगे। दूसरे कवि की वाणी फूटी—

ओ बारडोली! ओ बारडोली!
ओ भारत की थरमापोली!

किन्तु, बारडोली को थरमापोली बनने का सौभाग्य उस समय प्राप्त नहीं हो सका। चौरीचौरा-कांड—उत्तेजित जनता ने हिंसा कर दी। अहिंसा के पुजारी इसे कैसे बर्दाश्त करता। सत्याग्रह स्थगित। सरकारी शेर ने झपट्टा मारा। गाँधीजी को छः वर्षों के लिए यरवडा जेल में बंद कर दिया गया।

(पहला प्रवक्ता)

अमरज्योति यरवडा-जेल की चहारदिवारियों के अन्दर बंद है। किन्तु क्या प्रकाश को भी कैद रखा जा सकता है। एपेंडिसाइटिस—अमरज्योति फिर बाहर। शरीर क्षीण। किन्तु ज्योति वही पुरानी—जगमग, झलमल!

० ०

१०

(पहला वक्ता)

बड़े वेग से चलती गाड़ी अचानक रुक गई—एक जबर्दस्त धक्का! कुछ लोगों ने वैधानिक राह पकड़ी—कौंसिलों, असेम्बलियों, बोर्डों की कुर्सियाँ गरम होने लगी। कुछ लोगों ने बम-पिस्तौल पकड़े—धम, धड़ाके! किन्तु गाँधीजी साबरमती-आश्रम में अपना यरवड़ा-चक्र चलाते रहे!

अफ्रीका का टाल्स्टाय आश्रम, भारत में सत्याग्रह-आश्रम में

परिणत हुआ। साबरमती नदी के किनारे पर आधुनिक ऋषि ने एक नई दुनिया बसा दी। उसके तट से उठा स्वर-गुंजार देश के कोने-कोने को गुंजायमान करने लगा—

वैष्णव जन तो तेने कहीये जो पीड़ पराई जाणे रे !
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे !
सकल लोकमां सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे !
वाच काछ मन निश्चल राखे, धनधन जननी तेनी रे !
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे !
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन न झाले हाथ रे !
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जैना मनमां रे !
रामनामाशुं ताली लागी, सकल तीरथ तेना मनमां रे !
वणलोभी के कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे !
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करताँ कुल एकतेर तार्यां रे !

(दूसरा प्रवक्ता)

प्रेम की, त्याग की, शान्ति की इस झंकार के बीच रचनात्मक कार्यों की एक लम्बी साधना। चरखा उसका केन्द्रविन्दु ! किन्तु देश को तो अभी बहुत-से पाप धोने थे। हिन्दू और मुसलमानों के बीच भयानक विग्रह प्रारम्भ हुआ। जगह-जगह दंगे—मारकाट !

गाँधीजी ने फिर जान की बाजी लगाई—इक्कीस दिनों का अनशन ! सारा देश काँप उठा ! सब धर्मों के नेताओं ने प्रतिज्ञा ली, हम इसे रोकेंगे। वह रुका भी । किन्तु, कब तक !

जबतक अँगरेजी राज्य है, तब तक हममें फूट रहेगी ही—हमें इस अभिशाप को दूर करना ही चाहिये !

(पहला प्रवक्ता)

स्वराज्य की लड़ाई एक मुट्ठी नमक से ! लोगों को आश्चर्य ! किन्तु सबको उस जादूगर पर विश्वास है। गाँधीजी की डांडी-यात्रा ! ७९ सत्याग्रहियों को लेकर वह समुद्र-किनारे नमक-कानून तोड़ने पाँव-पियादे चले। चलते समय प्रतिज्ञा की—या तो मै स्वराज्य प्राप्त करके लौटूँगा, या मेरी लाश समुद्र में उतराती नज़र आयगी !

देखिये, वह अनोखी टोली, किस वेग से बढ़ रही है। गर्मी के दिन, धूप, धूल ! गाँधीजी के सिर पर गीली अँगोछी, हाथ में एक लकुटी। हरएक की जिह्वा पर एक ही रट——

रघुपति राघव राजा राम !
पतित पावन सीता राम !
सीता राम जय सीता राम !
पतित पावन सीता राम !

(दो सत्याग्रही बातें कर रहे हैं)

एक—देखा है, बापू के तलवों में कैसे छाले निकल आये हैं !

दूसरा—देखा ही नहीं, उन्हें अपने हाथों धोया है। छाले फूट गये हैं। उनमें कंकड़ों ने सुराख कर दिया है। छालों से पीव-पानी की जगह अब खून बहा करता है।

पहला—धरती-माता ! इतना पवित्र रक्त तुम पर शायद ही कभी गिरा हो !

दूसरा—उफ, यह बुढ़ापा। यह गरमी ! तो भी इस तरह दनादन बढ़ते हैं कि हमलोगों के लिए उनका पीछा करना भी मुश्किल पड़ जाता है ! बापू शक्तियों के असीम पुंज हैं।

पहला—भारत माता ! बापू ने तुझे स्वतंत्र करने के लिए ही अवतार लिया है। धन्य बापू, धन्य !

(दूसरा प्रवक्ता)

गाँधीजी की यह सत्याग्रही सेना डाँडी पहुँची। नमक-कानून तोड़ा गया। बापू गिरफ्तार किये गये। देश के कोने-कोने में नमक कानून की धाधज्जियाँ उड़ीं। दिल्ली का ही नहीं, लंदन का सिंहासन भी डोला। भारत का अधनंगा फकीर दिल्ली के ही नहीं, लंदन के राज्य-भवन में भी आमंत्रित किया गया !

किन्तु गाँधीजी क्या वहाँ से स्वराज्य लेकर लौटे ! फिर गिरफ्तारी। फिर यरवडा।

जले पर नमक छिड़का गया। मुसलमानों की ही तरह अछूतों के लिए अलग सीटों का, चुनाव का प्रबंध किया गया ! नहीं, यह हो नहीं सकता ! यदि यह प्रबंध नहीं बदला गया, तो मैं आमरण अनशन करके प्राण विसर्जन करूँगा।

केवल ९० पौंड का वह मानव-ढाँचा मृत्यु-शय्या पर पड़ा है ! फिर सिंहासन डोला ! अँगरेजी सरकार को फिर झुकना पड़ा ! वह

देखिये, बापू मौसम्बी का रस पी रहे हैं और कवीन्द्र के मुँह से रस का यह स्रोता उमड़ रहा है—

अन्तर मम विकसित कर अन्तरतर हे !
निर्मल कर, उज्वल कर, सुन्दर कर हे !
जाग्रत कर, उद्यत कर, निर्भय कर हे !
मंगल कर, निरलस कर, निःशंसय कर हे !
अन्तर मम विकसित कर हे !

(**पहला प्रवक्ता**)

क्या कवीन्द्र की यह वाणी अमर ज्योति की ही वन्दना नही थी ? निर्मल, उज्वल, सुन्दर अमरज्योति जलती रहे, बलती रहे, हमें जाग्रत और उद्यत करती रहे !

० ०

११

(**पहला प्रवक्ता**)

बापू का यरवडा-चक्र फिर चल रहा है। किन्तु, अब साबरमती के किनारे नहीं, सेवाग्राम में ! छोटा-सा गाँव—सेगाँव ! ऋषि को पाकर वह सेवाग्राम बन गया। बड़े-बड़े लोग वहाँ तीर्थ करने जाते हैं !

और संसार का चक्र भी अनवरत चल रहा है ! जो जेलों में पड़े थे, वे सिंहासनों पर आसीन हैं—भारत के आठ प्रान्तों पर बापू के सपूतों का राज्य है !

कि दूसरा महायुद्ध !

फिर अँगरेजों की माँग—हमें सहायता दो ! सहायता देंगे, किन्तु पहले हमें स्वतंत्र करो। स्वयं पराधीन, दूसरों की स्वाधीनता के लिए क्या लड़ेगा ?

नहीं, अभी नहीं !

चेलों से—सिंहासन छोड़ो, बाहर आओ, जेल जाओ !
अँगरेजों से—भारत छोड़ो !

(**नारे**)

अँगरेजो—भारत छोड़ो !
अँगरेजो—भारत छोड़ो !

अँगरेजो—भारत छोड़ो !

(दूसरा प्रवक्ता)

जैसे हिमालय की बर्फीली चोटी से एकाएक ज्वालामुखी फूट पड़ी ! गाँधीजी ने घोषणा की, इस बार का आन्दोलन खुला विद्रोह का रूप लेगा। हमें इस अँगरेजी राज्य को खत्म कर देना है, या स्वयं खत्म हो जाना है। उन्होंने एक अद्भुद नारा दिया—डू और डाई—करो या मरो !

(नारे)

करेंगे—या—मरेंगे !
करेंगे—या—मरेंगे !
करेंगे—या—मरेंगे !

(पहला प्रवक्ता)

खुला विद्रोह ! और लोग कर रहे हैं। क्या कर रहे हैं ?

तार काटे जा रहे हैं। पटरियाँ उखाड़ी जा रही हैं। पुल तोड़े जा रहे हैं। सड़कें खोदी जा रही हैं।

थाने जलाये जा रहे हैं। डाकखाने जलाये जा रहे है !

अँगरेजी सरकार का कहीं नाम निशान नहीं रहे—बोलो, जवानो,—बोलो !

(नारे)

करेंगे—या—मरेंगे !
करेंगे—या—मरेंगे !
करेंगे—या—मरेंगे !

(हथौड़ों का—धम्म ! धम्म ! कुदालों की—खट ! खट !)

(नारे)

वम्बई से आई आवाज़ ! इन्क़लाब ज़िन्दाबाद !
गाँधीजी की यही पुकार ! इन्क़लाब ज़िन्दाबाद !

अँगरेजो—भारत—छोड़ो !
अँगरेजो—भारत—छोड़ो !
इन्क़लाव जिन्दाबाद !
भारत आज़ाद !

यह तो कर लिया—अब मरने को तैयार हो! देखो, वह अंगरेजी फौज आ रही है! आ रही है! आ गई—

(मोटरों के भोंपू के शब्द : सैनिकों के पद-चाप: फिर धायँ! धायँ! धायँ!)

तो भी नारे लग रहे हैं—

अँगरेजो—भारत—छोड़ो!
करेंगे—या—मरेंगे!
इन्क़लाब जिन्दाबाद!
भारत आज़ाद!

देश में विद्रोह का यह अभूतपूर्व दृश्य। उधर आगाखां-महल में, जहाँ बापू क़ैद हैं —कैसा विध-विधान—

बापू के महादेव नहीं रहे!
पूजनीया बा भी चल बसीं!

हेराम

ॐ

दो समाधियाँ बनी हैं वहाँ पर!

बापू ध्यानमग्न बैठे इन दो समाधियों को देख रहे हैं! किन्तु देश में तो ऐसी कितनी समाधियाँ बन चुकी हैं। बापू कब तक ध्यान-मग्न रह सकते थे? उनका गम्भीर निर्णय! मैं इक्कीस दिन का उपवास करूँगा!

सारे देश में हलचल! वृद्ध, जर्जर बापू क्या इतने लम्बे उपवास में बच सकेंगे?

अँगरेजी सरकार ने उनके शव को जलाने के लिए चंदन की लकड़ियाँ भी इकट्ठी कर ली हैं!

(पहला प्रवक्ता)

किन्तु क्या अमरज्योति इस रूप में बुझने आई थी? डाक्टरों की बुद्धि को चकराते हुए बापू इस अग्नि-समाधि से भी हँसते हुए बाहर आये! अमरज्योति का अमर प्रकाश फिर जगमग करने लगा! संसार चिल्ला उठा—अमरज्योति, तेरी जय हो! जय हो!

० ०

१२

(पहला प्रवक्ता)

और अमरज्योति की विजय होकर रही! १५ अगस्त १९४७ अँगरेजों ने भारत छोड़ दिया! शताब्दियों की गुलामी छूटी—लोहे की ज़ंजीरें आपही आप टूटीं!

किन्तु, गुलामी अपनी अन्तिम नरक–लीला दिखा ही गई! देश दो टुकड़ों में बँटा। देश ही नहीं बँटा, हृदय भी बँटे!

चारों ओर दंगे — मारपीट — खूनखराबी — अगलगी — नृशंस कांड—दानवी कांड! क्या इस गृह-दाह में ही जल मरना हमारे भाग्य में बदा था?

बापू के क़दम आगे बढ़े! नोआखाली—बिहार—दिल्ली—मैं लाहौर भी जाऊँगा—बापू ने गम्भीर घोषणा की!

बापू जहाँ-जहाँ गये, आग पर जैसे शीतल पानी पड़ा। लगा, अब स्थिति सुधरी, कि

"इस घर को आग लग गई घर के चिराग़ से!"

(दूसरा प्रवक्ता)

१९४८। जनवरी। संध्या। बापू प्रार्थना-सभा में जा रहे हैं। कुछ देर हो गई है। तेज़ी से बढ़ रहे हैं कि................अरे, यह क्या........

धायँ! धायँ! धायँ!

हेराम!

बापू नहीं रहे! हिमालय तिरोहित हो गया!
सारा संसार चीख उठा! सारा संसार रो उठा!

(पहला प्रवक्ता)

अमरज्योति अमरज्योति में लीन हो गई; किन्तु उसका शान्ति-दायक प्रकाश आज भी चारों ओर प्रभासित हो रहा है; उद्भासित हो रहा है—सारे संसार को प्रेरणा दे रहा है, नई चेतना दे रहा है! उसके सामने मानव-मात्र का सर अवनत हो रहा है!

(समवेत स्वर)

रघुपति राघव राजा राम!
पतित-पावन सीता राम!

ईश्वर अल्ला तेरे नाम !
सबको सन्मति दे भगवान !
सीताराम ! सीताराम ! सीताराम ! सीताराम !

हिमालय तिरोहित हो गया

(गाँधीजी के बलिदान पर)

भारत का, संसार का, इतिहास का सबसे बड़ा आदमी चल बसा !

हिमालय तिरोहित हो गया; हिन्द महासागर सूख गया। अनवरत अश्रुप्रवाह से कोटि-कोटि आँखें उस महासागर को भरना चाह रही हैं; कोटि-कोटि कण्ठचित्कारों से उस हिमालय को एक बार फिर आकाश को चूमने के लिए आह्वान कर रहे हैं! किन्तु सारे प्रयत्न व्यर्थ जा रहे हैं।

हमारी धरती सूनी है, सारा आकाश सूना है। हमारी वह हालत है, जो एकाएक सूर्य के टूट गिरने से कभी अखिल भुवन की हो सकती है।

हम जो कुछ हैं, हमारा देश आज जो कुछ है, उसके निर्माण का श्रेय उसका है! धूल के कणों में उसने ज्योति दी—उन्हें चमकना सिखलाया। मुर्दा राष्ट्र को उसने मंत्र-बल से खड़ा किया, उसे लड़ना सिखलाया। लड़ना सिखाया; लड़ते-लड़ते मरना और विजय पाना सिखलाया। महान् अशोक के बाद आसेतु हिमालय पर चक्रवर्ती धर्मराज स्थापित करने का स्वप्न उसी ने देखा।

उसने हमें सिर्फ स्वतन्त्र देश ही नहीं दिया, उस देश को वेष दिया, भूषा दी, भाषा दी। व्यक्तिगत चरित्र का एक कोड दिया; राष्ट्रगत जीवन का एक स्टैण्डर्ड दिया।

आज का जो हिन्दुस्तान है, वह गाँधी का हिन्दुस्तान है। गाँधी का यह हिन्दुस्तान उसके पवित्र रक्त से स्नानकर अमर हो—देवता, अगर हम तुम्हारे आशीर्वाद के पात्र रह गये हों, तो वही वरदान हो!

० ० ०

भारत का, संसार का, इतिहास का सबसे बड़ा आदमी चल बसा !

चल बसा !

काश, यही हो पाता !

गाँधी बढ़ा था, उसे जाना था। वह जाता, हम उसके बेटे रोते! उस दिन भी रोते! किन्तु, हम पर तो पितृहंता का कलंक लगना था। जिसने हमारे लिए इतना किया, अपने उस राष्ट्रपिता को हमने शान्ति की मौत भी मरने नहीं दिया!

गाँधी पर गोली!—एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन! ये तीन गोलियाँ—तीनों काल पर; तीनों लोक पर चलाई गईं गोलियाँ निकलीं ये।

हम कहीं के नहीं रहे, हम कहीं के नहीं रहे।

इतिहास हम पर थूकेगा! संसार हम पर हिकारत की निगाह डालेगा!—यह पाखण्डी देश, अपनी सभ्यता की इतनी शेखी बघारता था; अपने एक संत को भी नहीं जीने दिया इसने!

यह मत कहो कि एक पागल ने उसे मार डाला! एक महान् अपराध हम कर चुके हैं; दूसरा करेंगे, तो हमारे लिए जहन्नुम में भी जगह नहीं मिलेगी!

गोड्से! वह नारकीय जीव!—किन्तु हमारे-तुम्हारे हृदयों में बसे ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा और प्रभुत्व की अकांक्षा का प्रतीक था वह—यदि हम आज भी इसे समझ नहीं पाते, तो हम गये! हमें कोई बचा नहीं सकता!

गोड्से को हमने पाल रखा था! हमने उसे नज़रअन्दाज़ किया, बढ़ावा दिया और सत्य का तक़ाज़ा है कि हम कहें—हमने उसे किन्हीं घृणित कार्यों के लिए ही दूध पिला-पिलाकर पोसा था!

अब, जब "इस घर को आग लग गई, घर के चिराग से" तो शोर मचा रहे हैं, आँसू गिरा रहे हैं! इस ढोंग को इस पवित्र और करुण अवसर पर भी तो हम दूर करें!

यदि इतना नहीं किया; तो याद रखो, हमारी-तुम्हारी भी वही हालत होगी, जो ईसा को फाँसी देनेवाली कौम की हुई और हो रही है!

यहूदियों के पास क्या नहीं है—धन, विद्या, बुद्धि, कला, विज्ञान—किस क्षेत्र में उनका बोल-बाला नहीं? किन्तु, सब होने पर भी इस विशाल संसार में एक इंच ज़मीन भी ऐसी नहीं, जिसे वे अपनी शरण-स्थली बता सकें। सावधान हिन्दुस्तान; सावधान ओ गाँधी के हम बेटो!

० ० ०

गाँधी, बापू, तुम अमर हो! अपनी अमरता पर तुमने अपने पवित्र रक्त की मुहर लगा दी! कोई भी विनाशक शक्ति इस अमरता की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती!

इस धरा धाम पर बड़े-बड़े लोग आये—बुद्ध, ईसा, महम्मद, मार्क्स! किन्तु, तुम इन सब में निराले थे! निराले थे तुम; और निराली थी तुम्हारी राह!

बुद्ध की करुणा, ईसा का बलिदान, महम्मद की हक़-परस्ती और मार्क्स का अनुसंधान—सब का समन्वय हुआ था तुम्हारे अलौकिक व्यक्तित्व में!

वह पुश्त धन्य है, जिसने तुम्हें धरती पर चलते-फिरते देखा; आँधी उठाते और तूफान बरपा करते देखा; आँधियों और तूफानों में भी मुस्कराते देखा और फिर एक मुस्कान-भरी चितवन में शांति की असंख्य किरणें बिखेरते देखा।

तुम इतने बड़े थे, इतने निराले थे कि हम तुम्हें समझ नही सके; समझ भी नहीं सकते थे!

किन्तु, तुम नही रहे—तुम्हारे चरण-चिन्ह तो हमारी आँखों के सामने अब भी चमकते नज़र आ रहे हैं!

वे चरण-चिन्ह हमारा पथ-प्रदर्शन करेंगे!

उन्हें देखते हुए हम आगे बढ़ेंगे और संसार में एक ऐसा समाज बनायेंगे, जिसमें हिंसा न हो, युद्ध न हो; जिसमें छोटे-बड़े का भेद-भाव न हो; जिसमें दरिद्रता न हो, विलासिता न हो। जहाँ सब समान हों, सब भाई-भाई हों! जहाँ प्रेम हो, सत्य हो, शांति हो!

राष्ट्र-पिता, तुम अमर थे, अमर हो गये! हम अपराधी अनाथ बच्चों को आशीर्वाद देते जाओ कि इस पवित्र आदर्श पर हम बढ़ते चलें, बढ़ते चलें।

बापू आज चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार है—उपनिषद के ऋषियों के शब्दों में हम तुमसे प्रार्थना कर रहे हैं—

तमसो मा ज्योतिर्गमय!

—०—

तथागत

[नाटक]

हाँ, दो शब्द !

अपने मूलरूप में यह नाटक पटना-रेडियो-स्टेशन से गत बुद्ध-जयन्ती के अवसर पर चार किश्तों में प्रसारित किया गया था।

भगवान बुद्ध का चरित महान है। फिर वह सिर्फ ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, धर्म-प्रवर्त्तक भी हैं। किन्तु, मैंने, मुख्यतः, उनके चरित-भाग से ही अपने को सम्बद्ध रखा है, जो बहुत ही उदात्त और बहुत अंशों में नाटकीय भी है।

वैभव-विलास में डूबा हुआ एक राजकुमार संसार के दुख-दर्द से क्षुभित-पीड़ित होकर घर छोड़ता है; घोर तपस्या करता है; निराशाओं पर निराशायें पाता है; अन्त में ज्ञान की किरणें उसे प्राप्त होती हैं और फिर उसके प्रचार-प्रसार में वह लग जाता है। वहाँ भी तरह-तरह के विघ्न, उत्पीड़न, लांछन! किन्तु अन्त में सत्य की विजय होती है। आज भी संसार में बुद्ध के अनुयायियों की संख्या असंख्य है।

जब मैं 'तथागत' लिख रहा था, मालूम होता था, महात्मा गाँधी के चरित के प्रभावमडल के बीच से मैं गुजर रहा होऊँ! एक बिदेशी लेखक ने कहा भी था कि बुद्ध के बाद बापू का ही व्यक्तित्व उतना महान है।

ऐसे महापुरुष पर नाटक लिखना कितना कठिन है, इसे पद-पद पर मैं अनुभव करता रहा। इसके लिए मुख्यतः बौद्ध-ग्रन्थों का छोर पकड़कर ही मुझे बढ़ना था और अपनी कल्पना पर तो हमेशा अंकुश रखना था ही। मेरी लेखनी अन्य नाटकों की तरह यहाँ स्वतंत्र न थी। लेकिन इसका आधार ही इतना महान है कि मित्रों का कहना है, नाट्यकला इसमें परिपुष्ट हुई है!

मैं अपना यह 'तथागत' मुख्यतः देश के किशोरों और नवयुवकों के हाथों में इस आशा से अर्पित करता हूँ कि वे इससे प्रेरणा पाकर सत्य के अनुसंधान की ओर प्रवृत्त हों, उसके लिए कष्ट उठाना सीखें और सारी विघ्नबाधाओं के बीच भी अपनी मशाल लेकर बढ़ते हुए विजय प्राप्त करें। यह नाटक मुख्यतः उन्हीं के लिए लिखा भी गया है।

पटना

दीपावली, १९४८

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पात्र-पात्रियाँ

पात्रियाँ

माया	:	बुद्ध की माता
यशोधरा	:	बुद्ध की पत्नी
प्रजावती	:	बुद्ध की सौतेली माँ और मौसी
सुजाता	:	उरुबेला की एक महिला
पूर्णा	:	सुजाता की दासी
गौतमी	:	राजगृह की एक वृद्धा
माणविका	:	श्रावस्ती की एक स्त्री
अम्बपाली	:	वैशाली की राजनर्तकी

नागरिका, परिचारिका आदि

पात्र

शुद्धोदन	:	बुद्ध के पिता
सिद्धार्थ=बुद्ध	:	नाटक के नायक
राहुल	:	बुद्ध का पुत्र
कौंडिन्य	:	ज्योतिषी
उदय	:	बुद्ध का सखा
आनन्द	:	बुद्ध के प्रधान शिष्य
देवदत्त	:	बुद्ध का प्रतिस्पर्द्धी चचेरा भाई
छंदक	:	बुद्ध का सारथी
बिम्बसार	:	राजगृह का सम्राट्
अजातशत्रु	:	बिम्बसार का बेटा
भद्रजित	:	बुद्ध का तपस्वी साथी
यश	:	वाराणसी का श्रेष्ठिपुत्र

सचिव, नागरिक, पुरोहित, गरेड़िया, भिक्षुक आदि



तथागत

अन्तिम शृंगार

१

[जन्म :: लुम्बिनी वन]

माया—कितना सुन्दर लग रहा है, आर्य !

शुद्धोदन—हाँ, बहुत ही सुन्दर ! ये पेड़, ये लतायें; ये पौधे, ये मंजरियाँ; ये कलियाँ, ये फूल—सुन्दर, अतिसुन्दर माया !

माया—इच्छा होती है, कुछ दिन यहीं रहूँ आर्य ! नगर देखते-देखते आँखें ऊब उठी हैं।

शुद्धोदन—और, यहाँ अपने से कुछ समता भी तो पा रही हो प्रिये ! अपनी मंजरियों के बोझ से आप ही व्याकुल ये पेड़, अपनी कलियों की दबाव से आप ही काँपती ये लतायें, अपने फूलों की शोभा में आप ही गुम हुए-से ये पौधे—तुम्हारा भी तो कुछ ऐसा ही हाल है माया !

माया—लज्जित न कीजिये आर्य ! कितने दिनों के बाद.....

शुद्धोदन—हाँ, कितने दिनों के बाद भगवान ने हमें यह दिन दिखलाया है। मैं समझता था, सारा जनपद समझता था कि शाक्य-वंश का सूर्य शायद सदा के लिए अस्त होने जा रहा है; कि अचानक.....

माया——अभी वह रात नहीं भूली है आर्य, जब मैंने वह स्वप्न देखा। वह स्वप्न! कैसा सुन्दर था हाथी का वह बच्चा——उजला रंग, जैसे अभी दूध में नहाकर आया हो। छोटी-सी सूँड़ को उछालता, ढुलमुल चलता, वह मेरी ओर बढ़ा आ रहा था। इच्छा होती थी, वह निकट आये और उसे गोद में ले लूँ......

शुद्धोदन—कि तुमने पाया, तुम्हारे शरीर में वह जैसे विलीन-सा हो गया। इसके क्या मानी, समझीं ?

माया——ओह, मुझे लज्जित न किया कीजिये, नाथ !

शुद्धोदन—यह लज्जित होने का नहीं; आनन्दित, उच्छ्वसित होने का प्रसंग है, प्रिये ! इसका मानी है, भगवान हमें एक प्रतापी पुत्र देंगे।

माया— (प्रसंग बदलने के लिए) आर्य, सामने का यह पेड़ कितना घना है।

शुद्धोदन—बहुत ही घना, मानो हरा वितान तना हो।

माया—और ये मंजरियाँ उसकी झालरें हैं ! जरा हम निकट से क्यों न देखें आर्य !

शुद्धोदन—अवश्य देखें, चलो ! (दोनों पेड़ के निकट जाते हैं)

माया—अहा! मंजरियों के ये गुच्छे ! इच्छा होती है, मंजरियों के इन गुच्छों को गले से लगा लूँ । (वह उचक कर पकड़ना चाहती है)

शुद्धोदन—अरे, उचको मत माया ! प्रिये, तुम भावावेश में अपने शरीर की अवस्था भी भूल जाती हो !

माया—(हाँफती हुई) गलती हुई आर्य ! किन्तु कितनी अच्छी लगती है मंजरियों से भरी ये डालियाँ !

शुद्धोदन—डालियों की शोभा तब, जब वे मंजरियों से लदी हों; नारियों की शोभा तब, जब वे........

माया—आर्य, आर्य ! मुझे बार-बार क्यों लज्जित किया करते हैं ! अहा, मैं इन डालियों को छू सकती ?

शुद्धोदन—क्यों नहीं, मैं अभी झुकाये देता हूँ ! (एक डाली की फुनगी पकड़कर झुका रहे हैं, माया भावातुरता में उचक कर डाली पकड़ना चाहती है) अरे, यह क्या ? जल्दी न करो माया ! उचकने की आवश्यकता नहीं। बौरी हुई डाली है, इसलिए धीरे-धीरे नीचा कर रहा हूँ इसे ।

माया—कितनी सुन्दर लग रही है यह आर्य ! (डाली नीचे आती-जाती है, वह उचककर पकड़ लेती है, फिर दबी हुई आवाज से कराह उठती है) आह !

शुद्धोदन—अरे, यह क्या ? (डाली छोड़कर माया को पकड़ते हुए) तुम्हें क्या हुआ जो यों कराह उठी माया !

माया—आह !....नाथ ! आह ! (शुद्धोदन के बदन से लिपट जाती है)

शुद्धोदन—माया, माया ! तुम्हें यह क्या हो गया माया ! परिचारिके, परिचारिके, शिविका ! कोई है, जल्द शिविका लाओ ! शिविर में चलो माया !

माया—जा नहीं सकती नाथ, जा नहीं सकती ! ओह !

शुद्धोदन—माया !

माया—नाथ ! नाथ ! आह !

शुद्धोदन—तुम्हें यह यह क्या हो रहा है माया ! कैसा जी है ? बताओ—बताओ !

माया—उफ, मैं बैठ नहीं सकती.....चल नहीं सकती....मैं हिल भी नहीं सकती....ओह....

शुद्धोदन—(समवेत दास-दासियों से) तुम लोग क्या मुँह देख रहे हो ? चारों ओर से कनातें खड़ी कराओ—धाइयों को बुलाओ। जल्दी करो, जल्दी !

माया—आह, ओह !

(थोड़ी देर में नेपथ्य से मंगल-बधैया)

२

[भविष्यवाणी : : कपिलवस्तु का राजप्रासाद]

कौंडिन्य—जय हो महाराज की !

शुद्धोदन—शतशः प्रणाम महर्षि ! आसन ग्रहण कीजिये । बच्चे की कुंडली देख ली ?

कौंडिन्य—देख ली ! यों तो कुंडली के पहले बच्चे की आकृति

ही सब बता चुकी थी, महाराज !

सचिव—महर्षि कौंडिन्य ठीक कह रहे हैं। इतना सुन्दर शिशु बढ़ने पर प्रतापी हुए विना नहीं रह सकता।

कौंडिन्य—महाराज ! शिशु का चौड़ा ललाट, सघन भवें, लम्बी पपनियाँ और स्थिर पुतलियाँ डंका पीट-पीट कर कहती हैं—यह बच्चा साधारण बच्चा नहीं। फिर उसकी हथेलियाँ और उंगलियाँ रेखा–जालों से आवृत हैं और पैरों में चक्र के चिह्न हैं।

सचिव—मैंने भी इनपर ध्यान दिया है, ऋषिवर !

कौंडिन्य—इन लक्षणों को कुंडली से मिलाकर देखिये, तो बातें और स्पष्ट हो जायँ।

शुद्धोदन—हमें शीघ्र बताया जाय महर्षि !

कौंडिन्य—इस शिशु के भाग्य में चक्रवर्ती होना लिखा है।

शुद्धोदन—यह चक्रवर्ती होगा ?

कौंडिन्य—उससे भी बड़ा ! भरत-खंड और जम्बूद्वीप पर ही नहीं, विश्व के कोने-कोने में इसका आधिपत्य फ़ैलेगा।

शुद्धोदन—आह, आज माया न रही ! अपने बच्चे की यह भविष्यवाणी सुनकर आज उसे कितनी प्रसन्नता होती !

कौंडिन्य—और भी सुनिये महाराज ! कोई शत्रु इसके सामने टिक नहीं सकेगा। जो कोई भी इसके सामने आयगा, उसका सिर झुककर रहेगा। बड़े-बड़े सम्राटों के मुकुट इसके चरणों की धूल चाटेंगे !

सचिव—चरणों की धूल ! ऋषिवर, आप कहने में गलती कर गये हैं। राजपुत्र के पैरों में धूल क्यों आये ? पादुका या पदत्राण कहिये।

कौंडिन्य—मैं ज्योतिष की गणना की बात कह रहा हूँ; काव्य नहीं कर रहा, सचिववर ! (शुद्धोदन से) हाँ, बड़े-बड़े साम्राटों के मुकुट इसके चरणों की धूल चाटेंगे और इसके पास ऐसी और इतनी बड़ी सेना होगी, जिस तरह की और जितनी बड़ी सेना संसार में कभी नहीं देखी गई।

सचिव—जितनी बड़ी तो समझा, पर जैसी का क्या अर्थ है, ऋषिवर।

कौंडिन्य—अर्थ लगाना आपका काम है! मैं लिखनेवाला नहीं, पढ़नेवाला हूँ। जो लिखा है, मैं पढ़ रहा हूँ; आप अर्थ लगाते जाइये। (शुद्धोदन से) तो महाराज, इसकी यह अपूर्व सेना जहाँ जायगी, विजय-ही-विजय प्राप्त करेगी। दसो दिशाओं में अपनी विजय-वैजयन्ती फहरानेवाला आपका यह प्रतापी पुत्र दीर्घायु प्राप्त करेगा और अन्तत: जिस परिस्थिति में उत्पन्न हुआ है, उसी परि-स्थिति में, उसी प्रकार, सुख से स्वर्गारोहण करेगा।

सचिव—जिस परिस्थिति में उत्पन्न हुआ उसी परिस्थिति में, सुख से.......?

कौंडिन्य—हाँ-हाँ, सचिव! कुंडली में यही लिखा है। जिस परिस्थिति में, जिस प्रकार सुख से उत्पन्न हुआ, उसी तरह की परिस्थति में, उसी प्रकार सुख से स्वर्गारोहण करेगा।

सचिव—आप कुछ अद्भुत भविष्यवाणी कर रहे हैं ऋषिवर।

कौंडिन्य—कह दिया, मैं भविष्यवाणी नहीं कर रहा; जो कुंडली कहती है, मैं दुहरा भर रहा हूँ।

सचिव—लक्षण विचित्र हैं!

कौंडिन्य—हाँ, लक्षण विचित्र हैं। यह चक्रवर्ती सम्राट् पर भी लागू है और.......

शुद्धोदन—
सचिव— } और.........

कौंडिन्य—इतना अधीर हो रहे हैं आपलोग! तो सुनिये—यह बच्चा प्रतापी सम्राट् होगा या विश्व-विश्रुत धर्म-प्रवर्तक!

शुद्धोदन—धर्म-प्रवर्त्तक ?

सचिव—तपस्वी, भिक्षु!

(प्रजावती का प्रवेश)

प्रजावती—महर्षि, महर्षि! यह क्या कह रहे हैं आप? माया का पुत्र और भिक्षु! माया प्रसूतिगृह में ही चल बसी, क्या मुझे.........

कौंडिन्य—(हँसते हुए) रानी प्रजावती, मायारानी अकेली गईं; किन्तु आप अकेली नहीं जायँगी, एक पूरा महिला-समाज आपका अनुसरण करेगा। अच्छा, मैं चला महाराज!

शुद्धोदन—यह आप क्या कहे जा रहे हैं!

कौंडिन्य—जो लिखा हुआ है, वही। नमस्कार सचिववर!

३

[प्रथम आखेट :: कपिलवस्तु के निकट की वनस्थली]

उदय—मारिये तीर कुमार; वह..........

सिद्धार्थ—वह ? किधर उदयी !

उदय—वह देखिये, वह एक मृग-छौना खड़ा है !

सिद्धार्थ—कितनी बड़ी-बड़ी उसकी आँखें हैं उदयी ! इतनी सुन्दर आँखें आदमी को क्यों नहीं दी गईं ?

उदय—भाग जायगा कुमार, भाग ! जल्दी निशाना लीजिये।

सिद्धार्थ—निशाना ? इसपर तीर ? उदयी, इच्छा होती है, दौड़कर इसके गले से लिपट जाऊँ और इसकी आँखें चूमूँ—इसकी सुन्दर आँखें, मासूम आँखें, डरी हुई आँखें ! हाँ-हाँ, इसकी आँखों में कितना डर है, उदयी ! आदमी से ये इतना डरते हैं क्यों भला ?

उदय—और लीजिये, वह भाग गया।

सिद्धार्थ—उफ, भाग गया ! थोड़ी देर और क्यों न ठहरा उदयी!

उदय—गया, किन्तु आपका भाग्य ! देखिये-देखिये; एक गया, दूसरा आया ! वह देखिये....

सिद्धार्थ—कहाँ, ? वह ? वह कोन-सा जानवर है उदयी !

उदय— खरहे का बच्चा !

सिद्धार्थ—ओहो, कितने सुन्दर कान हे इसके! उजले-उजले ये कान उस झाड़ी में भी प्रकाश फैला रहे हैं मानों !

उदय—यह भी भागा, नहीं तो मारिये !

सिद्धार्थ—थोड़ा और देख लेने दो भाई ! अब मैं रोज शिकार को आऊँगा। कितने सुन्दर जानवर होते हैं जंगल में ! आदमी इन्हें क्यों नहीं पालता ? पाला है उसने घिनौने कुत्ते को, चोरनी बिल्ली को ! उदयी, इन्हें पकड़कर हम घर ले चलें। चलो......

(आगे बढ़ते हैं: खड़खड़ाहट: शशक-शावक भाग जाता है)

उदय—वह भी गया ! आपको महाराज ने फिजूल साथ में लगाया। आपसे शिकार न होगा।

सिद्धार्थ—नहीं-नहीं, मैं अब प्रतिदिन शिकार में आऊँगा उदयी ! आऊँगा, इन खूबसूरत जानवरों को देखूँगा। किन्तु, ये हमारे निकट

क्यों नहीं आते ? क्यों भाग जाते हैं उदयी ? (एक पेड़ से पंडुक की आवाज) और यह क्या बोल उठा उदयी ?

उदय—पंडुक है। उसपर हाथ आजमाइयेगा ? तो चलिये। (कुछ आगे बढ़कर) देखिये उस डाल पर !

सिद्धार्थ—ओहो, एक नहीं, दो-दो ! उदयी खड़खड़ मत करो, कहीं ये भी न उड़ जायँ !

उदय—उसके पहले ही तीर मारिये कुमार।

सिद्धार्थ—किस तरह एक दूसरे से सट कर बैठे हैं दोनों ! एक कुछ कहता है, दूसरा जवाब देता है ! क्या ये दोनों भी हमारे-तुम्हारे ऐसे दोस्त हैं उदयी !

उदय—मारिये राजकुमार, जल्द तीर मारिये।

सिद्धार्थ—मारूँ ? उदयी, हम-तुम में से एक को कोई यों ही तीर मारे, तो हमें कैसा लगेगा ?

उदय—फिर वही बातें। नहीं-नहीं, आपसे शिकार न होगा !

(पीछे से आवाज 'पकड़ो, पकड़ो' !)

सिद्धार्थ—पकड़ो ! (मुड़कर) यह तो देवदत्त है। कहाँ दौड़ा आ रहा है ? क्या बात है ? अरे.... (एक हंस सामने आ गिरता है, उसे देखकर) उदयी, उदयी ! अरे-अरे, इसे क्या हुआ है उदयी !

(हंस के निकट पहुँचकर, झपटकर, उसे उठा लेते हैं)

देवदत्त—(निकट आकर) हंस मेरा है, इसे मत छूना सिद्धार्थ।

सिद्धार्थ—तुम्हारा हंस है देवदत्त ! ओह, किस दुष्ट ने इसे मार दिया ?

देवदत्त—मैंने मारा है, लाओ।

सिद्धार्थ—तुमने मारा है ? अपने हंस को ? अपने हंस को क्या इस तरह मारा जाता है ? नहीं-नहीं, तुमन नहीं मारा होगा। उफ, बेचारे की गर्दन में आ लगा है, यह तीर ! उदयी, थोड़ा पानी लाओ भाई, बेचारा मुँह बा रहा है।

देवदत्त—अभी मुँह बा रहा है, थोड़ी देर बाद मुँह में पड़ेगा।

सिद्धार्थ—मुँह में पड़ेगा ? तुमने अपने हंस को खुद मारा और अब उसे खाने की तैयारी में हो ? नहीं-नहीं, तब यह तुम्हारा हंस नहीं है। हाय-हाय, कितना रक्त बहा जा रहा है इसकी गर्दन से ! उदयी, जल्द पानी लाना भाई !

देवदत्त—ज्यादा ज्ञान मत बघारो, दो मेरा हंस !

सिद्धार्थ—तुम्हारा हंस? यह तुम्हारा हंस हो नहीं सकता देवदत्त ! अपने हंस को यों नहीं मारत। देखो, कैसी दुर्गति कर दी है इसकी तुमने !

देवदत्त—तुम्हारा ही जन्म शाक्यकुल में होना था सिद्धार्थ ! 'रक्त', 'उफ,' 'हाय',—मालूम होता है, थोड़ी देर में तुम रोओगे।

सिद्धार्थ—मेरा रोआँ-रोआँ तो रो रहा है देवदत्त ! क्या इस बेचारे की हालत देखकर तुम्हें दया नहीं आती ?

देवदत्त—क्षत्रिय रक्त देखकर हँसते हैं, रोना काम तो......

सिद्धार्थ—क्षत्रिय निरीह प्राणी का रक्त बहाकर हँसते हैं ? क्षत्रिय इतना निर्दय और क्रूर नहीं हो सकते देवदत्त !

देवदत्त—मैं तुमसे बहस नहीं करना चाहता। निश्चय ही तुम शाक्यकुल में कलंक लगाकर रहोगे !

सिद्धार्थ—कलंक और मुझ से ? हाँ, निरीह प्राणियों का रक्त बहाकर शाक्यवंश पर जितना कलंक लगा होगा, मैं उसे धोने की कोशिश अवश्य करूँगा।

देवदत्त—कह दिया, ज्ञान मत बघारो ! मेरा हंस दे दो।

सिद्धार्थ—मैं नहीं देता। (उदय पानी लेकर आता है) पानी ले आये उदयी ! इसकी चोंच के सामने रखो। अहा, किस तरह घट-घट पी रहा है यह पानी ! किन्तु, यह क्या ? सारा पानी तो तीर के छेद से निकला जा रहा है। उदयी, उदयी, कोई उपाय करो भाई !

देवदत्त—दे दो मेरा हंस।

सिद्धार्थ—कह दिया, यह तुम्हारा हंस नहीं है। मैं नहीं दता। (उदय से) उदयी, जरा इसके पंख भी धो दो भाई ! उफ ! बेचारा खून-खून हो रहा है !

उदय—और, यह आपके सारे कपड़े जो खून-खून हो रहे हैं !

सिद्धार्थ—इन्हें भी धोऊँगा और शाक्यकुल के कलंक को भी मुझे ही धोना है उदयी !

देवदत्त—देते हो मेरा हंस, या······

सिद्धार्थ—यह हंस तुम्हारा नहीं है, मैं नहीं देता।

देवदत्त—नहीं देता ! यह धौंस मत दिखलाओ कि तुम युव-राज हो !

सिद्धार्थ—जिस कुल में देवदत्त ऐसे वीर-पुंगव हों, उस राजवंश का युवराज होना कोई गौरव की बात नहीं है देवदत्त !

देवदत्त—बढ़कर मत बोलो। हमारा हंस दे दो।

सिद्धार्थ—कह दिया, नहीं दूंगा।

देवदत्त—देना ही पड़ेगा, तुम्हें !

उदयी—आप लोग यह क्या कर रहे हैं? देखिये, वह महाराज आ रहे हैं। (शुद्धोदन आते दिखाई पड़ते हैं)

देवदत्त—चाचाजी को आज फैसला करना पड़ेगा।

(शुद्धोदन—निकट आकर)

शुद्धोदन—हाँ-हाँ, फैसला करूँगा बच्चो! लेकिन तुमलोग बार-बार यों झगड़ क्यों पड़ते हो?

देवदत्त—चाचाजी, सिद्धार्थ मेरा हंस नहीं देते।

शुद्धोदन—तुम तो ऐसे नहीं थे बेटे······

सिद्धार्थ—यह झूठ बोल रहे हैं, पिताजी! यह इनका हंस नहीं है! अपने हंस को कोई यों मारता है?

देवदत्त—यह शिकार है; जो मारे उसका शिकार!

सिद्धार्थ—यह जीव है; जो बचावे उसका जीव!

शुद्धोदन—ओहो, मामला तो संगीन मालूम पड़ता है। और मैं किसके पक्ष में फैसला दूं, बेटे के या भतीजे के?

देवदत्त—आपको राजधर्म निभाना होगा, न्याय करना होगा, चाचाजी!

शुद्धोदन—राजधर्म! न्याय! तब तो सिद्धार्थ जीतेगा। मारनेवाले से बचानेवाले का अधिकार अधिक है!

४

[अन्तःपुर–विहार :: कपिलवस्तु का राजप्रासाद]

प्रजावती—कौंडिन्य की बात गलत थी, मेरा सिद्धार्थ तो पूरा घरबारी हो रहा है।

शुद्धोदन—अच्छा, तो घर में पुतोहू का आना सफल हुआ!

प्रजावती—अभी तो फूल लगे हैं, फल भी लग कर रहेंगे महाराज !

शुद्धोदन—यह सब यशोधरा के रूप-गुण का परिणाम है, प्रजावती !

प्रजावती—आप सच कह रहे हैं महाराज ! यशोधरा एक ही साथ अप्सरा, किन्नरी और देवी है। अप्सरा का रूप, किन्नरी की कला और देवी के गुण—तीनों का अपूर्व समन्वय हुआ है हमारी इस बेटी में।

शुद्धोदन—सिद्धार्थ का तो उसने मन मोह लिया है जैसे !

प्रजावती—यह तो हमने पहले ही दिन देखा था, महाराज ! आपकी आज्ञा से जनपद भर की कुमारियाँ सिद्धार्थ से उपहार पाने को एकत्र हुई। रत्न, आभूषण, वस्त्र—सबके ढेर लगे थे। कुमारियाँ आतीं और सिद्धार्थ सिर नीचा किये ही उन्हें उपहार दिये जाता। जब यशोधरा पहुँची, देने को कुछ नहीं बच गया था। वह सिद्धार्थ के निकट जाकर सिर झुकाये खड़ी हो गई। सिद्धार्थ ने उसकी छाया देखी, तो सिर ऊँचा करके गीले शब्दों में कहा—'गोपे, तुम्हारे लिए तो कुछ नहीं बचा।' यशोधरा का सिर और झुक गया; वह बोली—'कुमार, आपकी कृपा ही बहुत है !' और, दूसरे ही क्षण सिद्धार्थ की आँखें उसकी आँखों में गड़ी थीं और उसके गले की माला यशोधरा की छाती पर झूल रही थी !

शुद्धोदन—हाँ-हाँ, मालूम होता है, दोनों को विधाता ने जैसे एक-दूसरे के लिए ही गढ़ कर भेजा हो ! तभी तो कहाँ वह एकान्त-एकान्त खोजने में व्याकुल रहता था और अब तो अन्तःपुर से निकलता ही नहीं है !

प्रजावती—अन्तःपुर में दिन-रात हँसी के फव्वारे छूटते हैं। दिन-रात बाजों और गानों की गुंजार छाई रहती है ! कभी चित्रकारी हो रही है, कभी कविता की टाँग तोड़ी जा रही है। कला-पंडिता युवतियों का एक पूरा गिरोह इकट्ठा कर रखा है यशोधरा ने, जिनके बीच वह तारा-मंडित पूर्णचन्द्र की तरह दिपती रहती है। इस अपूर्व शृंगार-नभ में सिद्धार्थ का अस्तित्व न जाने कहाँ विलीन हो गया है।

(नेपथ्य से धीमे स्वर में संगीत, वाद्य और हँसी के शब्द)

प्रजावती—सुन रहे हैं न ?

शुद्धोदन—हाँ, सुन रहा हूँ, तृप्त हो रहा हूँ प्रज ! मैं तो हमेशा कौंडिन्य के भविष्यकथन की याद से मरा जा रहा था। अब मालूम होता है जैसे डूबता प्राणी थाह में आ गया।

(सचिव का प्रवेश)

सचिव—एक आवश्यक बात आ गई है, महाराज !

शुद्धोदन—आवश्यक बात ? क्या बात है सचिववर !

सचिव—आप भयभीत न हों महाराज ! यों ही एक छोटी, किन्तु आवश्यक बात है।

शुद्धोदन—जब से कौंडिन्य कह गये, तब से भय ने मेरा पिंड कभी नहीं छोड़ा।

सचिव—द्वैध भविष्यवाणियों को इतना महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं महाराज !

शुद्धोदन—आह, ऐसा ही होता ! तो बताइये मंत्रिवर !

सचिव—आज मैं प्रातः भ्रमण को निकला, तो पाया सिद्धार्थ कुमार की चारो ओर निन्दा हो रही है !

शुद्धोदन—सिद्धार्थ ऐसे व्यक्ति की भी निन्दा !

सचिव—यों तो कुछ लोगों का स्वभाव ही निन्दक का होता है, किन्तु जो निन्दा मैंने सुनी है, उसमें तथ्य है।

शुद्धोदन—तथ्य है !

सचिव—बात यों है, सभी कह रहे हैं कि सिद्धार्थ कुमार अन्तःपुर से निकलते ही नहीं, वह तो बिल्कुल घर-घूसन हो रहे हैं। उन्हों ने युद्ध-विद्या सीखी नहीं। सिवा कला के अन्य ज्ञान पर कभी ध्यान नही दिया। भला, उनसे शाक्यकुल का राजधर्म कैसे निभेगा ?

प्रजावती—सचिववर, ये निन्दक हमारा घर उजाड़ना चाहते हैं। कितनी चेष्टा के बाद सिद्धार्थ ने सांसारिक सुखों में थोड़ी आसक्ति दिखलाई है, अब वे फिर······

शुद्धोदन—इसमें हमें देवदत्त का हाथ मालूम पड़ता है प्रजे ! उसने सिद्धार्थ के विरुद्ध एक अजीब गुट बना रखा है। न जाने उसे किस बात के लिए चिढ़ है !

प्रजावती—यदि उसे सिंहासन पर ही बैठने की इच्छा है, तो आप उसे युवराज नियुक्त कर दीजिये महाराज ! किन्तु, हमारे बेटे को वह हमसे क्यों छीने ?

सचिव—शाक्यकुल के सिंहासन देवदत्त ऐसे व्यक्तियों के लिए नहीं है। किन्तु सिद्धार्थ कुमार को अन्तःपुर से अब बाहर निकलना चाहिये। एक बार जब मन रम गया, तो फिर दूसरी कोई आशंका व्यर्थ है, महाराज! हाथों पर का खाया कबूतर खेतों में चारा नहीं चुगता।

प्रजावती—किन्तु मेरा हृदय काँपता है। मालूम होता है, माया का यह धरोहर ज्यों ही आँगन से बाहर गया कि आँखों से हमेशा के लिए दूर हुआ। जंगली हाथी फँस गया है सचिव, किन्तु अभी वन की पुकार नहीं भूला है।

शुद्धोदन—मेरे हृदय में भी कुछ ऐसी ही आशंका है।

सचिव—किन्तु पितृ-कर्त्तव्य से भी ऊँचा राजधर्म है महाराज! सिद्धार्थ कुमार को कल से अन्तःपुर से बाहर जाना ही चाहिए।

५

[विराग की ओर :: कपिलवस्तु के अंचल में]

सिद्धार्थ—रोको, रथ को तनिक रोको सारथी!

छंदक—रोक दिया कुमार!

सिद्धार्थ—बाहर की यह हवा! कितनी ठंढक, कितनी ताजगी! फिर यह दृश्यावली! मालूम होता है, मैं सत्य से दूर स्वप्न की दुनिया में जा पड़ा था······और वह—अरे, वह क्या है छन्दक?

छंदक—वह!

सिद्धार्थ—हाँ हाँ, वह! वह आदमी है या भूत या छाया? बाल उजले-उजले, ललाट पर सिकुड़न, धँसी आँखें, जो भौहों से ढँक रही हैं। गाल की जगह हड्डियों का उभाड़, नाक टेढ़ी हो गई है। मुँह में दाँत नहीं। सिर किस तरह हिल रहा है उसका! अस्थि-कंकाल शरीर, झुका हुआ है लाठी पर टेक देकर, जैसे किसीने कमर ही तोड़ दी हो! क्या वह आदमी है! या भूत? या छाया?

छंदक—न वह भूत है, न छाया—वह भी आदमी है कुमार!

सिद्धार्थ—आदमी और ऐसा!

छंदक—हाँ हाँ, आदमी और ऐसा। बचपन में इसने भी दूध पिया, फिर पृथ्वी पर पेट के बल चला, कालक्रम से सुन्दर युवक हुआ और उसी क्रम से यह बुढ़ापे को प्राप्त हुआ है।

सिद्धार्थ—बुढ़ापे को !

छंदक—हाँ, बुढ़ापे को राजकुमार ! यही बुढ़ापा है, जो रूप का हत्यारा है, बल का शत्रु है, शोक का सगा भाई है, आनन्द का काल है, जो मेधा को मींज डालता है, इन्द्रियों को कुचल डालता है; वही बुढ़ापा कुमार !

सिद्धार्थ—क्या सबको बूढ़ा होना पड़ता है छंदक ?

छंदक—हाँ, सबको। यह सबपर आता है और सबके बालों से कालापन, ललाट से चमक, आँखों से ज्योति, गालों से लाली, होठों से हँसी, मुँह से दाँत और हृदय से उमंग छीनकर, लूटकर ले जाता है कुमार !

सिद्धार्थ—मुझे भी बूढ़ा होना पड़ेगा ?

छंदक—यह प्रजा का सौभाग्य होगा कुमार।

सिद्धार्थ—लेकिन मेरा ? नहीं नहीं, मैं बूढ़ा होना नहीं चाहता ! यह सौभाग्य मैं नहीं लेना चाहता !

छंदक—जो जवानी लेता है, उसे बुढ़ापा भी लेना ही होता है कुमार !

सिद्धार्थ—उफ, मेरा चित्त उद्विग्न हो रहा है छंदक ! रथ को लौटाओ ! लौटाओ !

छंदक—जो आज्ञा, कुमार !

सिद्धार्थ—बुढ़ापा ! बुढ़ापा !! बुढ़ापा !!!—उफ !

(पट–परिवर्तन)

सिद्धार्थ—उस रास्ते से रथ न ले जाना, जहाँ वह बूढ़ा···

छंदक—महाराज की भी यही आज्ञा है राजकुमार ! किन्तु उसे आप भूल जाइये !

सिद्धार्थ—बुढ़ापा ! बुढ़ापा !! रूप का हत्यारा, बल का शत्रु, शोक का भाई, आनन्द का काल····और, अरे-अरे, वह क्या है, सारथी !

छंदक—उधर न देखिये कुमार! देखिये, इस तरफ। पंछियों की एक पाँत आसमान में किस तरह उड़ी जा रही है!

सिद्धार्थ—मैं बच्चा नहीं रहा छंदक, बताओ वह क्या है? उफ, इसका पेट फूला हुआ है, साँस धौंकनी-सी चल रही है, कंधे और बाँहुएँ ढ़ीली हैं, शरीर दुबला और पीला है! क्या यह भी आदमी है? या भूत? या छाया?

छंदक—कुमार, इतनी जिज्ञासा ठीक नहीं!

सिद्धार्थ—तुम्हें बताना ही होगा सारथी, बताओ!

छंदक—उफ, न जाने क्या होना बदा है! कुमार, यह भी आदमी है; यह बीमारी का शिकार······

सिद्धार्थ—बीमारी! बीमारी का शिकार! क्या वह कोई हिंसक जानवर है, जो आदमी का शिकार किये फिरता है!

छंदक—कुमार, महाराज ने हमें मना कर दिया है। मुझे उलझन में मत डालिये; कहिये, रथ आगे बढ़ाऊँ।

सिद्धार्थ—कहने से मना कर दिया गया है तो उसकी आवश्यकता भी नहीं रह गई छंदक! मैं सब समझ गया। आदमी, आदमी! तू बुढ़ापे का शिकार है, तू रोग का शिकार है, तो भी तू हर्ष मनाता है, सैर किया करता है? उफ, आदमी!

(पट-परिवर्तन)

सिद्धार्थ—क्या कहा, यह मुर्दा है? सब आदमी मरते हैं, यह भी मर गया है! तो मुझे भी मरना होगा, तुम्हे भी मरना पड़ेगा? और, मरना पड़ेगा उन सुन्दरियों को भी जो मुझे दिन-रात घेरे रहती हैं? मृत्यु! मृत्यु! बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु! मानवता के ये ही तीन वरदान हैं! इन्हीं वरदानों को लेकर वह हँस रहा है, खेल रहा है, मौज कर रहा है। और, मजा यह कि वह अपने को बुद्धिमान समझता है। मानव, मानव! तुम्हारे यही वरदान हैं—बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु! वरदान! इसी वरदान की भट्ठी में जला करो, मानव! अन्त में तुम जलोगे, अब भी जला करो! छंदक, रथ वापस ले चलो!

(पट-परिवर्तन)

सिद्धार्थ—बुढ़ापे, बीमारी और मृत्यु के बीच यह आदमी इतना आनन्द से कैसे विचर रहा है, सारथी!

छंदक—क्योंकि इसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है! इसने समझ लिया है कि यह संसार क्या है, इसका सार क्या है? बड़ी तपस्या से यह ज्ञान प्राप्त होता है कुमार!

सिद्धार्थ—तपस्या से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान प्राप्त होने पर आदमी सदा आनन्द से रहता है! बुढ़ापे, बीमारी और मृत्यु के बीच भी आनन्द से रहता है?

छंदक—हाँ कुमार! ऐसा ही हम देखते-सुनते आये है।

सिद्धार्थ—तो आदमी ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त करता? ज्ञान के लिए तपस्या क्यों नही करता? क्यों तुच्छ भोग में भूला रहता है,? छंदक! उफ, लौटाओ रथ······

६

[अंतिम शृंगार :: कपिलवस्तु के राजप्रासाद का शृंगार-कक्ष]

यशोधरा—इधर आप अजीब उदासीन रहने लगे है, आर्यपुत्र! बात क्या है?

सिद्धार्थ—उदासीन? तुमसे मैं कभी उदासीन नहीं हो सकता, यशे!

यशोधरा—मुझसे न सही, अपने से उदासीन तो आप दीखते ही हैं। इधर आपने स्वर्ण-दर्पण भी नही देखा, नहीं तो पाते..

सिद्धार्थ—रुक क्यों गई? क्या पाता मै?

यशोधरा—ये रुक्ष बाल, जहाँ काले-घुँघराले भौरों-से लट लटकते होते थे, वहाँ ये बिखरे, उखड़े जटा-ऐसे......

सिद्धार्थ—जटा-ऐसे? क्या मेरे ये बाल अब तपस्वियों की जटा-ऐसे लगते हैं यशे!

यशोधरा—हाँ, आर्यपुत्र! राजकुमार के बाल और ऐसे?

सिद्धार्थ—तपस्वियों की जटा-ऐसे? यशे, एक बार जंगल की ओर चलो न!

परिचारिका—क्या कुमार अपने जन्म की तरह ही अपने पुत्र के जन्म की भी कामना करते हैं?

सिद्धार्थ—परिचारिके, हाँ, मैं भूल गया था, ओहो...

परिचारिका—अब जिस किसी दिन भी शाक्यकुल का नया सूर्य उदय हो सकता है, राजकुमार!

यशोधरा—वाचाल मत बन परिचारिके ! जा, आर्यपुत्र के लिए शृंगार-प्रसाधन का आयोजन कर। मुझसे चला-फिरा नहीं जाता, तो तुमलोगों ने भी आर्यपुत्र का शृंगार-प्रसाधन छोड़ दिया ! ये बाल ! क्या देवताओं को भी ऐसे बाल मिले हैं ? और, ये जटा-ऐसे हो रहे हैं !

(परिचारिका जाती है)

सिद्धार्थ—जटा-ऐसे ! हाँ यशोधरे, क्या जटा-ऐसे ?

यशोधरा—मैं इन्हें इस तरह नहीं रहने दे सकती आर्यपुत्र !

सिद्धार्थ—कब तक ?

यशोधरा—क्या मुझसे इतनी बड़ी अवज्ञा हो गई है, जो आप यों कह रहे हैं ?

सिद्धार्थ—अवज्ञा और तुमसे ? सिद्धार्थ ने यशोधरा को पाकर अपने को सदा धन्य समझा है, मेरी रानी !

(परिचारिका का प्रवेश)

परिचारिका—शृंगार-प्रसाधन के सारे सामान तैयार हैं, देव !

यशोधरा—तो लाती क्यों नहीं ?

सिद्धार्थ—हाँ-हाँ, ला ! (रुक कर) बहुत दिनों पर यह शृंगार हो रहा है और कौन जाने, यह कहीं अन्तिम शृंगार....

यशोधरा—अंतिम शृंगार ? फिर यह क्या बोल गये आर्यपुत्र ?

सिद्धार्थ—कुछ नहीं ! आज मेरा शृंगार करा रही हो, कौन जाने कल से फिर तुम्हें अपने शिशु से ही अवकाश न मिले !

यशोधरा—आपका बच्चा पितृ-द्रोही हो सकता है और आपकी पत्नी आपके चरणों से दूर रह सकती है—यह आप क्या सोचा करते हैं आर्यपुत्र ?

सिद्धार्थ—मेरे कथन का यह तात्पर्य था ? तो गलती हुई। मेरा शृंगार-प्रसाधन कराओ यशे !

(गुनगुनाती हुई परिचारिकायें शृंगार-प्रसाधन कर रहीं, प्रजावती का प्रवेश)

प्रजावती—ओहो, मेरा बेटा आज साक्षात् इन्द्र मालूम हो रहा है।

यशोधरा—आज आपके बेटे को देखकर इन्द्र का सिंहासन हिल रहा होगा अम्मा !

सिद्धार्थ—मैं तो उसे हिलता देख रहा हूँ यशे ! देखो, वह सिंहासन हिला, वह अपनी जगह से हटा, वह उड़ा आ रहा है !

यशोधरा—अब कवि होने में थोड़ी ही कसर रह गई है आर्यपुत्र को !

प्रजावती—कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः ! कवि और भगवान एक होते हैं बेटी !

यशोधरा—तो मैं अपने भगवान को प्रणाम करती हूँ ! (झुकती है)

सिद्धार्थ—(इससे उदासीन) कविर्मनीषी ! कवि और ऋषि !

(उदय का प्रवेश, यशोधरा चली जाती है)

उदय—ओहो, आज तो आप सचमुच कवि, ऋषि और भगवान तीनों मालूम होते हैं। यह सुन्दर रूप, यह अपूर्व श्रृंगार ! यह दार्शनिकों का ललाट और रह-रहकर उसपर खिंच जानेवाली ये चिन्ता-रखायें ! फिर चेहरे से जो अपूर्व ज्योति-मंडल फूट रहा है—सचमुच, फूट रहा है—सचमुच, कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।

सिद्धार्थ—अरे, बताओ यह श्रृंगार मेरा कैसा हो पाया है, उदयी ! यशोधरा कहती थी, मेरे बाल जटा-ऐसे लगते थे ! अरे, यशोधरा ? चली गई क्या ?

प्रजावती—वह अधिक देर खड़ी नहीं रह सकती बेटा !

सिद्धार्थ—और, मैं अधिक देर बैठा नहीं रह सकता माँ ! क्या श्रृंगार पूरा हुआ है ?

परिचारिका—कंधे पर यह चादर डाल लेना रह गया है कुमार।

सिद्धार्थ—यह चादर ! ऐसी चादर तो अपने जनपद में नहीं बनती ! परिचारिके, तुमने इसे कहाँ पाया है ?

परिचारिका—अभी-अभी एक व्यक्ति कुमार के लिए उपहार दे गया है, जिसे महाराज ने भेजवाया है।

सिद्धार्थ—यह कहाँ की चादर हो सकती है उदयी ?

उदय—मैं नहीं जानता कुमार ! शायद अम्मा जानें !

प्रजावती—अपूर्व चादर है उदयी !

सिद्धार्थ—हाँ, अपूर्व चादर ! मेरा कवि कहता है, यह चादर इन्द्र ने भेजी है !

उदय—हाँ, यह इस लोक की तो नहीं ही हो सकती !

(दूसरी परिचारिका का प्रवेश)

परिचारिका—(प्रजावती से) अम्मा, आपको पौत्र हुआ है !

प्रजावती—अहा ! क्या कहा ?

परिचारिका—शाक्यकुल का नया सूर्य उदय हो गया ! देवी यशोधरा ने पुत्र-रत्न प्राप्त किया है !

प्रजावती—मैं चली बेटा; परिचारिकाओ, उत्सव मनाओ।

(प्रजावती और परिचारिकाओं का प्रस्थान)

सिद्धार्थ—उदयी !

उदय—कुमार !

सिद्धार्थ—एक नया बंधन तैयार हुआ, उदयी !

उदय—यह क्या कह रहे हैं, कुमार !

सिद्धार्थ—हाँ, मैं क्या कह गया ? नहीं-नहीं, चलो, हमलोग भी उत्सव मनावें ! राग-रंग, धूम-धाम (भीतर से बच्चे के रोने की आवाज)

सिद्धार्थ—(धीमे से) क्रन्दन, बन्धन ! बन्धन, क्रन्दन ! !

७

[महानिष्क्रमण : : अनोमा नदी के तट पर]

सिद्धार्थ—राजधानी से हम कितनी दूर हैं, छंदक !

छंदक—कुमार, हमलोग कहाँ जा रहे है ?

सिद्धार्थ—कहाँ जा रहे हैं ? यह मैं भी नही जानता छंदक ! किंतु कहीं जा रहे हैं, कहीं जा रहे हैं। और किसीको .... किसीको छोड़े आ रहे हैं ! किसको ? उफ, सब कुछ मिथ्या है—मिथ्या है छंदक ! सत्य है सिर्फ बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु !

छंदक—आह, उन्हें भूल जाइये, कुमार।

सिद्धार्थ—भूल जाऊँ ? क्या यह भूलने की बात है छंदक ? उफ, किस तरह लार बह रही थी, किस तरह झाग गिर रहे थे ! यही सौन्दर्य है ? उनकी नाक से साँस निकल रही थी या नागिनी फुफकार मार रही थी। कपड़े हट गये थे—पर्दे ने जिन्हें सुन्दरता दे रखा था, वे ही अंग किस तरह वीभत्स लगते थे ! सब मिथ्या है, वीभत्स है, असुन्दर है, अशोभन है ! उँह ! हम राजधानी से कितनी दूर पर हैं छंदक ?

छंदक—कुमार यह सब क्या कह रहे हैं आप ?

सिद्धार्थ—तुमने देखा नहीं छंदक, देखा नहीं ! जिसे तुम सौन्दर्य कहते हो, वह कैसा वीभत्स है। और संगीत !—वीणा उलटी पड़ी

थी, मृदंग लुढ़के हुए थे, सब साज़ बिखरे थे। स्वर नहीं, झंकार नहीं; एक शून्य, एक हाहाकार। हाँ, मौन जैसे चीख रहा हो! वहाँ मैं टिक नहीं सकता था छंदक। मैं भागा—भागा.....

छंदक—ओह, कुमार!

सिद्धार्थ—छंदक, घबराओ मत, सब मिथ्या है। राज्य मिथ्या है, राजसिंहासन मिथ्या है; राजा मिथ्या है, प्रजा मिथ्या है। सत्य है सिर्फ—बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु और परम सत्य है ज्ञान—समझे?

छंदक—उफ! उफ!

सिद्धार्थ—हाँ, अफसोस की बात है। यह दुनिया ऐसी है, जिसपर आदमी सिर्फ उफ या आह कर सकता है। इसमें क्रन्दन-क्रन्दन है, बन्धन-बन्धन है! बन्धन—माँ बन्धन, बाप बन्धन, स्त्री बन्धन, पुत्र बन्धन! पुत्र!! छंदक, मैंने उस नवजात शिशु को देखा है छंदक। किस तरह अपनी माँ की गोद में चिपका पड़ा था। माँ, यशोधरा, अपने बच्चे के सिर से होंठ सटाये, एक हाथ उसपर हौले रखे, वह किस तरह सोई थी? किस तरह सोई थी, कैसी सुन्दर लग रही थी?—उफ बन्धन, बन्धन! छंदक, तुम बोलते क्यों नहीं?

छंदक—कुछ नही समझ रहा कुमार? आप मुझे कहाँ लिये जा रहे हैं?

सिद्धार्थ—कहाँ लिये जा रहा हूँ? कहाँ से आ रहा हूँ? सब कुछ मिथ्या है, सब कुछ बन्धन है, सत्य है सिर्फ ज्ञान। ज्ञान में ही आनन्द है। आनन्द की ओर जा रहा हूँ, छंदक। बन्धन तोड़कर, मिथ्या छोड़कर, ज्ञान की ओर, आनन्द की ओर जा रहा हूँ! राजधानी से हम कितनी दूर पर हैं? रात कितनी बाकी है?

छंदक—कुमार, कुमार! बहुत दूर हम आ गये, अब लौटिये।

सिद्धार्थ—ज्ञान का पथिक चले हुए रास्ते से फिर नहीं लौटता, छंदक। मैं लौटूंगा, पिताजी को कह देना, मैं लौटूंगा। मौसी को कह देना, मैं लौटूंगा। यशोधरा को कह देना, मैं लौटूंगा और छंदक, जब वह शिशु बड़ा हो, उसे भी कह देना—मैं लौटूंगा। लौटूंगा; लेकिन इस रास्ते से नहीं, इस भेष में नहीं। लौटूंगा; मिथ्या को दूर कर, बन्धनों को जलाकर, ज्ञान की उपब्धि कर, आनन्द को प्राप्त कर, लौटूंगा। हाँ-हाँ, लौटूंगा; छंदक! अरे, वह कलकल क्या सुन रहा हूँ?

छंदक—निकट ही अनोमा नदी है कुमार !

सिद्धार्थ--नदी है ! राम गंगा-तट तक रथ पर चढ़कर आये थे, सिद्धार्थ अनोमा-तट तक घोड़े पर आया। राम लौटे, मैं भी लौटूँगा। राम लौटे सीता लेकर; मैं लौटूँगा—ज्ञान लेकर ! राम को बाप ने भेजा, मैं बाप से भाग आया। भेद है—कोई बात पूरी तरह दुहरती नहीं है। ओहो, छंदक, वह देखो, पूरब के क्षितिज पर लालिमा छिटक रही है—ज्ञान की किरणें फूटकर रहेंगी छंदक ! छंदक, ज्ञान की किरणें फूटकर रहेंगी !!

[पटाक्षेप]

सुजाता की खीर

१

[शोकाकुल कपिलवस्तु :: शुद्धोदन का राजप्रासाद]

शुद्धोदन—छंदक, छंदक ! मेरे बेटे को कहाँ छोड़कर आये छंदक ? ओह......

छंदक—महाराज, महाराज; मुझपर कलंक मत लगाइये महाराज। मैं कुमार को छोड़कर नहीं आया, कुमार मुझे छोड़कर चल दिये। मैंने विनती की, प्रार्थना की; हाथ जोड़े, पैर पकड़े; हाँ, पैर पकड़े; किन्तु.......

शुद्धोदन—किन्तु वह नहीं रुका, नहीं रुका ! आह, कौंडिन्य की बात पूरी होकर रही !

प्रजावती—हाय, मेरा बेटा ! उफ, माया की आत्मा स्वर्ग में आठ-आठ आँसू रो रही होगी ! माया-पुत्र सिद्धार्थ और वह जंगल-जंगल...! ओह, छंदक, तुमसे धोखा हुआ हमें! तुम कहाँ ले गये कुमार को ? कहाँ छोड़ आये मेरे बेटे को ?

छंदक—मैं ले गया महारानी ? मैं छोड़ आया महारानी ? जो कलंक बदा था, लगा; किन्तु बात कुछ दूसरी ही है, महारानी !

प्रजावती—दूसरी बात ? क्या बात है ? तो बताते क्यों नहीं हो छंदक !

छंदक—मैं तो देवी यशोधरा के पुत्रोत्सव का नाच-गान देख-सुनकर देर से लौटा और बेसुध सोया था कि कुमार ने मुझे जगाया, कहा—छंदक, जल्द कंथक को तैयार करो, मुझे बाहर जाना है। मैंने कहा—कुमार, यह भी कोई समय है बाहर जाने का? तो बोले—यही समय है, नहीं तो फिर कभी समय नहीं आयगा!

शुद्धोदन—उसने सच कहा था छंदक—'यही समय है, नहीं तो फिर कभी समय नहीं आयगा!' और, तुमने उसकी बात मान ली!

छंदक—उन्होंने कुछ ऐसे शब्दों में मुझे आज्ञा दी कि मंत्राभिभूत की तरह मुझे सबकुछ करना पड़ा, महाराज!

शुद्धोदन—कलेजा फटा जा रहा है, लेकिन मैं सोचता था, एक दिन यह होकर रहेगा! तो तुम कहाँ तक साथ गये?

छंदक—अनोमा नदी तक! रात भर कुमार चलते रहे; न कहीं विराम, न विश्राम। चलते रहे और कुछ बोलते रहे।

प्रजावती—क्या बोल रहा था मेरा बेटा, छंदक!

छंदक—मैं कुछ समझ नहीं पाता था, महारानी! हाँ, चार शब्दों को वह बार-बार दुहराते थे—बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु और ज्ञान......

शुद्धोदन—बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु और ज्ञान! बेटे ने अंतिम के लिए जंगल का रास्ता लिया और बाकी तीन, शुद्धोदन, तुम्हारे लिये छोड़ गया है! बूढ़े हो ही, अब स्वस्थ रह नहीं सकोगे, इसलिए मरने की तैयारी करो।

(यशोधरा का प्रवेश)

यशोधरा—पिताजी, पिताजी! आप ऐसा न सोचें पिताजी, फिर मेरा बेटा......

शुद्धोदन—राहुल! आह, राहुल! दशरथ को राम के लिए मरने की स्वाधीनता भी थी, शुद्धोदन को राहुल के लिए जीने की लाचारी है। जीया करो, शुद्धोदन, जीओ!

प्रजावती—अधीर मत होइये महाराज! (छंदक से) अपने अभागे बाप और इस अभागिनी मौसी के लिए उसने कुछ संदेश भी कहा?

छंदक—हाँ, देवि! चलते समय उन्होंने कहा, मौसीजी और पिताजी से कह देना—मेरे लिए शोक न करें, मैं ज्ञान के अनु-

संधान में जा रहा हूँ और उसे पाकर लौटूंगा! इसी तरह उन्होंने ······(गला रुँध जाता है, आँसू आने लगते हैं)

शुद्धोदन—रुक क्यों गये छंदक ?

प्रजावती—रो क्यों पड़े छंदक ?

यशोधरा—मेरे लिए भी कोई सन्देश कहा, क्यों, यही बात है न छंदक ?

छंदक—हाँ देवि! उन्होंने कहा, यशोधरा से भी कह देना—वह घबराये नहीं, मैं जरूर लौटूंगा और बड़ा होने पर उस नवजात शिशु से······

यशोधरा—नवजात शिशु! आह! एक बार उसे देख भी लिये होते।

छंदक—उन्होंने जाने के पहले उसे देखा था, आर्ये!

यशोधरा—(आश्चर्य में) क्या? देखा था?

छंदक—हाँ, देखा था, आप दोनो सोये थे···वह प्रसूतिगृह के द्वार तक गये। आप बच्चे को लिपटाए हुई सोई थीं। उन्होंने बच्चे को चूमना चाहा······

यशोधरा—हाय, हाय!

छंदक—वह आगे बढ़े, झुके। फिर कुछ सोचकर लौट पड़े—चल पड़े। उन्होंने राहुल को देखा था छोटी रानी!

शुद्धोदन—सिद्धार्थ ने राहुल को देखा है, किंतु राहुल बेचारा! आह, माया पुत्र को नहीं देख सकी, राहुल पिता को नहीं देख पाया!

यशोधरा—पिताजी, व्याकुल मत होइये! राहुल एक दिन खींच-कर फिर उन्हें कपिलवस्तु लावेगा, पिताजी! मैं उन्हें अच्छी तरह पहचानती हूँ······

छंदक—और इन संदेशों के साथ ये धरोहर····

(गठरी खोलता है)

शुद्धोदन—यह मुकुट!

प्रजावती—ये वस्त्राभूषण!

यशोधरा—और ये बाल? आर्यपुत्र के ही हैं ये बाल! (उठा लेती है, चूमती है)

प्रजावती—ये बाल? छंदक!

छंदक—मुकुट और वस्त्राभूषण उतारकर मुझे देने के बाद, अपने ही हाथों, अपनी तलवार से उन्होंने बालों के ये लट काटे और कहा—इन्हें भी लेते जाओ छंदक, ये बाल यशोधरा के बहुत प्रिय थे....

यशोधरा—आह! आर्यपुत्र इस दासी पर कितने दयालु रहे! आर्यपुत्र, आर्यपुत्र! इस धरोहर को लेकर यह दासी तुम्हारे वियोग के दिन काट लेगी, आर्यपुत्र!

शुद्धोदन—उफ........

प्रजावती—हाय.....

यशोधरा—माँ, पिताजी! अधीर मत होइये पिताजी!

छंदक—जिसके वियोग में पशु तक प्राणार्पण कर सकता है, उसके वियोग में माँ-बाप.......

शुद्धोदन—पशु? कंथक! कंथक कहाँ है छंदक!

छंदक—कंथक! उस पशु ने वह किया, जो किसी भी मानव के लिए स्पृहणीय है महाराज!

शुद्धोदन—क्या किया, क्या हुआ?

छंदक—जब कुमार चलने लगे, कंथक की आँखों से अविरल अश्रु-प्रवाह जारी हुआ। कुमार ने उसे दुलराया, चुमकारा, उसकी देह पर, पीठ पर हाथ फेरे। इसके बाद जब कुमार आगे बढ़े, वह जोर से हिनहिनाने लगा—जैसे पुकार रहा हो, तुम मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो? कुमार ने एक-दो बार घूम-कर देखा, फिर चल दिये। किन्तु यह क्या! ज्यों ही कुमार आँखों से ओझल हुए, वह जोरों से काँपने लगा, काँपने लगा, फिर थरथरा कर जो गिरा, सो उठा नहीं!

शुद्धोदन—कंथक, कंथक! सच्चे प्रेम का आदर्श तुम्हींने दिखलाया कंथक, आह!

छंदक—वह हृदय-विदारक दृश्य था महाराज! इधर कंथक तड़फड़ा रहा था, अन्तिम दम तोड़ रहा था, उधर भिक्षुओं-सा भेष बनाये, नंगे पैर, फटे कपड़े, मुंडित मस्तक, हाथ में भिक्षा पात्र लिये, राजकुमार आगे बढ़े जा रहे थे.........

२

[प्रथम भिक्षा : : राजगृह में एक घर के सामने]

सिद्धार्थ—माँ, भिक्षा !

नागरिका—अहा, तुम। (चेहरे को घूरती हुई) तुम्हारे योग्य भिक्षा की कोई सामग्री मेरे पास नहीं हैं, भिक्षु !

सिद्धार्थ—और कुछ नहीं माँ, सिर्फ एक निवाला भोजन !

नागरिका—अभी हमारे घर में भोजन नहीं बना है भिक्षु ! घर में बेटा बीमार है....

सिद्धार्थ—बीमार ! उफ, बीमारी, बुढ़ापा....

(लौटने का उपक्रम)

नागरिका—तो, लौटे जा रहे हो भिक्षु ! थोड़ी बासी खिचड़ी होगी; किन्तु कैसे खा सकोगे उसे ? तुम्हारा यह चाँद-सा चेहरा, कमल-सी आँखें— लम्बी पपनियाँ, सघन भवें—उन्नत ललाट ! वह कौन-सा घर है, जिसे सूना करके आये हो युवक ?

सिद्धार्थ—किसी भरे घर को ही छोड़कर आया हूँ माँ ! और, जा रहा हूँ संसार से बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु की विभीषिका को दूर भगाने का उपचार खोजने।

नागरिका—बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु ! हाय, मेरे पतिदेव चल बसे, प्यारा बेटा बीमार है और यह बुढ़ापा मेरी कमर तोड़ने को खड़ा है। इन तीनों से संसार को जो त्राण दिला सकेगा, वही मानववंश का सबसे बड़ा त्राता समझा जायगा भिक्षु ! इस महान अभियान में ईश्वर तुम्हें सफलता दें ! ठहरो, आई ! (घर से खिचड़ी लाती है) लो, यह खिचड़ी ! उफ, यह बासी खिचड़ी कैसे खा सकोगे ?

सिद्धार्थ—बस रहने दो; एक कलछी काफी है माँ !

(थोड़ी दूर हटकर बासी खिचड़ी खा रहे हैं—खाई नहीं जाती—रह-रहकर उबकाई आती है—एक नागरिक का प्रवेश)

नागरिक—ओहो, अच्छे तपस्वी हैं आप ! खिचड़ी खाई नहीं जा रही....

सिद्धार्थ—हाँ नागरिक, खाई नहीं जा रही। जब साधना के पथ पर पैर रखो, सारी इन्द्रियाँ विद्रोह करने लगती हैं! आँख, कान, जिह्वा—सभी हमें नीचे ढकेलने को तैयार हो जाते हैं! किन्तु यदि लक्ष्य तक पहुँचना है, तो इनपर विजय प्राप्त करना होगा, नागरिक!

(कुछ और नागरिक एकत्र हो जाते हैं)

नागरिक—मालूम होता है आपकी जिह्वा ने तरह-तरह के सुस्वादु भोजन चखे हैं, जिनकी याद इस बासी खिचड़ी को आपके मुँह से बाहर फेंक देना चाहती है।

सिद्धार्थ—जिह्वा हमेशा सुस्वादु भोजन खोजती है, कान हमेशा मधुर स्वर खोजते हैं और आँखें सौन्दर्य के लिए पागल बनी रहती हैं। क्या राजा, क्या रंक, सभी इन्द्रियों के दास हैं। मैं इन इन्द्रियों का स्वामी बनूँगा।

(अचानक राजा बिम्बसार आ जाते हैं—उन्हें देखते ही नागरिक सिटपिटा जाते हैं)

बिम्बसार—इन्द्रियों का स्वामी बनूँगा! युवक, यह दम्भ तुम्हारा सारा पर्दाफाश कर देता है! निस्सन्देह तुम किसी कुलीन....

सिद्धार्थ—भिक्षु में कुलीन अकुलीन का कोई भेद नहीं होता, आर्य! अलग-अलग पेड़—आम, जामुन, कटहल! किन्तु, ज्योंही कट गये, सब एक—ईंधन!

बिम्बसार—ईंधन में भी एक अरंड और एक चंदन है, युवक! इस राजगृह में भिक्षुओं की कमी नहीं, किन्तु थोड़ी ही देर में तुमने राजधानी भर में हलचल मचा दी है—सब तुम्हारी चर्चा कर रहे हैं, मगध-सम्राट को भी तुमने पाँव-पयादे यहाँ घसीटा है....

सिद्धार्थ—तो, आप मगध-सम्राट बिम्बसार हैं! सम्राट की जय हो।

बिम्बसार—तुम्हें भी जय प्राप्त हो, युवक! इन्द्रियों का स्वामी बनूँगा—यही सिद्ध करता है, तुम क्षत्रिय-कुमार हो! स्वामित्व की, जय की आकांक्षा ही क्षत्रिय को दूसरों से पृथक करती है। किन्तु, युवक, क्षत्रिय-कुमार दसो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के पहले दसो दिशाओं पर विजय प्राप्त करना चाहता है!

सिद्धार्थ—जिसने अपने पर विजय नहीं प्राप्त की, वह दिशाओं पर क्या खाकर विजय प्राप्त करेगा सम्राट ?

बिम्बसार—युवक, हर काम के लिए अवस्थायें निश्चित कर दी गई हैं। जवानी है दिशाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए; बुढ़ापा है....

सिद्धार्थ—बुढ़ापा! बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु!—यही तीन तो मानवता के अभिशाप हैं, सम्राट! और बुढ़ापे के अभिशाप से मुक्ति पाने के लिए जवानी से ही तो प्रयत्न करना पड़ेगा मगधपति!

बिम्बसार—तुम्हें शिक्षा-दीक्षा भी अच्छी मिली है भिक्षु! तुम्हारी बातचीत, रूप-रंग, चालढाल सभी बताते हैं, तुम किसी राजकुल से आये हो। और, वह राजकुल धन्य है, जिसमें तुम्हारे ऐसे कुमार उत्पन्न होते हैं! क्या वहाँ कोई विप्लव हुआ या कोई खटपट....

सिद्धार्थ—विप्लव! हाँ, किन्तु बाहर नहीं, भीतर! और, जब अपने से खटपट हो चुकती है, तब घर या बाहर से खटपट होती है सम्राट!

बिम्बसार—शाक्यकुल का कोई राजकुमार गृहत्यागी हुए हैं, आप वही तो नहीं हैं।

सिद्धार्थ—भिक्षु का कोई कुल नहीं होता, जिस तरह गरुड़ का कोई घोंसला नहीं होता!

बिम्बसार—छोड़िये इन झमेलों को। मैं बहस करना नहीं चाहता। लेकिन मेरी एक बात—बात नहीं, एक याचना, प्रार्थना! मगध-साम्राज्य को मैं जिस रूप में विस्तृत और समृद्ध देखना चाहता हूँ, उसमें आपके ऐसे धुनी युवक की सहायता बड़े काम की होगी। मगध का यह राज्य आपको अर्पित है, यौवन राज्य-शासन में बिताइये—फिर तपोवन! तपोवन यहाँ से निकट ही है, शाक्यकुमार!

सिद्धार्थ—राज्य-शासन!....तपोवन....! दोनों में से मैंने पहले ही चुनाव कर लिया है, सम्राट! वह तपोवन मुझे पुकार रहा है, बिदा दीजिये!

बिम्बसार—एक बार फिर सोचो युवक!

सिद्धार्थ—सोच चुका हूँ, कितनी बार सोच चुका हूँ! नाव धारा में डाल चुका, अब उसकी लहरियों पर खेलूँगा या सदा के लिए अतल में विलीन....मैं चला सम्राट!

बिम्बसार—न रुकें, तो जाइये! किन्तु साधना की प्राप्ति के बाद इधर ही से लौटने का वचन देते जाइये।

सिद्धार्थ—तथास्तु!

३

[मज्झिम निकाय :: तपोवन में अस्थिकंकाल बने सिद्धार्थ भावावेश में]

सिद्धार्थ—तपोवन, तपोवन! तपस्या, तपस्या! कैसी तपस्या—कितनी तपस्या!....भद्रजित, उफ....

कोई पंछियों की तरह गिरे अन्न चुनकर खा रहा; कोई मृगों की तरह घास-पात पर जी रहा; कोई बाँबियों में घुसा साँप की तरह हवा ही पी रहा!

कोई दिनरात पानी में घुसा मछलियों और कछुओं से अपनी चमड़ी नुचवा रहा; कोई आग के घेरे में अपने को रखे सारे शरीर को झुलसाये जा रहा!

कोई बारह वर्षों से खड़ा-ही-खड़ा; कोई एक जगह इस तरह बैठ गया कि उसके चारों ओर चींटियों ने मिट्टी के अम्बार लगा दिये...

उफ, तपस्या, तपस्या! तपोवन, तपोवन!

अराड-मुनि का उपदेश! तप करो, तप करो! मैंने क्या नहीं किया? छः वर्षों से तो इस आसन पर बैठा रहा हूँ। अन्न छोड़ा, फल छोड़े, जल तक छोड़ा! शरीर से बल जाता रहा, आँख से ज्योति जाती रही और मेधा....

हाँ, हाँ, मेघा भी जाती रही मेरी!

कल मैं किस तरह मूर्च्छित होकर गिर गया था, भद्रजित! नहीं, नहीं ज्ञान की प्राप्ति का यह मार्ग नहीं हो सकता! भद्रजित, तुम बोलते क्यों नहीं!

भद्रजित—जी, आज्ञा?

सिद्धार्थ—आज्ञा ? आज्ञा कुछ नहीं भद्रजित ! ज्ञान की उपलब्धि इस मार्ग से हो नहीं सकती ! दुर्बल उसे प्राप्त नहीं कर सकता ! जो भूख, प्यास, थकावट से परीशान है, अस्वस्थ चित्त है, असुखी है, उसे ज्ञान की उपलब्धि हो नहीं सकती भद्रजित !

भद्रजित—यह आप क्या कह रहे हैं ?

सिद्धार्थ—वही कह रहा हूँ, जिसका अनुभव इतनी तपस्याओं के बाद प्राप्त किया है। दुर्बल शरीर, अस्वस्थ चित्त और अशान्त मन से ज्ञान की उपलब्धि हो नहीं सकती, भद्रजित ! जो तपस्या मेघा को कुंठित करे, शरीर को अशक्त बना दे, मन को विह्वल कर दे—वह तपस्या तपस्या नही है। भद्रजित, तुम्हारे अन्य चारों साथी कहाँ है ?

भद्रजित—कल से आपका जो रुख हो रहा है, उसे देखकर वे परीशान हैं !

सिद्धार्थ—परीशान ! वे परीशान हैं ? तो मैं भी कम परीशान नहीं हूँ, भद्रजित ! घर छोड़ा, राज्य छोड़ा, पत्नी छोड़ी, पुत्र छोड़ा—किन्तु पाया क्या ? उफ, मैं भी कम परीशान नहीं हूँ, भद्रजित !

(संगीत की स्वर-लहरी सुनाई पड़ती है)

ओहो, भद्रजित ! सुना तुमने वह गाना ? वह गाना—'वीणा के तार को इतना मत ऐंठो कि वह टूट न जाय और न इतना ढीला करो कि जिससे स्वर ही न निकले !' यह कौन गा रहा है ? कहाँ गा रहा है ? 'वीणा के तार को इतना मत ऐंठो. . . .' बस-बस, ज्ञान का मार्ग यही है भद्रजित ! ज्ञान का मार्ग—मध्य का मार्ग—मज्झिम निकाय ! 'वीणा के तारों को इतना मत ऐंठो'—भद्रजित, तुम जाओ, अपने साथियों से कह दो—सिद्धार्थ ने ज्ञान का मार्ग पा लिया ! हाँ, पा लिया ! तुम जाओ और मैं निरंजना की तट की ओर चला भद्रजित, जहाँ से यह स्वर्गीय संगीत प्रवाहित हो रहा है. . . . . . .

(फिर संगीत की स्वर-लहरी)

अहा, कैसा गाना ! ओह, कैसा गाना ! ठहरो गायक, ठहरो; मैं आया, मैं आया ! भद्रजित, तुम खड़े क्यों हो, जाओ !

देख रहा हूँ तुम्हारा चेहरा भद्रजित ! वह कह रहा है—सिद्धार्थ ढोंगी है ! सिद्धार्थ तपस्या से गिर गया। एक राजकुमार से तपस्या सध नहीं सकती ! पाखंडी; ढोंगी—मैं देख रहा हूँ, तुम्हारा चेहरा यही कह रहा है भद्रजित ! उससे घृणा बरस रही है—जाओ, जाओ !

(भद्रजित जाता है, सिद्धार्थ का ध्यान संगीत की ओर है)

गायक, ठहरो, ठहरो ! मैं आया गायक, आया ! निरंजने, निरंजने ! धन्य तुम्हारा तट, धन्य यह गाना ! मज्झिम निकाय, मध्यम मार्ग, बीच की राह (मुड़कर) भद्रजित.....

(उसे नहीं पाकर)

ओहो, अच्छा हुआ कि तुम चले गये, भद्रजित ! सिद्धार्थ अकेले ज्ञान की खोज में निकला था; वह अकेले ही ज्ञान प्राप्त करेगा–राह मिल गई, फिर मंजिल कितनी दूर ! वह·····वह मंजिल, वह······ वह······

४

[दिव्य खीर :: बोधिवृक्ष के नीचे]

सुजाता—आज वह शुभ दिन भी आया पूर्णे !

पूर्णा—जिसका सौभाग्य चमकता है, उसका हर तरह से चमकता है, आर्ये ? कितना सुन्दर पति मिले आपको, अब बरस लगते-न-लगते यह सुन्दर पुत्र।

सुजाता—किन्तु इन वरदानों के लिए कितनी तपस्या की है मैंने ! आखिर इस एक थाल खीर की ही तो बात सोच।

पूर्णा—इसमें तो आपने हद कर दी ! एक हजार गायों को जेठीमध के जंगल में चराकर उसके दूध से पाँच सौ गायों को पालना; फिर उन पाँच सौ गायों के दूध से ढ़ाई सौ गायों को—यों ही दूध से पालते-पालते अन्ततः पाँच गायों के दूध से यह खीर बनाई है आपने। वह देवता भी धन्य होंगे जो इसे ग्रहण करेंगे !

सुजाता—जो मेरा प्रेम सत्य होगा, तो देवता को आज प्रत्यक्ष भोजन ग्रहण करना पड़ेगा, सखि !

पूर्णा—ऐसा तो कभी नहीं हुआ है, आर्ये !

सुजाता—जो कभी नहीं हुआ, वह कभी हो भी नहीं सकेगा, ऐसा सोचना क्या सही है ? दुनिया में नित्य नई चीजें होती रहती हैं, पूर्णे !

पूर्णा—देखिये तो आर्ये, उस तरफ वह क्या प्रकाश हो रहा है ?

सुजाता—हाँ, संध्या की इस धूमिल बला में मालूम होता है, जैसे कोई प्रकाश-पुंज वहाँ उद्दीप्त हो रहा है !

पूर्णा—प्रकाश-पुंज ! हाँ, हाँ; प्रकाश-पुंज ही तो। देवि, देवि, आपके देवता, देखिये, वह प्रत्यक्ष आपकी प्रतीक्षा में हैं। आपने जो अभी कहा, वह होकर रहा !

सुजाता—कोई तपस्वी होंगे शायद। किन्तु शरीर से कैसी ज्योति फूट रही है! अग्नि में तपाये जाकर सोना जैसे कुंदन बन गया हो! अभी शायद निरंजना मे स्नान कर लौटे हैं। सारे शरीर पर पानी की बूंदे चमचम कर रही हैं!

पूर्णा—नहीं, आर्ये! यह तपस्वी नही, यह देवता है, आपके आराध्य देवता! मेरी तो आँखें झिप रही हैं! मैं आगे बढ़ नहीं सकती; जाइये, अपने देवता को इस पवित्र पायस का भोग लगा आइये।

सुजाता—नहीं-नहीं, तू भी चल, पूर्णे!

पूर्णा—मै जा नहीं सकती आर्ये! उस ज्योति से मेरी आँखें चकाचौंध में पड़ी जाती है। अब यहाँ से दस डेग भी मैं नहीं बढ़ूंगी! जिसका देवता होता है; उसकी ज्योति वही सम्हाल पाता है, आर्ये! यही कहा जाता है, यही होता है!

सुजाता—तू पगली है, अच्छा यहाँ से भागना मत; मैं तुरत आई।

(ध्यानस्थ सिद्धार्थ के निकट पहुँच कर)

देव, यह मेरा भाग्य कि आप यहाँ सशरीर बैठे हैं! जिन्दगी भर पुजारिन बनी रही; तब कही आपने आज दर्शन दिये। लीजिये, यह श्रद्धा की खीर!

देव, आप बोल क्यों नहीं रहे! क्यों यह बन्द आँखें? यदि इतनी कृपा की, तो यह कृपा भी कर दिखाइये! इन नेत्रों को खोलिये; इस खीर को सद्गति दीजिये!

आप हिल भी नहीं रहे। क्यों देव! देवता या तो अदृश्य रहेंगे, या प्रतिमा बनेंगे? क्या यही विधान है? मैं देव-विधान नहीं तोड़ना चाहती हूँ, मेरे देव! किन्तु यह विधान बुरा है। अदृश्य से प्रत्यक्ष हुए; तो आँख, मुँह और हाथ को काम करने दीजिये।

इन आँखों को मंगल बरसाने दीजिये, मुँह को आशीर्वचन देने दीजिये और हाथों को अर्घ्यग्रहण के लिए बढ़ाइये। मैं आपके चरणों पर गिरी हूँ, मेरे देवता!

(सिद्धार्थ का ध्यान टूटता है)

सिद्धार्थ—देवि, मैं देवता नहीं! मैं मनुष्य हूँ; किसी चीज की खोज में हूँ।

सुजाता—मैं आप से तर्क नहीं करना चाहती, देव! आप जो कुछ हैं, मैं प्रत्यक्ष देख रही हूँ! अहा, मेरा भाग्य! ग्रहण कीजिये यह थाल!

सिद्धार्थ—थाल? स्वर्ण-थाल का भोजन तो मैंने कब न छोड़ दिया भद्रे!

सुजाता—देवता को कब किस चीज की कमी। किन्तु भक्त का आग्रह भी कोई चीज है देव!

सिद्धार्थ—मैं फिर कह रहा हूँ, मैं देवता नहीं; मैं किसी चीज की खोज में हूँ देवि !

सुजाता—यही सही। अगर यही बात हो तो जिस तरह मेरा मनोरथ सिद्ध हुआ, आपका मनोरथ भी पूरा हो देव !

सिद्धार्थ—'आपका मनोरथ पूरा हो'—यह तू क्या कह रही देवि ! क्या सच ? अहा, यही होता !

सुजाता—जो होता है यों हीं अचानक होता है, देव! जब बादल बहुत घना होता है, बिजली आप-आप चमक उठती है—एक के बाद दूसरी !

सिद्धार्थ—देवि, आपका उपहार स्वीकार ! यह खीर बुद्धत्व की जननी सिद्ध हो !

५

[बोधि-प्राप्ति :: बोधिवृक्ष-तले आवेश में सिद्धार्थ]

सिद्धार्थ—उफ, यह क्या स्वप्न था ? स्वप्न या सत्य ? सत्य या स्वप्न ? पहले मालूम हुआ, सारा संसार सुगन्ध से भर गया—सुगन्ध से, फिर संगीत से। तब सारे आसमान में इन्द्रधनुष ही इन्द्रधनुष उग आये; सारी पृथ्वी पर कमल ही कमल खिल उठे ! क्या यह स्वप्न था? या सत्य ?

अरे, वह मधुर शिंजिनी; वह मधुमय स्वर-लहरी। वह छूम-छननन, फिर भुज-वलय-वेष्ठन ! उफ, क्या वह सत्य था, या स्वप्न ?

कोई चीज हृदय पर आई; टकराई। सारे शरीर में रोमांच, सिहरन ! 'सिद्धार्थ, यह मार का पुष्प-शायक है, सम्हलो'—यह कौन बोला ? मार-मार, तुम मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते मार ?

किन्तु यह तो स्वप्न था। क्या यह सत्य था ?

पलक लगते, पल में, कैसा पट-परिवर्तन !

आसमान में उल्कायें दौड़ने लगीं; दिशाओं में नागिनें फुफकारने लगीं; वह ग्रह टूटे, वह वज्र गिरा, वह धरती डोली—भूकम्प ! सारे भूमण्डल को कोई गेंद-सा उछाल रहा हो जैसे। कुछ भी स्थिर नहीं, कोई भी स्थिर नहीं ! 'किन्तु सिद्धार्थ, तुम्हारा आसन नहीं डोलना चाहिए'—क्या यह देवता बोले ?

गजराजों ने सूँड़ से लपेटा; वाराहों ने दाँतों पर उछाला, वज्रदंष्ट्रा मृगेन्द्रों ने जबड़ों के नीचे दबाया—मार-मार ! यह सब तेरी माया थी मार; किन्तु सिद्धार्थ का तुम कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे मार !

फूल से शूल पर, शूल से फूल पर; कभी स्वर्ग के आनन्द-हिल्लोल पर, कभी नरक की रौरव-ज्वाला में; आग से पानी में, पानी से आग पर!

कभी नसों में सनसनी, गुदगुदी; कभी बिच्छुओं के डंक, विद्युत-शलाका की तड़प!

उफ! अरे यह स्वप्न था या सत्य? सत्य था या स्वप्न? किन्तु सिद्धार्थ तो इस प्रतिज्ञा के साथ बैठा था, इस अश्वत्थतले, इसे ही साक्षी रख कर—

'चाहे मेरी चमड़ी, नसें और हड्डी ही क्यों न बाकी रहें, चाहे शरीर, मांस, रक्त क्यों न सूख जायें—लेकिन सम्यक् सम्बोधि प्राप्त किये बिना मैं इस आसन को नहीं छोड़ूँगा, नही छोड़ूँगा!'

मार, मार! तुमने एक भी प्रयत्न नहीं छोड़ा; किन्तु क्या तुम मेरा कुछ बिगाड़ सके?

अहा, अहा! वह पूरब में किरणें छिटक रही हैं। निशा दूर हुई, अंधकार दूर हुआ। स्वप्न भागा; सत्य जागो! सत्य जागो! उठो, सिद्धार्थ उठो! कहाँ हैं अराड मुनि, कहाँ हो भद्रजित, कहाँ हैं तुम्हारे चारो साथी? आओ, देखो, सिद्धार्थ ने बोधि प्राप्त कर ली! सिद्धार्थ ने बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का मार्ग जान लिया। श्रोतिय की आठ पुल्लियों से बना आठ कोण का मेरा यह आसन! बुद्धत्व के आठ स्तम्भ—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

आओ—देखो। ओ, कहाँ हैं अराड मुनि? कहाँ हो भद्रजित? आइये, आओ—सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त कर लिया! बुद्धत्व प्राप्त कर लिया! बुद्धत्व का अष्टांग मार्ग, मध्यम मार्ग—बीच का पथ—मझ्झिम निकाय। आओ, यह मार्ग, देखो!

देखो, अब किरणें सारी पृथ्वी को जगमग करती जा रही हैं। कहाँ गई निशा, कहाँ गया अंधकार, कहाँ गया स्वप्न? सत्य प्रकाशित हुआ, ज्ञान प्रभासित हुआ। मानवो, बढ़ो ज्ञान की ओर, निर्वाण की ओर!

६

[यशोधरा का स्वप्न :: कपिलवस्तु का राजप्रासाद]

यशोधरा—परिचारिके, परिचारिके ! माताजी को बुलाओ परिचारिके !

परिचारिका—जो आज्ञा छोटी रानीजी, किन्तु आज आपमें इतनी प्रसन्नता क्यों पा रही हूँ? कितने वर्षों के बाद······

यशोधरा—हाँ-हाँ, कितने वर्षों के बाद ! कितने वर्षों के बाद उन्हें देखा है परिचारिके !

परिचारिका—उन्हें ! क्या राजकुमार को ? उन्हें कहाँ देखा है रानीजी ? अहा·····

यशोधरा—माताजी को बुलाओ परिचारिके, माताजी को ! अभी-अभी देखा है, वह आ रहे हैं ! आ रहे हैं····

(प्रजावती का प्रवेश)

प्रजावती—कौन आ रहा है बेटी, यह भोर-भोर क्या सुन रही हूँ? क्या सचमुच मेरा बेटा आ रहा है?

यशोधरा—हाँ, सचमुच वह आ रहे हैं, माताजी ! मैंने अभी-अभी सपना देखा है, वह आ रहे हैं !

प्रजावती—सपना देखा है ? सपने से मैं बहुत घबराती हूँ बेटी ! बहिन माया ने भी एक सपना····

यशोधरा—लेकिन मेरा सपना सत्य होकर रहेगा माताजी, वह जरूर आयँगे। मैंने देखा है, एक विशाल उजला हाथी...

प्रजावती—उजला हाथी? माया ने भी....

यशोधरा—हाँ-हाँ, माताजी, मैंने देखा है, एक विशाल उजला हाथी है, उसके आठ दाँत हैं, सुफेद-सुफेद, सुन्दर-सुन्दर ! वह अपनी सुन्दर सूड़ को हवा में उछालता, न ज्यादा तेजी से न बहुत धीरे-धीरे, बल्कि मद्धिम चाल से चला आ रहा है, और उसके ऊपर आर्यपुत्र.....

प्रजावती—बेटी यशोधरे ! हाथी का सपना मत सुनाओ, हाथी का सपना हमारे लिए अच्छा नहीं होता, बेटी !

यशोधरा—अच्छा नहीं होता? क्या इससे भी अच्छी कोई बात हो सकती है माँ कि आर्यपुत्र उस विशाल हाथी पर अपनी राजधानी में प्रवेश कर रहे हैं और सारी राजधानी उनके स्वागत को उमड़ रही है। आर्यपुत्र के मुखमंडल से एक विचित्र आभा प्रस्फुटित होकर एक विशाल वृत्त बना रही थी माँ, जिस वृत्त में मालूम होता था,

सारा भूगोल, खगोल तुच्छ कणिकाओं की तरह चक्कर काट रहे हों! माताजी, माताजी, क्या कहूँ, आपने यह दृश्य नहीं देखा! मैं आपको किस तरह समझाऊँ.......

प्रजावती—बेटी, फिर कहती हूँ, हाथी का सपना न सुनाना! यह हमारे लिए अच्छा नहीं होता। इसी हाथी के सपने ने हमसे सिद्धार्थ छीना, अब राहुल पर ही हमारी सारी आशा केन्द्रित है बेटी!

(राहुल का प्रवेश)

राहुल—माँ, माँ!

यशोधरा—बेटे, बेटे, मैं समझ गई बेटा, तू क्या पूछ रहा है? जब कभी अपने दोनों हाथ उठाकर मुझसे लिपटते हुए निरीह आँखों मे तू मेरी ओर देखता है, मैं समझ जाती हूँ, तुम मुझसे क्या पूछेगा? 'पिताजी कब आयँगे, पिताजी कब आयँगे'—अब यह रट तुम्हें नहीं लगाना होगा बेटे! अब तेरे पिताजी आ रहे हैं।

राहुल—(आनंद से) माँ-माँ!

यशोधरा—कैसी आँखें चमक गई तेरी? कैसा चेहरा खिल उठा तेरा? तेरे पिताजी आ रहे है, मेरे आर्यपुत्र आ रहे हैं। माताजी का प्यारा...... (प्रजावती से) माताजी, आप क्यों न आनंदित हो रही हैं माताजी? ओहो हो—आपकी आँखों में यह आँसू.......

प्रजावती—राहुल, बेटे राहुल! आ बेटा, तुझे गोद लूँ, तेरी बलैया लूँ। मेरा जो बेटा गया, वह लौट नहीं सकता। तेरे रूप में जो नया बेटा मुझे मिला है, हे भगवान...! यशोधरे, बेटी, तुमने यह बुरा सपना देखा!

यशोधरा—माताजी, इससे बढ़कर अच्छा कोई दूसरा सपना हो नहीं सकता। वह आ रहे हैं, आर्यपुत्र आ रहे हैं! आठ दाँतवाले मद्धिम मस्तानी चाल से चलनेवाले श्वेत गजराज पर आ रहे हैं! उनके मुखमंडल से आभा फूट रही है! उस आभा से वृत्त बन रहा है, जिसमें सारा भूगोल, खगोल तुच्छ कणिकाओं की तरह बहते-तैरते से दीख पड़ते हैं! माताजी, इससे बढ़कर सुन्दर कोई सपना हो नहीं सकता है!

राहुल—(उदासी के स्वर में) माँ-माँ!

यशोधरा—उदास मत हो बेटा! दादी की बातों में न आ, प्रसन्न हो; उछलो, कूदो, सारे राजमहल के कोने-कोने को, सारी राजधानी की गली-गली को अपने कलरव से गुँजा दो कि तुम्हारे पिताजी आ रहे हैं। आठ दाँत वाले मद्धिम मस्तानी-चाल से चलनेवाले गजराज पर तुम्हारे पिताजी...... हाँ-हाँ, जाओ—उछलो, कूदो, प्रसन्न हो!

बहुजन हिताय बहुजन सुखाय

१

(पंचवर्गीय भिक्षु : ऋषिपत्तन–मृगदाव)

बुद्ध––मैं देख रहा था भद्रजित, ज्यों-ज्यों मैं तुमलोगों के निकट पहुँच रहा था, त्यों-त्यों तुम्हारी आँखों में आशंका, उपेक्षा, घृणा सघन होती जा रही थी।

भद्रजित––हमें लज्जित न कीजिये, भन्ते!

बुद्ध—मुझ वह दिन भूला नहीं था, जब मैं उग्र तपस्या को त्याग कर खाने-पीने लगा तो तुमलोगों ने कटु वचन कहे, गालियाँ दीं और अभिशाप देकर चलते बने। तुमलोगों न मुझे छोड़ दिया, किन्तु मैंने ज्ञान के अनुसंधान को न छोड़ा और अन्ततः सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करके ही रहा। किन्तु तुम तो समझते थे, सिद्धार्थ पतित......

भद्रजित—हाँ भन्ते! यह लज्जा की बात है, किन्तु सत्य है। आपको देखकर आज भी हमारी पुरानी घृणा सौगुनी वेग से जाग उठी थी और हमने यह तय कर लिया था कि आपके निकट आजाने पर भी हम न उठेंगे, न अभिवादन करेंगे, यहाँतक कि आसन तक नहीं देंगे। किन्तु ज्यों-ज्यों आप नजदीक आते गये....··

बुद्ध—हाँ आदमी ज्यों-ज्यों सत्य के नजदीक आता है, त्यो-त्यों अविद्या हटती जाती है, अन्धकार दूर होता जाता है। मेरे साथ भी

ऐसा ही हुआ था भद्रजित! प्रकाश के पहले अंधकार भीषणतम हो उठता है। बोधि-प्राप्ति के पहले मार के क्या-क्या न प्रहार सहने पड़े मुझे। किन्तु उस प्रहार के बाद तथागत.......

भद्रजित—तथागत!

बुद्ध—हाँ भद्रजित, तथागत! यह तो जो तुम्हारे सामने खड़ा है, वह शाक्यकुल का सिद्धार्थ गौतम नहीं है। वह जो टलहा था, मार की भट्ठी में जलकर भस्म हो गया। यह जो तुम्हारे सामने खड़ा है—यह तथागत है, यथार्थ सत्य है, खरा सोना है। संसार में जिसे अबतक किसी ने न प्राप्त किया था मैंने उस सत्य को प्राप्त कर लिया है भद्रजित!

भद्रजित—भन्ते! आपसे बिछड़कर हमलोगों ने कौन-कौन-सी तपस्यायें न कीं; किन्तु हमें हमेशा ऐसा बोध होता रहा कि हम जहाँ से चले थे, घूम-फिर कर फिर वहीं पहुँच गये हैं। कभी-कभी प्रकाश की जो किरणें दिखीं, वे तुरत सिद्ध हुईं जुगनू की भुकभुक। सत्य का सूर्य, आह! न जाने हमसे कहाँ छिपा हुआ.......

बुद्ध—दो अन्तों से बचकर ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है, कौंडिन्य! शरीर को सुख से लपेटे रहना और शरीर को दुख में तपाना, दोनों ही अनार्य हैं, वर्ज्य हैं। विषयों की आसक्ति ज्ञान को जिस तरह ढँक लेती है, तप की दुर्बलता और शक्तिहीनता उसे अधिक ढँक लेती है। सत्य का रास्ता इन दोनों के बीच में है। मध्यम प्रतिपद—मज्झिम निकाय—मध्य का मार्ग ही सत्य का मार्ग है। यही आर्य-मार्ग है। यही बुद्धत्व का मार्ग है। यही मार्ग आँख देनेवाला, ज्ञान देने वाला, शान्ति देनेवाला, सम्बोधि देनेवाला, निर्वाण देनेवाला है।

भद्रजित—मध्यम प्रतिपद! मज्झिम निकाय! मध्य का मार्ग! (साश्चर्य) यही सत्य का मार्ग है, बुद्धत्व का मार्ग है.......

बुद्ध—हाँ-हाँ भद्रजित! मध्य का मार्ग ही सत्य का मार्ग है। यही आर्य-मार्ग है, यही आर्य आष्टांगिक मार्ग है। आष्टांगिक मार्ग अर्थात् अपनी दृष्टि ठीक रखो, अपने संकल्प ठीक रखो; मुँह से ठीक-ठीक बोली गई वाणी निकले, कर्म भी ठीक ही ठीक हों; आजीविका ठीक रहे—ठीक तरह से प्रयत्न होते चलें। फिर सतत जागरूकता आयगी और अन्ततः सम्यक् समाधि प्राप्त होकर रहेगी।

ज्योंही सम्यक् समाधि प्राप्त हुई, बीमारी, बुढ़ापे और मृत्यु से छुटकारा मिला। जन्म दुख है, बुढ़ापा दुख है; बीमारी दुख है, मृत्यु दुख है। अप्रियों का संयोग दुख है; प्रियों का वियोग दुख है। इच्छित वस्तु का न प्राप्त होना दुख है और उनका खोना भी दुख है। दुख आर्य सत्य है और आर्य सत्य है इन दुखों का कारण। दुखों का कारण क्या है? तृष्णा! कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा। और, जिस तरह ये सत्य हैं, उसी तरह उनका निरोध भी सत्य है। सभी प्रकार की तृष्णाओं से विराग, सभी प्रकार की उत्तेजनाओं पर विजय, यह भी आर्य सत्य है, साध्य है। इस साध्य तक पहुँचने के लिए आष्टांगिक मार्ग है। इस मार्ग को न पहले किसी ने देखा था, न किसी ने सुना था। तथागत ने इसे प्राप्त किया है और तथागत का आदेश है—इसपर बढ़ो, चलो.......

भद्रजित—जो आज्ञा शास्ता!

बुद्ध—तो तुम्हीं पाँचों इस धर्म के अग्रदूत हुए—पंचवर्गीय भिक्षु के नाम से संसार तुम्हें अवगत करेगा।......और, वहाँ, देखो तो, वह कौन आ रहा है?

भद्रजित—ओहो, वह कौन आरहा है? रत्नों से जड़ा सुनहला परिधान, सिर पर रत्नों की झालरवाली पगड़ी, पैर में सोने की पादुकायें! वाराणसी का कोई श्रेष्ठि तो नहीं?

(श्रेष्ठिपुत्र यश का आगमन)

यश—मैं श्रेष्ठि-पुत्र यश हूँ, महात्मन्! आपकी सेवा में आया हूँ। कुछ ऐसी घटनायें हुई हैं कि चित्त कुछ उद्विग्न....

भद्रजित—उद्विग्न चित्तों को शान्ति देने के लिए ही तथागत का आगमन हुआ है, श्रेष्ठिपुत्र! तथागत की कृपा से हमारी आँखें आज खुली हैं, अब संसार की आँखें भी खुलें।

यश—अबतक इन आँखों के धोखे में ही रहा हूँ, महात्मन्! बहुत देखे, बहुत सुने, बहुत भोगे। तीन ऋतुओं के लिए तीन कोठियाँ बनवाईं। ग्रीष्मावास, वर्षावास, हेमन्तावास! भोग के सभी सामान इकट्ठे किये। किन्तु जितना पीते गये, प्यास बढ़ती गई। अब आपकी शरण में आया हूँ, महात्मन्! संकोच हो रहा था........

बुद्ध—तुम्हें संकोच हो रहा था कि इस वेश में ऋषिपत्तन में प्रवेश उचित है या नहीं? किन्तु भिक्षुवेश धर्म का कारण नहीं है

है यश! जो सब जीवों को समान भाव से देखता है और जिसने शम एवं विनय द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह आभूषण पहन कर भी धर्म में विचरण करता है, श्रेष्ठिपुत्र!

यश—साधु, महात्मन्, साधु!

बुद्ध—साधु नहीं, सत्य कहो। जो शरीर से घर को छोड़ता है, चित्त से नहीं और जो काम के अधीन है, वह वन में रहने पर भी गृहस्थ है, गृहस्थों से भी हीन है। किन्तु जिसका शरीर भले ही कामकाज में लगा हो, किन्तु जिसका चित्त ज्ञान की ओर प्रवृत्त है, वह घर में रहकर भी वनवासी है, संन्यासी है, पूज्य है, वन्द्य है। श्रेष्ठिपुत्र, जिसने सिद्धि पाई वह मुक्त—चाहे वह घर में रहे, चाहे वन में।

यश—आपकी शरण में हूँ देव! कोई शुभ तिथि बताइये, जब आपसे प्रव्रज्या ग्रहण करूँ।

बुद्ध—निर्वाण-पथ के लिए कोई समय निश्चित नहीं है और न कोई तिथि शुभ या अशुभ है। यहाँ आओ और अभी सौभाग्य प्राप्त करो!

भद्रजित—कहो, सब कहो—बुद्धं शरणं गच्छामि; संघं शरणं गच्छामि; धर्मं शरणं गच्छामि!

२

[धर्मचक्र-प्रवर्तन :: भिक्षुकों के समक्ष भगवान बुद्ध]

बुद्ध—चर हे भिक्खव, बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय! भिक्षुओ! विचरण करो, भ्रमण करो—बहुतों के सुख के लिए, बहुतों के हित के लिए। लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयाजन के लिए, विचरण करो, भ्रमण करो!

भिक्षुओ, जो आदि में कल्याणकारक है, मध्य में कल्याणकारक है, अन्त में कल्याणकारक है—इस धर्म का उपदेश करो। अर्थ सहित, व्यंजन सहित, अमिश्र, परिपूर्ण, परिशुद्ध, ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। बहुतों के सुख के लिए, बहुतों के हित के लिए विचरण करो, भ्रमण करो, भिक्षुओ।

संसार में ऐसे प्राणी भी हैं, जो अदोष हैं, अल्पदोष हैं। जो भटक गये हैं या भटक रहे हैं तो सिर्फ इसलिए कि धर्म का, सत्य का, ज्ञान का संदेश उनके निकट तक नहीं पहुँच सका। भिक्षुओ, धर्म के न श्रवण करने से उनकी हानि हो रही है। जाओ, उन्हें धर्म का संदेश सुनाओ। धर्म का संदेश सुनकर वे धर्मपथ पर आचरण करें, ज्ञान के मध्यम मार्ग पर विचरण करें—इसके लिए प्रयत्न करो, आगे बढ़ो, बढ़े चलो, भ्रमण करो, विचरण करो !

कभी दो भिक्षु एक साथ न जाना। कभी दो भिक्षु एक पथ से से न जाना। कभी एक घर का भोजन न करना। कहीं एक रात से अधिक न बिताना। बहुतों के सुख के लिए, बहुतों के हित के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए, भिक्षुओ, भ्रमण करो, विचरण करो, बढ़ते चलो।

मैं ही प्रव्रज्या दूँगा, इसकी प्रतीक्षा मत करो। जहाँ भी योग्य सदाचारी व्यक्ति मिले, उसे तुम प्रव्रजित करो !

इस ऋषिपत्तन मृगदाव में, जहाँ निरीह हिरनें विचर रही हैं, जहाँ सुन्दर पक्षी किलोल कर रहे हैं, जहाँ से गंगा का कलरव सुनाई पड़ता है, जहाँ से वाराणसी के सुनहले गुम्बद दिखाई पड़ते हैं, ऐसे पवित्र स्थान में हमने जिस धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है, वह सदा घूमता रहे, चलता रहे, उसे कोई उलट न सके, इसलिए हे भिक्षुओ ! भ्रमण करो, विचरण करो — बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय !

तथागत का यह धर्मचक्र ! शील इसके आरे हैं, शम और विनय इसकी पुटिठयाँ हैं, इसमें बुद्धि की विशालता है, स्मृति और मति की स्थिरता है, लज्जा ही इसकी नाभि है। गंभीरता के कारण यह धर्म-चक्र उलटाया नहीं जा सकता। इसलिए हे भिक्षुओ, इस धर्मचक्र की क्षिप्र गति के अनुसार ही भ्रमण करो, विचरण करो, बढ़ते चलो !

चर हे भिक्खव, बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय ! बहुतों के सुख के लिए, बहुतों के हित के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देव-ताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, भिक्षुओ, विचरण करो, भ्रमण करो, आगे बढ़ो, बढ़ते चलो !

३

[सब जीवों पर दया :: राजगृह का यज्ञस्थल]

पुरोहित—चांडाल, तुमने देर कहाँ लगा दी ! कहाँ रहे अब तक ! क्यों देर कर दी इतनी ?

गड़ेरिया—मैं दोषी नहीं हूँ पुरोहित महराज, मैं दोषी नहीं हूँ ! मैं तो हुक्म पाते ही ढोरों को लेकर चला......

पुरोहित—तो क्यों देर हुई ? कहाँ देर हुई ? चांडाल, तुमने यज्ञ में देर कर दी ?

गड़रिया—देर करूँ और मैं ? यह ढिठाई मुझसे नहीं हो सकती पुरोहितजी। नहीं ! मैं तो एक पागल के पाले पड़ गया था ! हाँ-हाँ वह पागल था !

पुरोहित—पागल ?

गड़रिया—जरूर ही वह पागल था पुरोहितजी ! पूछने लगा—'कहाँ जा रहे हो ? क्यों इतनी तेजी से इन ढोरों को हँका रहे हो ? रह-रहकर इन्हें पीट देते हो ? इन निरीह जानवरों को क्यों पीट रहे हो ? आह, आह !' हाँ, हाँ उसने तो आह-ऊह का तूमार खड़ा कर दिया था। कभी इस भेंड़ की पीठ सहलाता, कभी उस बकरे की टाँग छूता। और, हद हो गई महाराज तब, जब एक लँगड़े बकरे को उठाकर उसने कंधे पर रख लिया।

पुरोहित—तब तो सचमुच पागल था वह !

गड़ेरिया—वह आपको भी अंटसंट सुनाता था पुरोहितजी। कहता था, कैसा है वह ब्राह्मण, जो पशुओं पर यह क्रूरता करवाता है।

पुरोहित—मेरे सामने आता तो बता देता कि मैं कैसा ब्राह्मण हूँ ! दुष्ट ने देर करा दी......

गड़ेरिया—तो क्या वह आ नहीं रहा होगा ? मेरी लाठी से जिसका सिर फूट गया था, उस बकरे का रक्त धोने के लिए वह झरने के निकट ले गया है और कह गया है—जा, पुरोहित को कह देना, मैं इसे लिये आ रहा हूँ ! अरे, वह देखिये, वह आ ही पहुँचा !

(बुद्ध का प्रवेश : पुरोहित एकटक देखता है : बुद्ध मुस्कुराते हैं)

बुद्ध—निरीह प्राणियों के घावों को धोने के लिए ही तथागत का इस लोक में आगमन हुआ है पुरोहित! बकरे का घाव धो चुका, अब तुम्हारा घाव......

पुरोहित—पागल; सम्हल कर बोल। मैं कोई गड़ेरिया नहीं हूँ। इस यज्ञस्थल में.......

बुद्ध—पागल सम्हल कर नहीं बोलते पुरोहित! पागल सम्हल कर बोलें, सम्हल कर चलें, तो फिर संसार को यह दशा क्यों देखनी पड़े? क्यों यज्ञस्थल को वधस्थल बनाया जाय? क्यों वधस्थल को यज्ञस्थल कहा जाय?

पुरोहित—अरे, तू तो ज्ञान का ढोंग भी रच रहा है। वेष भी क्या खूब बना रखा है तूने? किन्तु, देवताओं के लिए किये जानेवाले इस यज्ञ में विघ्न डालने के अपराध में.......

बुद्ध—देवता इतना क्रूर नहीं हो सकते पुरोहित, कि वे निरीह प्राणियों के प्राण के गाँहक बन जायँ।

पुरोहित—देवता बलि से संतुष्ट होते हैं।

बुद्ध—निस्सन्देह! निस्सन्देह ही देवता बलि से प्रसन्न होते हैं; किन्तु बलि निरीह प्राणियों की नहीं, हमारे-तुम्हारे ऐसे...

पुरोहित—चुप रह पागल, चुप रह! अभी बलि का खाँड़ा नहीं देखा है! देख तो यह (खाँड़ा दिखाता है)......

बुद्ध—यह! यही? पुरोहित, पुरोहित? यह तो बच्चों का खिलौना है। तथागत ने मार के ऐसे अस्त्र-शस्त्र देखे हैं.......

पुरोहित—(साश्चर्य) तथागत! मार के अस्त्र-शस्त्र! यह तू क्या बोल रहा है, पगले!

बुद्ध—तुम्हारे सामने तथागत खड़े हैं और तुम पहचान नहीं रहे पुरोहित! हाँ, तथागत! जिसने मार पर विजय प्राप्त की, जिसने तृष्णादि पर विजय प्राप्त की, जिसने ज्ञान प्राप्त किया, बुद्धत्व प्राप्त किया।

पुरोहित—हट, हट, तू अवश्य पागल है। देख, देख, राजा यज्ञ-मंडप में आ ही पहुँचे—हट!

बुद्ध—हट ? जिसे मार न हटा सका, उसे तुम हटाओगे ? राजा को आने दो, मैं उसीसे भेंट करने आया.......

पुरोहित—राजा की शान के खिलाफ इस तरह का सम्बोधन मत कर, भिक्षु !

बुद्ध—तथागत के सामने सभी शिशु हैं, अज्ञानी है, तथागत उन्हें ज्ञान देंगे।

(राजा बिम्बसार का प्रवेश)

बिम्बसार—तुम ? आप ? मालूम होता है तुमको....आपको..... कहीं.......

बुद्ध—तुम, आप, सब भ्रम है; भ्रम है मगध-सम्राट !

बिम्बसार—मालूम होता है कहीं आपको देखा है.....

बुद्ध—जब तक सम्यक् दृष्टि नहीं प्राप्त होती, आँखें सदा धोखा देती आई हैं सम्राट् ! सम्राटों की आँखें और पुरोहितों की आँखें भी।

पुरोहित—सम्राट्, बहुत देर से यह बहकी-बहकी बातें कह रहा है। इसने गड़ेरियों को रोककर ढोर लाने में देर कर दी; ढोरों को हाँकने नहीं देता था, मारने नहीं देता था। एक लँगड़े बकरे को तो कंधे पर उठा लिया था इसने—उसका रक्त तक धोया है !

बुद्ध—संसार में व्यर्थ बहाये जानेवाले रक्त को धोने के लिए ही तथागत का आगमन हुआ करता है, सम्राट् !

बिम्बसार—तथागत का ....व्यर्थ बहाये जानेवाले रक्त को धोने के लिए....। भिक्षु, मालूम होता है, तुम्हारी वाणी मैंने कहीं कभी सुनी है।

बुद्ध—आँखें धोखा देती हैं; कान धोखा देते हैं, सारी इन्द्रियाँ धोखा देती हैं, सम्राट् ! इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही तो तथागत को इतने अनुसंधान और अनुष्ठान करने पड़े—जप-तप में जलना-तपना पड़ा, तब कहीं उसने बोधि प्राप्त की !

बिम्बसार—ओहो, तो आप सिद्धार्थ गौतम हैं ?

बुद्ध—फिर धोखा सम्राट्, फिर धोखा ! सत्य को देखो, यथार्थ को देखो। तुम्हारे सामने सिद्धार्थ नहीं, तथागत खड़े हैं।

बिम्बसार—तथागत ! तो आपने बुद्धत्व प्राप्त कर लिया !

बुद्ध—हाँ, सम्राट् ! जिस मार्ग का पता आजतक किसी ने नहीं पाया, मैंने वह मार्ग प्राप्त कर लिया—ज्ञान का मार्ग, निर्वाण का मार्ग।

बिम्बसार—तो तथागत, तथागत ! हमारे राजभवन में पधारिये और मुझे मुक्ति का मंत्र दीजिये।

बुद्ध—अपनी मुक्ति के पहले इन पशुओं को मुक्त करो सम्राट् ! इन अचेतन निरीह पशुओं को और (पुरोहित की ओर निर्देश करते हुए) ऐसे चेतन-नामधारी दो हाथ-पैर के पशुओं को भी, जो यज्ञादि के नाम पर संसार में अनर्थ मचा रहे हैं !

४

[कपिलवस्तु को याद : : गृद्धकूट के शिखर पर]

बुद्ध—गिरिवर्य कितना सुन्दर लगता है, उदयी। ये मंडलाकार पर्वत; य सुनहली धनखेतियाँ, यह वेणुवन, यह गृद्धकूट—सबके सब कैसे भव्य-दिव्य लगते हैं।

उदय—गिरिवर्य ने तथागत के धर्ममार्ग को सम्राट् बिम्बसार दिया और फिर उसीने सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकास्यप और महाकात्यायन ऐसे चार नर-रत्न दिये ! तथागत के प्रभाव और इनके प्रयत्नों से इस धर्म-मार्ग पर अनेकानेक जनपद और जनसमूह आरूढ़ होते चले जा रहे हैं। सुदूर श्रावस्ती से, कोशाम्बी से, वाराणसी से, विदेह से, वैशाली से, अंग से—चारों ओर से जिज्ञासुओं के दल-के-दल गिरिवर्य की ओर सावन के बादल की तरह उमड़े आ रहे हैं !

बुद्ध—और, कपिलवस्तु भी मुझे न भूल सकी ! तुम्हारे पहले भी एक सहस्र युवक यहाँ आकर प्रव्रज्या ले चुके हैं, उदयी।

उदय—हाँ, उन्होंने प्रव्रज्या ली; मैंने प्रव्रज्या ली। किन्तु हम सब जिस उद्देश्य से आये थे, आह, उसे हम याद रखे होते !

बुद्ध—तुमलोगों के आने का क्या कोई दूसरा उद्देश्य भी था उदयी !

उदय—हाँ शास्ता! हमें महाराज शुद्धोदन ने भेजा था कि आपको......

बुद्ध—क्या? महाराज ने? तो क्या महाराज चाहते हैं कि मैं कपिलवस्तु आऊँ? अरे इसी दिशा में न कपिलवस्तु होगी, उदयी। ओहो, मैं कपिलवस्तु को छोड़ आया; किन्तु कपिलवस्तु मुझे न छोड़ सकी।

उदय—यदि आप यह जान पाते कि आपके बाद कपिलवस्तु की क्या दशा हुई, तो ऋषिपत्तन-मृगदाव में धर्मचक्र-प्रवर्त्तन के बाद आप गिरिवर्य न आकर सीधे कपिलवस्तु पहुँचे होते तथागत! आपके वियोग में.....

बुद्ध—वियोग दुख का कारण है उदयी?

उदय—हाँ-हाँ, वियोग दुख का कारण है और उस दुख को आधे युग से कपिलवस्तु के नर-नारी भुगत रहे हैं। महाराजा या रनिवास की बातें अलग कीजिये, शास्ता; सारे नगर में तब से कोई उत्सव न हुआ, न बाजे बजे, न नृत्य हुआ, न रंगरेलियाँ देखी गईं, न अठखेलियाँ। और महाराज शुद्धोधन! महाराज अगर जीवित हैं, तो सिर्फ राहुलकुमार के लिए तथागत!

बुद्ध—राहुल? राहुल तो अब दौड़ता-चलता होगा, उदयी?

उदय—जब से राहुलकुमार के पैरों में गति और मुँह में वाणी आई है, तब से रनिवास का शोक और बढ़ गया है। वह हमेशा पूछा करते हैं—पिताजी कब आयँगे? और, बार-बार रनिवास से दौड़कर घुड़सार में जाते और छंदक के कन्धे पर चढ़कर कहते हैं--मुझे पिताजी के निकट पहुँचा दो, छंदक!

बुद्ध—ओहो! बड़ा नटखट हो चला है! उसकी ये हरकतें यशोधरा को.......

उदय—देवी यशोधरा? उनकी हालत क्या है, यह मत पूछिये तथागत। जिस दिन आप घर निकले, सब लोग रोये-धोये, किन्तु वह न रोईं, न आँसू बहाये। किसी से पूछा—तपस्वी लोग क्या पहनते होंगे, क्या खाते होंगे, कैसे सोते होंगे! और उसी दिन से उन्होंने काषाय वस्त्र धारण कर लिया........

बुद्ध—काषाय वस्त्र?

उदय—हाँ-हाँ, तथागत! उस दिन से देवी यशोधरा काषाय वस्त्र ही पहनती हैं; फल-फूल ही खाती हैं और वह भी दिन में एक ही बार और पृथ्वी पर कुश की साथरी बिछाकर उसी पर सोती हैं।

बुद्ध—घर में रहकर भी ऐसी साधना!

उदय—देवी यशोधरा को देखकर और उनकी साधना की कथा सुनकर किसके मुँह से आह नहीं निकलती है, तथागत! उस रात जिस शय्या पर आप सोये थे, उस शय्या को उसी रूप में सजाकर रखे हुई हैं। प्रतिदिन प्रातः उसे धूप-आरती दिखाती हैं और प्रति-दिन संध्या को अनेक दीप-मलिकाओं से उसे जगमग कर देती है! इस विषाद में भी उनका मुखमण्डल सदा उदीप्त रहता है और शोकसंतप्त रानी प्रजावती से वह कहा करती हैं—माताजी, वह अवश्य आयँगे, आकर ही रहेंगे।

बुद्ध—हाँ, हाँ; छंदक के द्वारा मैंने संवाद भेजा था कि मैं अवश्य लौटूँगा।

उदय—और एक उपहार भी तो छंदक-द्वारा भेजा था! आपके उन अनमोल लटों को एक रत्न-खचित मंजूषा में रखकर आपकी शय्या पर उन्होंने धर दिया है। प्रति दिन प्रातः-संध्या उन लटों को निकालती हैं, आँखों से लगाती हैं, चूमती हैं, फिर अश्रु-सिक्त नयनों से बार-बार देखती हुई उसे मंजूषा में बन्द कर देती हैं। एक दिन तो भावावेष में वह उस मंजूषा को लिये हुए रानी प्रजावती तक दौड़ गईं और बोली—माँ माँ, देखिये, ये बाल बढ़ रहे हैं! माँ, आर्य-पुत्र लौटेंगे, अवश्य लौटेंगे।

बुद्ध—यशोधरा को मैं जानता हूँ, उदयी! अब उसकी व्यथा-कथा मत बढ़ाओ। मौसी प्रजावती का क्या हाल है?

उदय—संयोग ही कहिये कि उन्हें राहुल का आसरा मिल गया; नहीं तो वह कब न स्वर्ग में अपनी बहन से जा मिली होतीं। दिन भर राहुल को गोद में लिये फिरती हैं और रात में उस भवन के द्वार पर सोती हैं, जिसमें राहुल-कुमार सुलाये जाते हैं,। वह कहती हैं—बेटी यशोधरे, तुम्हारी नींद अच्छी नहीं है, बेटी! तू सोती रही और मेरा बेटा चल दिया! अब राहुल पर मैं स्वयं पहरा दूँगी।

मेरी तकदीर बुरी है, बहुत बुरी! न जाने राहुल भी कहीं भाग जाय! और, यथार्थ बात यह है शास्ता, कि वह रात भर सोती ही कहाँ हैं? और, जरा-सा भी खटका हुआ कि बोल उठती हैं—'राहुल! यशोधरे, जगी तो हो बेटी?'

बुद्ध—रहने दो, रहने दो उदयी। कपिलवस्तु के दुख....।

उदय—यदि दुख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा के, धर्म के मध्यम मार्ग के उपदेश की कहीं आवश्यकता है, तो कपिलवस्तु में ही तथागत? बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु पर विजय प्राप्त करनेवाले जिस अष्टांगिक मार्ग का आपने पता लगाया है, उसके सबसे उपयुक्त पात्र कपिलवस्तु के नर-नारी हैं, सारा शाक्यकुल है। अपने होने के अपराध में उन-लोगों को अधिक दिनों तक अपनी ज्ञान-धारा से वंचित न रखिये, तथागत!

बुद्ध—मैं कुछ दिनों से सोच रहा था उदयी, कि मुझे कपिलवस्तु जाना चाहिये। बार-बार मै कानों में एक पुकार सुनता रहा, हृदय में एक आकर्षण अनुभव करता रहा; किन्तु......

उदय—किन्तु अब अधिक विलम्ब नहीं तथागत! देखिये, वसन्त का यह कैसा सुहावना समय है! खेतों में तरह-तरह के दलहन और तेलहन फूल रहे हैं; बगीचे में बौरों और भौंरों की भरमार है; पथ में धूल नहीं, धूप नहीं; नदियाँ सिमट कर यात्रियों को अनायास रास्ता दे देती हैं। चला जाय, तथागत, देखिये, वह उत्तर दिशा देखिय! और सुनिये—कपिलवस्तु अपने सिद्धार्थ कुमार को, संसार के तथागत को किस आर्तवाणी में पुकार रही है।

बुद्ध—तथास्तु! उदयी, भिक्षुओं से कहो, वे कपिलवस्तु चलन की तैयारी करें।

५

[प्रत्यावर्तन :: कपिलवस्तु में यशोधरा का कक्ष]

यशोधरा—तब क्या हुआ परिचारके?

परिचारिका—ज्यों ही कपिलवस्तु के लोगों को मालूम हुआ कि कुमार आ रहे हैं; सारी नगरी उमड़ पड़ी। आगे-आगे बच्चे थे,

उनके पीछे युवक-युवतियाँ, सबके पीछे वृद्धों की मंडली। सब-के-सब पैदल थे। सबके हाथों में स्वागतार्थ पुष्प-माला या रोली-आरती। सबके मुँह से स्वागत का जयनाद निकल रहा था कि लोगों ने देखा बीस सहस्र भिक्षुओं के साथ कुमार आ रहे हैं।

यशोधरा—बीस सहस्र भिक्षुओं के साथ!

परिचारिका—हाँ, छोटी रानीजी, बीस सहस्र भिक्षुओं के साथ! उन बीस सहस्र भिक्षुओं के आगे कुमार थे। वे ऐसे दिप रहे थे, जैसे तारों के बीच चन्द्रमा। न वह तेजी से चल रहे थे, न धीमे—मद्धिम गति से उनके पैर उठ रहे थे। उनकी आँखें सिर्फ जूये भर आगे देखती थीं—अगल-बगल भी उनकी दृष्टि नहीं जाती थी। चेहरे पर एक अजीब तेजपुंज—सौम्यता। समूचे शरीर से एक आभा-सी फूट रही थी!

यशोधरा—उन्होंने तपस्या भी तो ऐसी ही की है, परिचारिके! फिर क्या हुआ?

परिचारिका—पुरवासियों ने उनका आगत-स्वागत किया, फिर राजधानी की सर्वश्रेष्ठ वाटिका में ले जाकर उन्हें टिकाया। बीस सहस्र भिक्षुओं की मंत्र-ध्वनि से वह वाटिका ध्वनित-प्रतिध्वनित हुई!

(नेपथ्य में मंत्रध्वनि का स्वर सुनाई पड़ रहा है)

यशोधरा—अब भी वह मंत्र-ध्वनि सुनाई पड़ रही है, परिचारिके!

परिचारिका—ऐं! हाँ, यह तो मंत्रध्वनि ही है—इतनी निकट? तो क्या भिक्षुवृन्द नगर में आ रहे हैं?

यशोधरा—तू देख तो आ कि यह क्या है?

(परिचारिका जाती है)

यशोधरा—हाँ, हाँ, यह मंत्रध्वनि ही तो है! तो क्या वह नगर में आ रहे हैं? क्या वह यहाँ भी आवेंगे? आना ही पड़ेगा उन्हें! क्यों नहीं आवेंगे वह? हृदय, हृदय! तू शंकाशील मत बन! मस्तिष्क, मस्तिष्क! तू भूलभूलैया में मत डाल। वह आवेंगे! अवश्य आवेंगे! अरे, मंत्रध्वनि तो अब बिल्कुल निकट होती आ रही है! क्या! वह आ रहे हैं! आ रहे हैं!

(दौड़ता हुआ राहुल आ रहा है)

राहुल—माँ, माँ, वे लोग आ रहे हैं! ओह, माँ, कितनी बड़ी भीड़ है; कैसे लग रहे हैं वे! तू क्यों नहीं देखती माँ! प्रकोष्ठ पर चल न!

यशोधरा—नहीं, नहीं! अधीर मत बन बेटा! तू यहीं रह, यहीं रह! यहीं आवेंगे, वे यहीं आ रहे हैं!

राहुल—यहीं आवेंगे? तो दादाजी क्यों उस ओर दौड़े हुए जा रहे थे, माँ?

यशोधरा—तुम्हारे दादाजी जा रहे थे?

(परिचारिका का प्रवेश)

परिचारिका—हाँ, छोटी रानी! महाराज भी वहाँ जा पहुँचे हैं! आह!

यशोधरा—इतनी व्याकुल मत बन परिचारिके! बता, क्या देख आई?

परिचारिका—उफ! सारे नगर में शोक का समुद्र उमड़ रहा है, छोटी रानी! कुमार अपनी भिक्षु-मंडली को लेकर नगर में भिक्षाटन के लिए प्रवेश कर रहे हैं! राजपथ पर अपार भीड़ है। अट्टालिकाओं पर नर-मुंड ही नर-मुंड। झरोखों से कुल-कामिनियाँ झाँक रही हैं। द्वारों पर मातायें सर्वोत्तम भिक्षा लिये खड़ी हैं। सबकी आँखों में आँसू! उन आँसूओं के समुद्र में ज्वार तब आया....... ओह!

यशोधरा—बोल, परिचारिके, बोल! हाँ, उन आँसुओं के समुद्र में ज्वार तब आया......

परिचारिका—उन आँसूओं के समुद्र में ज्वार तब आया छोटी-रानी, जब लोगों ने देखा, महाराज पाँव-पयादे, धोती का छोर सम्हालते, दौड़ते हुए आ रहे हैं। वह दौड़ते हुए कुमार के सामने जा खड़े हुए और बोले—'बेटा, बेटा, यह क्या कर रहे हो?' सुनकर कुमार मुस्कुरा पड़े और अपने भिक्षापात्र को आगे बढ़ाते हुए कहा—'अपने कुल का धर्म निबाह रहा हूँ, महाराज!'

यशोधरा—कुल का धर्म?

परिचारिका—हाँ, कुमार ने यही कहा। सुनकर महाराज बोले—'शाक्यकुल का धर्म भिक्षाटन करना नहीं है।' तुरत कुमार का चेहरा

गम्भीर हो गया और वह बोले—'महाराज, यह आपके सामने जो खड़ा है, वह शाक्यकुल का सिद्धार्थ नहीं है; यह तो बुद्धकुल का तथागत है!'

यशोधरा—शाक्यकुल का नहीं,.... बुद्धकुल का तथागत!

परिचारिका—हाँ, कुमार ने यही कहा। सुनते ही महाराज की आँखों से एकबारगी आँसू झरने लगे। महाराज फूट-फूट कर रोने लगे; सारे लोग रोने लगे। द्वारों पर मातायें रोने लगीं; छज्जों पर गृह-देवियाँ रोने लगीं। किन्तु महाराज को जैसे तुरत भान हुआ, यह क्या कर बैठे वह! वह सम्हल कर बोले—'तो पहली भिक्षा मेरे ही द्वार पर ग्रहण करें तथागत!' और, छोटी रानी, कुमार अपनी मंडली के साथ यहीं आ रहे हैं!

(प्रजावती का प्रवेश)

प्रजावती—बेटी, बेटी, सिद्धार्थ द्वार पर खड़ा है बेटी और तू यहाँ बैठी है? चल बेटी, उसकी अगवानी कर। इस भीड़-भाड़ में भी उसकी आँखें जैसे तुम्हें ही खोज रही हैं, बेटी।

यशोधरा—खोज रही हैं, तो खोज ही लेंगी माताजी।

प्रजावती—हाँ, खोज लेंगी; पर अगवानी करना तो तुम्हारा धर्म है, यशोधरे।

यशोधरा—माताजी, क्षमा करें—मैंने उनको नही छोड़ा था; उन्होंने मुझे छोड़ा था! और अब यह उनका धर्म है कि......

प्रजावती—मान मत कर बेटी, मान मत कर। आधे युग के बाद मेरा बेटा लौटा है।

यशोधरा—आप घबरायें नहीं माताजी, अगर मेरा प्रेम सच्चा है, अगर मेरी साधना सच्ची है, तो उन्हें मेरे पास आना ही पड़ेगा, माताजी। वह सोई को छोड़ सकते थे, जगी उन्हें.......

(बुद्ध का प्रवेश)

बुद्ध—मैं आ गया भद्रे!

यशोधरा—आ गये! आह! (चरणों पर गिर पड़ती है)

बुद्ध—उठो भद्रे! (उठाते हैं)

यशोधरा—नाथ !

बुद्ध—कल्याण हो भद्रे ! तुम्हारा हठ रहा न ? अब विदा दो !

यशोधरा—इस बार आप अकेले न जा सकेंगे, नाथ !

बुद्ध—अभी कपिलवस्तु में कुछ दिन रहूँगा, भद्रे ! इस समय तो चला। (मुँड़कर चलते हैं)

राहुल—माँ, माँ !

यशोधरा—ओह, तू कहाँ था बेटा? देख, तेरे पिताजी वह आँगन में जा रहे हैं, उनसे अपनी पैतृक सम्पत्ति माँग !

राहुल—(बुद्ध के निकट दौड़कर जाता है) भन्ते, आपकी छाया बड़ी सुखद है !

बुद्ध—क्यों, पैतृक सम्पत्ति चाहिये तुम्हें ?

राहुल—माँ ने आज्ञा दी है !

बुद्ध—तो सारिपुत्र, राहुल को प्रवज्जित करो !

प्रजावती—बेटे, बेटे, यह क्या कर रहे हो बेटे ! राहुल राहुल ! ओ मेरे मुन्ना ! तुम्हारे बिना कैसे जीऊँगी—कैसे जीऊँगी रे ! हाय ! आह ! (फूट कर रोने लगती है)

यशोधरा—माताजी, किसी बच्चे को उसकी पैतृक सम्पत्ति से वंचित करना उचित नहीं। राहुल जा, प्रवज्जा ले !

६

[शुद्धोदन का मनस्ताप :: कपिलवस्तु का राजप्रासाद]

शुद्धोदन—(अकेले घूमते और कहते जाते हैं) सब चले गये, सभी चले गये। जब एक गया, तो दूसरे, तीसरे को देखकर जीता रहा ! अब सब जा रहे हैं ! नन्द ! तुम्हें भी यह क्या सूझा बेटे। विलास में जो डूबा था; सुन्दरियों से जो चिपका था; बेटा, यह क्या जादू हुआ, कि तुम भिक्षु बन गये। नन्द और भिक्षु !

(भीतर से संवेत स्वर—'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय')

हाँ, बहुतों के हित के लिए, बहुतों के सुख के लिए, नन्द भी भिक्षु बन गया। वह भी चला। अच्छा। तुम दोनों भाई गये—सिद्धार्थ

गया, नन्द गया। किन्तु, यह कहाँ का न्याय था बेटे, कि राहुल को भी लेते गये। राहुल! मेरे जीवन का एक मात्र सहारा। उसके बिना क्या मैं जी सकूँगा? तुम बहुतों के हित की, बहुतों के सुख की बात कहते हो, तो क्या उन बहुतों में मैं भी एक नहीं हूँ? फिर मुझे क्यों दुख में रखे जा रहे हो। ओह!

(प्रजावती का प्रवेश)

प्रजावती—महाराज, यह विलाप शाक्यकुल के अनुरूप नहीं!

शुद्धोदन—ओह, प्रजावती, प्रजावती; सब चले गये प्रजावती, सभी चले गये! सिद्धार्थ गया, नन्द गया, राहुल गया। उदयी गया, आनन्द गया, अनिरुद्ध गया! शाक्यकुल में एक भी प्रतिभावान नहीं बच रहा, प्रजावती! सब चले गये, सभी चले गये! उपाली नाई तक गया। उपाली; उपाली! तुम्हारा भी एक भाग्य था भाई! सुना, सबसे पहले तुम्हें ही भिक्षु बनाया गया, जिसमें शाक्य-कुल के सभी राजकुमार तुम्हें ही प्रणाम किया करें! सिद्धार्थ, कैसी समता की धारा बहा दी है तुमने? क्षत्रियकुमार नाई को प्रणाम किया करें। प्रजे, प्रजे! एक नई धारा बह गई है प्रजे। वह धारा किसी के पैर को स्थिर नहीं रहने देगी, सबको भसा ले जायगी, बहा ले जायगी!

प्रजावती—देख रही हूँ महाराज, देख रही हूँ!

(भीतर से फिर संवेत स्वर—'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय')

शुद्धोदन—हाँ हाँ, बहुजन हिताय! बहुजन सुखाय! बहुतों के हित के लिए, बहुतों के सुख के लिए, दो दो बेटे गये, पोता गया, परि-जन गये, पुरजन गये! सब गये, सभी गये, सारा शाक्यकुल जा रहा है—जाओ, जाओ!

(यशोधरा का प्रवेश)

यशोधरा—पिताजी, आज्ञा......

शुद्धोदन—आज्ञा! ओहो, तो तुम भी चलीं! बेटे गये, पोता गया, अब पतोहू भी चलीं! बहुतों के सुख के लिए, बहुतों के हित के लिए! तो प्रजावती, तुम भी क्यों नहीं जाती? जाओ भाई, जाओ, तुम सब चले जाओ! जाओ, सारे राज-भवन को सूना कर दो, सारी कपिलवस्तु को सूना कर दो! सभी जाओ, एक-एक स्त्री पुरुष जाओ! बहुतों के सुख के लिए, बहुतों के हित के लिए!

(संवेत स्वर—'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय')

हाँ, उच्च स्वर से गाओ, ऐसे स्वर से कि संसार में कोई दूसरा स्वर नहीं सुनाई पड़े! इतने उच्च स्वर से कि संसार का सारा विलाप-प्रलाप इसमें ढँक जाय—सारा हाहाकार और आर्त्तनाद ढँप जाय! (प्रजावती और यशोधरा की ओर ध्यान देकर) तो तुम दोनो यहाँ खड़ी क्यों हो—जाओ, जाओ! प्रजावती, तुम भी आज्ञा माँग रही हो, प्रजावती! तुम्हारा मुँह नहीं खुल रहा; किन्तु तुम्हारी आँखें आज्ञा माँग रही हैं प्रजे! हाँ, हाँ, बाप अपने बेटे को भले ही छोड़ दे, सास अपनी पतोहू को क्यों छोड़े? जाओ, तुम दोनो भी जाओ—आह! आज माया न हुई; नहीं तो वह भी जाती.......

प्रजावती—महाराज, महाराज, ऐसा अधीर......

शुद्धोदन—अधीर और मैं न होऊँ? दो-दो बेटे गये, पोता गया, परिजन गये, पुरजन गये, पत्नी चली, पतोहू चली, और मैं अधीर न होऊँ? ओह! लेकिन तुमलोग यहाँ क्यों खड़ी हो? जाओ, जाओ...

(दोनो चरण छूकर जाती हैं)

चले गये, सब चले गये! बहुतों के हित के लिए, बहुतों के सुख के लिए! किन्तु शुद्धोदन, तुम यहाँ क्यों हो? किनके लिए, किसके लिए! उत्तर क्यों नहीं देते शुद्धोदन, उत्तर क्यों नहीं देते शुद्धोदन? शुद्धोदन!

[प्रमत्त-सी चेष्टाः यवनिका पतन]

विरोध और विजय

१

[देवदत्त का विरोध :: राजगृह का एक अंचल]

आनन्द—तुम यहाँ कैसे देवदत्त! तथागत के धर्ममार्ग ने आखिर तुम्हें भी खींच ही लिया?

देवदत्त—तथागत! तथागत! ये ढोंग की बातें राजगृह के भोलेभाले निवासियों के लिए रहने दो, आनन्द! जिसने अपने कुल-धर्म को डुबोया, जिसने कुल को डुबोया, उसका नीच मार्ग तुम ऐसे नीचों को ही खींच सकेगा!

आनन्द—देवदत्त, देवदत्त! इस तरह की बातें जिह्वा पर मत लाओ! मानता हूँ, तथागत जब सिद्धार्थकुमार थे, तभी से तुम उनसे प्रतिस्पर्द्धा करते रहे, जलते रहे, किन्तु ईर्ष्या की भी एक सीमा होती है देवदत्त! अब तथागत जहाँ पहुँच गये हैं......

देवदत्त—वहाँ से उसे नीचे ढकेलूँगा, उसे रसातल भेजूँगा। ढोंग, ढोंग! इस ढोंग ने देश का काफी सर्वनाश किया, अब इसे रोकना ही है आनन्द!

आनन्द—सर्वनाश किया! कैसी झूठी बातें कर रहे हो, देवदत्त! तथागत की इस मध्यम प्रतिपदा ने देश में जीवन की एक नई लहर दौड़ा दी है! चारो ओर हृदय-मंथन हो रहा है, क्षुद्र कुटीरों से

लेकर अट्टालिकाओं तक में जीवन के प्रति लोगों में एक नये प्रकार की धारणा जग रही है। बहुत लोगों के हित के लिए, बहुत लोगों के सुख के लिए, लोक-कल्याण के लिए, देवताओं की प्रसन्नता के लिए, देश के नवयुवक सुख-ऐश्वर्य पर, औज-मौज पर लात मार रहे हैं। ऐसा दृश्य इस आर्यभूमि में कभी देखा गया था देवदत्त?

देवदत्त—हिस्... क्या बके जा रहे हो? तुम देखते नहीं; इसने ऐसी सनक देश में चला दी है कि सारे देश में कोहराम मच रहा है। माताओं की गोद से यह बच्चों को खींच रहा है, पत्नियों की सुहाग-शय्या से यह पतियों को खींच रहा है— बहनें भाइयों के नाम पर रो रही हैं, बाप बेटे के लिए उसाँसे भर रहे हैं। जहाँ देखो, वहीं माताओं, पत्नियों, बहनों के चीत्कार, हाहाकार! नहीं नहीं, इस अनर्थ को रोकना होगा, इस सनक को रोकना होगा! तथागत, तथागत! दम्भ में इस तरह बातें करता है कि जैसे ईश्वर का अवतार ही हो। इस दम्भ को धूल में न मिला दूँ, तो मैं शाक्यकुल......

आनन्द—शाक्यकुल की शपथ मत खाओ, देवदत्त! जो करना हो करो। उस कुल का नाम लेकर उसे अपवित्र करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं, जिसने संसार को इतना बड़ा महात्मा दिया! तुम न होगे, हम न होंगे, किन्तु तथागत....

देवदत्त—फिर तथागत! जाओ आनन्द, अपने तथागत से कह दो—देवदत्त राजगृह में आया है, वह सावधान रहे। जिस सम्राट् विम्बसार के बल पर वह अपनी धौस संसार पर जमा रहा है, वह विम्बसार भी अपनी खैर मनावे! (गुस्से में) सिद्धार्थ, सम्हलो; विम्बसार, सम्हलो!

आनन्द—मार भी जिसका कुछ न बिगाड़ सका, उसका तुम क्या कर लोगे देवदत्त?

देवदत्त—मार न बिगाड़ सका, क्योंकि वह कल्पना का देवता है! देवदत्त ठोस मानव है। फिर मार ने क्या किया और क्या नहीं, इसका कोई प्रमाण है? किन्तु देवदत्त जो करेगा, उसे संसार देख लेगा संसार! जाओ, सिद्धार्थ से कहो—सम्हले! जाओ, विम्बसार से कहो, सम्हले! अब विम्बसार की जगह अजातशत्रु राज करेगा, और तथागत की जगह देवदत्त......

आनन्द—ओहो! ऐसी महत्त्वाकांक्षा! जाता हूँ देवदत्त, जाता हूँ! तुमसे बहस करके कौन समय बर्बाद करे। अर्हत तुम्हें सुबुद्धि दें!

२

[षड्यंत्र :: गृध्रकूट का प्रान्तर]

(नेपथ्य में चट्टान टूटकर गिरने की आवाज)

उदय—आनन्द, आनन्द! यह कैसी ध्वनि है आनन्द!

आनन्द—अरे, शायद चट्टान टूटकर गिर रही है! चट्टान! चट्टान!

(आवाज नजदीक आती है)

उदय—बचो, बचो, आनन्द!

आनन्द—हटो, हटो, भिक्षुओ!

उदय—आनन्द, आनन्द, तथागत कहाँ हैं आनन्द?

आनन्द—तथागत! तथागत तो वहाँ एक शिला-पट पर बैठकर ध्यान कर रहे थे! अहो, यह चट्टान तो उसी तरफ लुढ़कती मालूम पड़ती है!

उदय—(चिल्लाता है) तथागत!

आनन्द—(उदय के स्वर में स्वर मिलाकर) तथागत!

(नेपथ्य से आवाज आती है—'तथागत!' तथागत!' फिर जोरों का अट्टहास सुनाई पड़ता है)

उदय—ओह! यह तो देवदत्त का स्वर मालूम होता है!

आनन्द—हाँ, हाँ! यह देवदत्त का स्वर है! यह उसीका षड्यंत्र मालूम होता है, उदयी! ओह, तथागत को बचाओ।

(दोनों नेपथ्य में जाते हैं! भीतर से जोरों की आवाज, बाहर गर्द-गुबार! फिर शान्ति! उदय और आनन्द आते हैं!)

आनन्द—कैसी विचित्र लीला उदयी! उफ, हम देख रहे थे, चट्टान सीधे तथागत के सिर पर लुढ़कती आ रही थी, लुढ़की आ रही थी कि अचानक वह दो टुकड़े होकर दोनों तरफ बिखर गई!

उदय—और, तथागत उसी प्रकार ध्यानस्थ बैठे रहे! सम्यक् समाधि का कैसा ज्वलन्त उदाहरण! तथागत सचमुच अवतार हैं आनन्द! चट्टान भी उनपर फूल बनकर गिरती है—अहा!

आनन्द—एक दिन तो मैंने इससे भी एक आश्चर्यजनक दृश्य देखा था, किन्तु किसीसे कहा नहीं। क्योंकि कहीं लोग अलौकिकता के पीछे उनके लौकिक सन्देश को न भूल जायँ!

उदय—क्या देखा था आनन्द?

आनन्द—मालूम होता है, देवदत्त ने तथागत के विरुद्ध षड्यंत्र का एक जाल-सा बिछा रखा है। और इस षड्यंत्र में राजपुरुष, श्रेष्ठिवर्ग और पुरोहित विशेषरूप में भाग ले रहे हैं। वे तथागत और सम्राट विम्बसार के प्राण के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं!

उदय—अरे-अरे!

आनन्द—उस दिन श्रीगुप्त सेठ की पत्नी आई थी न तथागत को निमंत्रण देने?

उदय—हाँ-हाँ-! तुम ही तो तथागत के साथ गये थे।

आनन्द—जब श्रीगुप्त को मालूम हुआ कि उनकी धर्मानुगामिनी पत्नी ने तथागत को निमंत्रित किया है, तब वह आगबबूला हो उठा—ओहो, यह बीमारी मेरे घर में भी घुस गई! अच्छा, तो मैं इस बीमारी के मूल को ही आज समाप्त कर देता हूँ, ऐसा निश्चय कर......

उदय—उसने तथागत की जान लेने की साजिश की! क्यों? तो क्या हुआ आनन्द?

आनन्द—श्रीगुप्त ने एक गर्हित षड्यंत्र किया था। जिस पथ से तथागत को जाना था, उसके बीच उसने एक खाई खुदवाई थी और उसमें जलते हुए कोयले रखवा कर ऊपर इस तरह राह बनवा दी थी कि नीचे का रहस्य मालूम न हो। मेरे मन में श्रीगुप्त के प्रति कुछ खटका था, मैंने निवेदन किया कि श्रीगुप्त नीचातिनीच कार्य कर सकता है, आप उसके घर न जायँ। किन्तु तथागत ने कहा—भिक्षु निमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सकता!

उदय—आह, कैसी महानता!

आनन्द—तो भगवान उस ओर चले। उस खाई पर पहुँचे, निकट जाते ही भाँप गये, मुस्कुरा पड़े और कहा—आनन्द, तुम यहीं ठहर जाओ, मुझे कुछ दूर निकल जाने दो। मैं खड़ा हो गया। भगवान आगे बढ़े, बढ़ते गये। अब वह खाई के उस पार थे और लो, यह क्या? जहाँ खाई थी, जिसमें दहकते कोयले थे, वहाँ एक सरोवर हो गया और

उसमें कमल के फूल खिल आये, जिनपर भौंरे गुंजार करने लगे। भगवान ने हँसकर मुझसे कहा— देखो आनन्द, यह 'मंजु-गुंज-भृंग-सरोजिनी!'

उदय—तथागत अलौकिक व्यक्ति हैं आनन्द! किन्तु, कितना आश्चर्य, ज्यों ही अलौकिकता की चर्चा कीजिये, कह उठते हैं—'आँखें हमें धोखा देती हैं, इन्द्रियाँ हमें धोखा देती हैं, फिर जो ये बतावें, वे ही सदा सत्य कैसे होंगे भिक्षुओ!

आनन्द—उनकी अलौकिकता का यह भी एक प्रमाण है, उदयी! हम धन्य हैं कि उनके साहचर्य का सुअवसर हमें प्राप्त हो सका।

(समय के व्यवधान की सूचना के लिए कुछ देर रंगमंच की रोशनी धीमी पड़ जाती है; फिर नेपथ्य में कोलाहल सुनाई पड़ता है—'भागो-भागो, मतवाला हाथी आ रहा है, मतवाला हाथी, भागो, भागो'। रह-रहकर हाथी का चिग्घाड़ भी सुनाई पड़ता है। फिर रंगमंच पर भगवान बुद्ध और आनन्द दिखाई पड़ते है।)

आनन्द—तथागत, तथागत! मतवाला हाथी!

बुद्ध—(कुछ नहीं बोलते, मंद गति से बढ़ते जा रहे हैं)

आनन्द—तथागत, तथागत! मतवाला हाथी!

बुद्ध—(फिर कुछ भी नहीं बोलकर बढ़ते जा रहे हैं)

आनन्द—तथागत, तथागत!

(कोलाहल और निकट—'भागो, भागो', के स्वर के बीच हाथी का चिग्घाड़ निकटतर)

बुद्ध—(फिर भी कुछ नहीं बोलते)

आनन्द—(करुण स्वर में बुद्ध के आगे जाकर) तथागत, तथागत! मतवाला हाथी, तथागत!

बुद्ध—आनन्द, मतवाला हाथी देखकर आदमी तो मतवाला न बने! (आगे बढ़ते हैं)

आनन्द—(रोते हुए) ओह, तथागत, तथागत—आह! आह!

(नेपथ्य के एक कोने से विद्रूप के स्वर में आवाज आती है—'ओह, तथागत, आह! आह! आह!' फिर अट्टहास होता है)

बुद्ध—(बढ़ते ही जाते हैं)

आनन्द—ओहो, षड्यंत्र, षड्यंत्र! तथागत, षड्यंत्र!

बुद्ध—शान्त, आनन्द, शान्त! हम अपने पथ को न छोड़ें, तो संसार को भी अपने पथ पर चलने को विवश होना पड़ेगा आनन्द! और षड्यंत्र! सत्य के प्रतिकूल कोई षड्यंत्र चल नहीं सकता है!

आनन्द—नहीं शास्ता, नहीं। ओह, ओह! वह निकट आ गया हाथी, वह आ गया; हाथी, हाथी! (नेपथ्य से हाथी का चिग्घाड़; फिर हाथी की सूँड़ रंगमंच पर दिखाई पड़ती है: लोगों के हाहाकार और चीत्कार के शब्द)

बुद्ध—गजराज, गजराज! (जैसे वह रुक गया हो : सूँड़ पर हाथ फेरते हुए) ओहो, तुम रुक क्यों गये गजराज? क्यों रुक गये? रुक क्यों गये और अब झुक क्यों रहे हो? तथागत का आसन तुम्हारे कंधे पर नहीं हो सकता गजराज! उसने तुम्हारी पीठ कब न छोड़ दी! दुनिया में अशान्ति इसलिए है गजराज कि कोई किसी के कंधे पर चढ़कर चलना चाहता है। सत्य के पथ पर अपने ही पैरों पर चलना होता है। तुम अपने रास्ते जाओ, तथागत अपने रास्ते! (सिर ऊपर करके) ओहो, तुम्हारी आँखों से आँसू का यह झरना चल रहा है! आदमी भी अपनी भूलों पर यों ही पश्चाताप करता! जाओ गजराज! (सूँड़ अदृश्य हो जाती है)।

आनन्द—तथागत की जय! तथागत की जय!
(नेपथ्य से 'तथागत की जय', 'तथागत की जय' की ध्वनि-प्रतिध्वनि)

बुद्ध—आनन्द, यह मेरा चमत्कार नहीं, सत्य का चमत्कार है—सत्य के मध्यम मार्ग का चमत्कार है! सत्य की जय कहो, सत्य के मध्यम मार्ग की जय कहो!

३

[मृत्यु पर विजय :: राजगृह का एक अंचल]

गौतमी—(रोती हुई) हाय, ऋषिवर, ओह, तथागत! मेरे बच्चे को बचाइये ऋषिवर, मेरे बच्चे को बचाओ तथागत! हाय, मेरा बच्चा, फूल-सा बच्चा, चाँद-सा बच्चा! बचाइये ऋषिवर, बचाओ तथागत! (पैरों पर गिर पड़ती है)

बुद्ध—गौतमी, अधीर मत बन गौमती! बात क्या है, क्यों तू इस तरह बिलख रही है!

गौतमी—मैं अभागी हूँ, ऋषिवर। उफ, कैसी अभागी! गरीब के घर जन्मी, धनी के घर ब्याही गई। गरीब की बेटी, धनी के घर! वहाँ मेरा अपमान होता रहा ऋषिवर! दिन-रात अपमान! तब यह बच्चा आया; गोद में यह हँसा कि मेरा भाग्य हँसने लगा! पूर्णचन्द्र-सा मेरा बेटा, पूर्णिमा की रात-सी मैं—सौभाग्य की चन्द्रिका से ओतप्रोत। किन्तु, हाय तथागत! यह क्या हुआ तथागत? हाय, हाय!

बुद्ध—क्या हुआ गौतमी? यह रोना, ऐसा रोना। रोना अनार्य है, गौतमी!

गौतमी—अनार्य? क्या कहा देव! रोना अनार्य? हाय, चाँद-सा बेटा चल बसे और माँ न रोये! हाँ-हाँ, चाँद-सा हँसता, उजाला फैलाता अभी वह घर से निकाला था, यह कहते कि तुम्हारी पूजा के लिए फूल लाने जा रहा हूँ माँ! मेरा फूल मेरी पूजा के लिए फूल लाने गया और उसे यह क्या हो गया? 'साँप साँप!' चिल्लाता हुआ मेरा बेटा आँगन में आ गिरा! अरे, यह क्या? उसके मुँह से झाग निकल रहा, उसका शरीर पीला पड़ रहा—फिर नाक से रक्त! मैं उसे गोद में समेटे थी कि लोगों ने कहा—गौतमी, तू अभागी है, छोड़ दे इसे, यह चल बसा! देव, देव, मेरे बच्चे को बचाइये देव, इसे जिलाइये देव! मैं आपका पैर छोड़ नहीं सकती, आपका पिंड छोड़ नहीं सकती! मेरा बच्चा, फूल-सा बच्चा!

बुद्ध—ओहो, तो केवल इसी के लिए इतना रुदन! तुम्हारा बच्चा अभी जी उठेगा गौतमी, अभी!

गौतमी—जी उठेगा? देव! देव! नाथ! नाथ!

बुद्ध—हाँ-हाँ, अभी जो उठेगा। लेकिन एक काम करना है तुम्हें। तुम जाओ और एक मुट्ठी पीली सरसों उस घर से माँग लाओ, जिस घर में कभी कोई मरा न हो। सरसों आई और छूमंतर हुआ! हाँ, उस घर से, जिसमें कोई मरा नहीं हो!

गौतमी—जो आज्ञा देव, जो आज्ञा नाथ! मैं अभी चली, मैं अभी गई! (जाती है)

[रंगमंच की रोशनी थोड़ी देर के लिए मंद पड़ जाती है]

बुद्ध—(रोती आती हुई गौतमी को देखते हुए) क्यों गौतमी! क्या बात है? सरसों मिली न? लाओ सरसों, अभी तेरा बेटा जी उठता है! अभी!

गौतमी—(उसाँसे लेती हुई, हिचकियों में) न मिली, देव, न मिली! जिस-जिस घर में गई, सबने अपनी ही विपता सुनाई,—किसी का बेटा मर चुका था, किसी का पति; किसी का भाई, तो किसी का देवर! किसी के घर आज ही मरा था, किसी के कल; किसी के परसों, किसी के तरसों! परसों, तरसों, नरसों—लेकिन एक भी घर नहीं मिला, जहाँ से मुझे सरसों मिल पाती! हाय, मेरा बच्चा!

बुद्ध—और तू इसके बाद भी रो रही है, गौतमी! दुनिया में ऐसा कोई नहीं है, जो मर नहीं जायगा। दुनिया में ऐसा कोई घर नहीं, जिसमें कोई मर न चुका हो। मृत्यु आर्य सत्य है, गौतमी! सबको मरना है, सबको जाना है। फिर रोना क्यों, धोना क्यों? कोई आज गया, कोई कल जायगा! जाना आवश्यक है— मृत्यु अनिवार्य है! हाँ, आदमी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है, अमरता प्राप्त कर सकता है। उस अमरता का मार्ग ही सत्य का मार्ग है गौतमी! रोना धोना छोड़ो, सत्य का मार्ग ग्रहण करो! सत्य का मध्यम मार्ग!

गौतमी—धन्य हो तथागत, धन्य! मृत्यु और अमरता का व्यावहारिक ज्ञान देकर आपने आज मेरी आँखें खोल दीं—संसार की आँखें भी इसी तरह खुलें!

४

[फिर षड्यंत्र :: श्रावस्ती का पूर्वाराम]

आनन्द—तथागत ने एक बार कहा था—'रमणीयं आनन्द राजगृहं; रमणीयं गृद्धकूटो पर्वतो!' वही तथागत श्रावस्ती में इस तरह रम गये हैं कि मालूम होता है, उनका यह स्थायी आवास हो चला है, उदयी!

उदय—ठीक कह रहे हैं आनन्द, आप। जहाँ राजगृह में पाँच वर्षावास किया, वहाँ श्रावस्ती में पच्चीस वर्षावास करते हो गये।

अनाथ पिंडक धन्य है और धन्य है उसके द्वारा संघ को प्रदत्त जेत-वन! कहा जाता है, इस बिहार की भूमि पर सोने की मुद्रायें बिछाकर अनाथ पिंडक ने राजकुमार जेत से क्रय किया था। उसकी वे स्वर्ण-मुद्रायें धन्य हुई!

आनन्द—और, जो कसर थी, उसे पूरा कर दिया मृगार-माता विशाखा ने। अपने नौ करोड़ के आभूषणों को बेचकर उसीसे उसने यह पूर्वाराम क्या बनाया, तथागत को सदा के लिए भक्ति-सूत्र में बाँध लिया!

उदय—अंग देश की यह कन्या उरुवेला की सुजाता की ही तरह इतिहास में अमरता प्राप्त करेगी, आनन्द!

(रुनझुन की ध्वनि)

उदय—इस कुबेला में यह कौन नागरिका आ रही है, आनन्द!

आनन्द—माणविका है, चेंचा माणविका! यह सदा कुसमय आती है और कुसमय लौटती है! इसके नित्य नये शृंगार! यह चकमक, यह रुनझुन! मुझे इसका चलन अच्छा नहीं दिखाई पड़ता है उदयी!

उदय—तो तथागत से क्यों नहीं कह देते, कि इसे संघ में प्रवेश न करने दें!

आनन्द—इतने दिनों तक साथ रहने पर भी तथागत को तुम नहीं समझ सके, उदयी! लोगों की नजरों में जो जितना अधिक पतित, तथागत का वह उतना ही अधिक प्यारा! पतितों पर प्रयोग करने में उन्हें वही आनन्द आता है जो मणिधर नागों से खिलवाड़ करन में सँपेरे को! किन्तु, सँपेरे को तो कुछ भय भी होता है; पर जिसने मार पर विजय प्राप्त कर ली, उसके लिए भय कहाँ?

उदय—शायद यहाँ भी देवदत्त की आत्मा काम कर रही हो, इसलिए हमें सचेत रहना चाहिये, आनन्द!

आनन्द—शायद की क्या बात? काम कर रही है, उदयी! मैं देख रहा हूँ, कुछ दिनों से अनाथ पिंडक को लेकर, महाराज प्रसेनजित को लेकर और खासकर विशाखा को लेकर तरह-तरह की बातें उड़ाई जा रही हैं! तरह-तरह के षड्यंत्र की भनक भी लगी है मुझे! मुझे तो ऐसा लगता है, माणविका भी उसी षड्यंत्र का एक पुर्जा न हो। सुना है, वह कुछ बहकी-बहकी बातें भी किया करती है..........

उदय—क्या कहती है?

आनन्द—उसे जिह्वा पर लाना भी पाप होगा उदयी!

उदय—ओह!

५

[सत्य की विजय :: पूर्वाराम का सभामंच]

माणविका—(नेपथ्य के भीतर) मुझे क्यों रोकते हो; भिक्षु; मुझे जाने दो, जाने दो। मुझे भगवान से निवेदन करना है; मुझे जाने दो। जाने दो।

बुद्ध—कौन किसको रोक रहा है? धर्म का द्वार सबके लिए खुला है!

आनन्द—शास्ता, वह माणविका मालूम होती है। माणविका के लक्षण अच्छे नहीं हैं। वह अंट-संट बकती फिरती है। मैंने ही भिक्षुओं को कह दिया था कि भगवान के निकट मत आने दो।

बुद्ध—नहीं-नहीं, आनन्द यह अनुचित है, यह अनुचित! जिज्ञासुओं को रोकना ज्ञान-मन्दिर का द्वारा बन्द कर देना है। यह अपराध है—घोर अपराध! भिक्षुओ, उसे आने दो।

(गर्भिणी के रूप में माणविका आती है)

माणविका—अभी अभी आपका उपदेश सुन रही थी, तथागत! ओह, आपका उपदेश—कितना मधुर, कितना सुन्दर, कितना कोमल! किन्तु, (अपने फूले हुए पेट की ओर इंगित करती) कब तक मैं इसे छिपाऊँ, तथागत? अब तो नवाँ महीना आ गया! आपने जो आशीर्वाद दिया, वह पूर्णतः प्रतिफलित हो चुका! मैं इस फल को अब कहाँ रखूँ? न मुझे प्रसूति-गृह बताते हो, न इसके लिए कोई प्रबंध करते हो! तुम्हारे उपासकों में कोशलराज हैं, अनाथ पिंडक हैं, महा उपासिका विशाखा हैं। इनमें से किसी को बोल दीजिये न!

(श्रोताओं में हलचल; तरह-तरह की बातें—'महान अनर्थ', 'महान अनर्थ'! 'तथागत पर अभियोग', 'यह घृणित अभियोग' 'महान अनर्थ' 'महान अनर्थ!')

माणविका—हाँ, महान अनर्थ! तथागत पर अभियोग? मैं तो इसीलिए भागती रही; किन्तु तथागत, आप बोलते क्यों नहीं? क्यों मुझे कुबेला बुलाते रहे? क्यों असमय रोकते रहे! मैं तो इसीलिए भागती रही; लेकिन अब क्या करूँ? तथागत, तुम्हारा जादू-टोना मुझपर तो चला; किन्तु इसपर (पेट की ओर इंगित) कुछ काम न कर सका। अब तो यह बच्चा प्रसूति-गृह माँगता है! मैं कहाँ जाऊँ? आह! मैं कहाँ बैठकर इस अभागे का जन्म दूँ? ओह, ओह! (रुदन)

(श्रोतामंडली में कोलाहल बढ़ता जाता है—'ओहो, अनर्थ', 'महान अनर्थ! 'तथागत बोलते क्यो नहीं हैं?' 'राजा प्रसेनजित का सिर झुका जा रहा है?' 'अनाथ पिंडक और विशाखा की दशा तो...' किन्तु तथागत क्यों नहीं बोल रहे?')

बुद्ध—तथागत बोलेंगे, जिज्ञासुओ, तथागत बोलेंगे! सत्य को प्रकट होने में समय लगता ही है, जिज्ञासुओ! (मार्णविका से) क्या है बहन माणविका, क्या बात है? तू यह क्या बोल रही है? तेरे कहने की झुठाई-सचाई को या तो तू जानती है, या मैं जानता हूँ; बोल, बात क्या है?

माणविका—हाँ, महाश्रमण, या तो आप जानते हैं, या मैं जानती हूँ! चुपचाप किये का फल ऐसा होता ही है। आज आप मुझे बहन कहकर पुकार रहे हैं—आह, अपने प्रेम-सम्बोधनों को भी आप भूल गये! हाय.......

बुद्ध—हाय-हाय मतकर माणविके; इधर देख और बोल!

माणविका—ओह, ओह, मैं कहाँ फँस गई—मैं इसे क्या करूँ! (पेट पीटने लगती है)

(इसी समय बिजली कड़क उठती है, सारी सभा स्तब्ध हो जाती है; लोग देखते हैं, पेट पर काठ की जो हंडिका माणविका ने बाँध रखी थी, वह उसके पैरों पर गिर गई है और उसकी उँगलियों को काट डाला है। नागरिक लोग—'यह क्या माणविके!' 'लकड़ी की हाँड़ी बाँधकर तूने गर्भ बनाया था।' 'धिक्कार है तुझे कलमुँही'—'ओह तू तथागत पर, सम्यक्सम्बुद्ध पर दोष लगा रही!' आदि बोलते हैं)

बुद्ध—बोल बहिन, बोल! यह क्या हुआ? भंडा फूट गया!

माणविका—(पैरों पर गिरती हुई) क्षमा करें तथागत, क्षमा करें! हमें दुष्टों ने बरगला दिया था! ओह! मैं दुनिया में कौन-सा

मुँह दिखाऊँगी! पृथ्वी, तू मेरे लिए क्यों नहीं फटती! क्षमा, प्रभो, क्षमा! (पैरों पर गिरती है)

बुद्ध—तथागत के धर्ममार्ग में ही क्षमा है, माणविके! नागरिको, असत्य का भंडा यों ही फूटता है! आप घबरायें नहीं—सत्य के मार्ग पर यों ही अड़ंगे आते हैं। हम सम्यक् दृष्टि रखें, सम्यक् संकल्प रखें, सम्यक् वचन बोलें, सम्यक् कर्म करें, हमारी जीविका सम्यक् हो, हमारे प्रयत्न सम्यक् हों, फिर सम्यक् स्मृति प्राप्त कर हम सम्यक् समाधि प्राप्त करेंगे ही! यही धर्म का मार्ग है—सत्य का मध्यम मार्ग है! सदा सत्य की विजय होती है।

६

[अजातशत्रु का पश्चाताप :: राजगृह का राज्यप्रसाद]

अजातशत्रु—(घुटने टेकते हुए) मुझे क्षमा करें तथागत, क्षमा करें। आह, मैं देवदत्त के बहकावे में आ गया था। उफ, उसने मुझसे कौन-कौन से कुकर्म न करवाये! वह आप तो डूबा ही.......

बुद्ध—डूबा ही......देवदत्त को क्या हुआ सम्राट्?

अजातशत्रु—वही, जो सत्यपथ के विरोधी का होता है। राजगृह में, श्रावस्ती में, तरह-तरह के षड्यंत्र रचकर भी जब वह सफल नहीं हुआ, तो उसने आत्महत्या कर ली तथागत!

बुद्ध—आत्महत्या कर ली? देवदत्त ने आत्महत्या कर ली?

अजातशत्रु—हाँ, हमने देखा, एक दिन एक शिला पर उसकी लाश पड़ी है। उसका सिर फट गया था। बगल में ही दो बड़े बड़े प्रस्तरखंड थे। मालूम होता था, दोनों हाथों से एक बारगी ही अपने मस्तक पर पत्थर मार लिये थे उसने! चारो ओर रक्त-रक्त हो गया था। लगता था, थोड़ी देर तक वह खूब तड़पता रहा था—शिला पर उसके घिसटने के चिह्न थे।

बुद्ध—बहकी हुई आत्मा की यही गत होती है, मगधपति!

अजातशत्रु—आप तो बहका ही, मुझे भी बहका छोड़ा—आह, मैं पितृहंता बना! मातृहंता बना!

बुद्ध—मगधपति मातृहंता, पितृहंता कहलायें, सचमुच यह महान शोक का विषय है। अहा, बिम्बसार ऐसे धर्मप्राण सम्राट् और बन्दीगृह में तड़प-तड़प कर प्राण दें!

अजातशत्रु—तथागत, उन दिनों की स्मृतियाँ बिच्छू-सी अन्तरतम में डंक मारती रहती हैं! मेरी पाप-वृत्ति, उनकी धर्म-भक्ति,—उफ! जब उन्हें कैद में रखा, उन्होंने कहा—'बेटा, ऐसी जगह ही कैद करो, जहाँ से मैं दिन-रात गृद्धकूट देखा करूँ!' आह! मैंने यह क्या किया! (फूटकर रोता है)

बुद्ध—यों रोना-धोना उचित नहीं है, मगधपति! पीछे के कर्मों का प्रायश्चित आगे के कर्मों से ही किया जा सकता है! तुम अब भी ऐसा कर सकते हो कि बिम्बसार द्वारा प्रतिष्ठित धर्म का बिरवा इस राजगृह में सदा के लिए फूलता-फलता रहे!

अजातशत्रु—अब इस राजगृह में मैं नहीं रह सकता भगवान! यहाँ के कण-कण मुझे काटते रहते हैं। यह राजप्रासाद, इसके कक्ष, इसके प्रकोष्ठ, ये राजपथ, ये अट्टालिकायें सब जैसे मेरा विद्रूप करते हैं। मैं सचमुच यहाँ नहीं रह सकता तथागत! आज्ञा दीजिये कि एक नया राजगृह बसाऊँ और उसी को केन्द्र बनाकर तथागत के सत्य-मार्ग का संसार में प्रचार कराऊँ।

बुद्ध—नया राजगृह! अच्छी बात, इस नवीन धर्म के केन्द्र रुप एक नवीन नगर ही बसे, मगधपति!

महापरिनिर्वाण

[सप्त अपरिहारणीय धर्म :: गृध्रकूट का शिखर]

बुद्ध—उत्तर ओर देखो, आनन्द! वर्षा के बाद आकाश इतना स्वच्छ हो गया है कि यहाँ से भी हिमालय की धुंधली छाया दिखाई पड़ती है! हिमालय की तराई! हाँ, कैसी स्निग्ध, सुन्दर! जिसकी गोद में वैशाली है, पावापुरी है, लुम्बिनी है, कपिलवस्तु है! चलो न आनन्द, फिर एक बार उत्तरापथ की ओर! आह, वैशाली को देखे तो कितने दिन हो गये!

आनन्द—वैशाली से तो आये दिन निमंत्रण आ रहा है तथागत! और, इस समय आपके उपदेशों की आवश्यकता भी शायद वैशाली को है!

बुद्ध—'इस समय' से तुम्हारा क्या आशय है आनन्द? क्या वैशाली में कोई विशेष परिस्थति उत्पन्न हुई है?

आनन्द—हुई नहीं; लेकिन होगी, तथागत!

बुद्ध—तुम्हारा आशय क्या है?

आनन्द—तथागत, वैशाली के सिर पर इस समय बादल मँड़रा रहे हैं! अभी थोड़ी देर हुई, मगधपति के प्रधान मंत्री वस्सकार आये

थे, भगवान से यह पूछने कि सम्राट् वैशाली पर चढ़ाई करना चाहते हैं, भगवान की क्या आज्ञा होती है!

बुद्ध—क्या कहा, वैशाली पर चढ़ाई! अरे, अब भी अजातशत्रु पर मार का प्रभुत्व है आनन्द! वैशाली का सुन्दर गणतंत्र, उत्कृष्ट गणतंत्र, गणतंत्रों में सर्वश्रेष्ठ गणतंत्र! क्या उसपर उसके विष के दाँत गड़े हैं! (उत्तेजना में) आनन्द, आनन्द!

आनन्द—तथागत, क्या आज्ञा है, तथागत?

बुद्ध—आनन्द, अजातशत्रु समझ नहीं रहा है कि वह क्या करने जा रहा है! वह वैशाली पर चढ़ाई करना चाहता है, उसपर विजय प्राप्त करने का हौसला रखता है! यह उसकी धृष्टता है, धृष्टता!

आनन्द—क्यों; ऐसा क्यों कहते हैं शास्ता!

बुद्ध—क्यों? क्या तुम भूल गये? अच्छा तो, बताओ आनन्द, तुमने सुना है न कि वैशाली के वज्जि अपनी परिषदों में सारे कामधाम छोड़कर नियत समय पर भरपूर उपस्थित होते हैं!

आनन्द—हाँ तथागत, मैंने ऐसा ही सुना है।

बुद्ध—और क्या आनन्द, तुमने सुना है कि वज्जि अपनी सभा में समान आसन पर एक साथ बैठते, एक मन होकर विचार करते और एक ही निश्चय पर पहुँच कर सब उसे कार्यरूप में परिणत करने को जुट पड़ते हैं?

आनन्द—हाँ, तथागत, मैंने ऐसा सुना है।

बुद्ध—और, आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जि कभी अविहित को विहित नहीं करते और विहित का उच्छेद नहीं करते, बल्कि उसे शिरोधार्य कर उसीके अनुसार चलते है।

आनन्द—हाँ, तथागत, मैंने सुना है।

बुद्ध—और आनन्द, तुमने सुना है, कि वज्जि अपने वृद्धों का आदर-सत्कार करते हैं, उन्हें पूजते हैं, मानते हैं? यों ही, आनन्द, तुमने सुना है न कि वज्जि अपनी कुल-स्त्रियों और कुल-कुमारियों की प्रतिष्ठा करते हैं, उनके साथ अमर्यादा का व्यवहार नहीं करते?

आनन्द—हाँ, तथागत, मैंने ऐसा सुना है।

बुद्ध—और सुना है आनन्द तुमने कि वज्जि अपने धर्मस्थानों, देवस्थानों, सभास्थानों की रक्षा करते, उनके दिये दानों का लोप नहीं करते? और सुना है न आनन्द, वज्जि सभी महात्माओं, जनसेवकों और विद्वानों को आमन्त्रित करते और उनका आदर-सत्कार करते हैं?

आनन्द—हाँ, तथागत, मैंने ऐसा भी सुना है!

बुद्ध—तो आनन्द, वज्जियों की वृद्धि ही होगी, हानि नहीं। कोई उन्हें जीत नहीं सकता! कोई हरा नहीं सकता। जब मैं वैशाली के सारन्द-चैत्य में था, तो उन्हें राष्ट्रों को पतन से बचानेवाले ये सात नियम—सप्त अपरिहारणीय धर्म—बताये थे आनन्द! इन नियमों पर जब तक वे चलेंगे, तबतक वज्जियों पर संसार की कोई शक्ति विजय नहीं प्राप्त कर सकती।

आनन्द—तथागत, आपने फिर आज इसे दुहराकर आनेवाले राष्ट्रों और राज्यों को भी उन्नति का पथ बता दिया है— अपने शासन के प्रति भक्ति, निर्णयों के प्रति कर्तृत्व, अपने विधान के प्रति आदर, अपने बड़े-बूढ़ों के प्रति सम्मान, अपनी नारी-जाति के प्रति श्रद्धा, अपनी सांस्कृतिक संस्थानों के प्रति रक्षा-भावना एंव देश विदेश के महात्माओं एंव विद्वानों के प्रति ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा, सचमुच ये सात राज्यों और राष्ट्रों के लिए अपरिहारिणीय प्रतिपदा—अनिवार्य कर्तव्य हैं शास्ता!

बुद्ध—आनन्द, तुमने सही ढंग से रखा। तुम वस्सकार से कहला दो कि वह अजातशत्रु को दलदल में नहीं घसीटे! गंगा के दोनों तटों के सम्मिलन में ही दोनों के कल्याण हैं, आनन्द! विदेह और वज्जियों का, मगध और अंग के लोगों के साथ जितना ही प्रेम बढ़ेगा, उतनी उन्नति दोनों भूभागों की होगी! मैं देख रहा हूँ, कुछ दिनों में यह होकर रहेगा! वस्सकार इन दोनों के बीच कलह का बीज न बोये! नहीं तो दोनों का कल्याण नहीं!

आनन्द—आपकी आज्ञा मैं तुरत उसके पास भेजवा देता हूँ। किन्तु वह कुछ करने पर तुला-सा मालूम होता है, शास्ता!

बुद्ध—तो दोनों के लिए बुरे दिन आ रहे हैं आनन्द!

२

[भविष्यवाणी :: अम्बपाली का आम्रवन]

बुद्ध—राजगृह से नालन्दा, नालन्दा से पाटलिग्राम, फिर यह वैशाली! चारों एक ही माला के चार मनके-से लगते हैं, आनन्द! उनमें पाटलिग्राम! उसका भविष्य इन सबमें महान मालूम होता है!

आनन्द—शास्ता ने हमें कहा था और उसपर आनेवाली तीन विपत्तियों की भी चर्चा की थी! इस नगर को सदा आग से, पानी से और आपस की फूट से भय रहेगा। मैंने पाटलिग्राम के निवासियों से इसकी चेतावनी भी दे दी है, तथागत!

बुद्ध—हाँ पाटलिपुत्र को आग, पानी और आपसी फूट से बचना होगा आनन्द! देखो, वह क्या अम्बपाली आ रही है?

आनन्द—हाँ भन्ते, वही तो हैं!

(अम्बपाली का प्रवेश : बुद्ध के चरणों में सिर झुकाती है)

बुद्ध—तो आपने निश्चय कर लिया भद्रे!

अम्बपाली—जिस दिन भगवान ने मेरी आम्रवाटिका में आवास किया और सारी वैशाली के निमंत्रण को अस्वीकार कर प्रथम मेरा भोजन ही ग्रहण किया, मेरे निश्चय का प्रारम्भ उसी दिन हो गया था, भगवान! किन्तु यह मेरा मोह था, अहम्मन्यता थी, दुर्भाग्य था कि मैं अबतक कीचड़ में बैठी उसे चन्दन समझ रही थी। उफ, मेरा दुर्भाग्य!

आनन्द—दुर्भाग्य! जिसकी एक भ्रूभंगिमा पर सारी वैशाली हिल्लोलित, तरंगित हो उठती है; उसका दुर्भाग्य!

अम्बपाली—भिक्षुवर! तपस्वियों को सिर्फ ऊपर नहीं देखना चाहिये! आह, इस हिल्लोल, इस तरंग के भीतर......!

(उसाँसे लेती है)

बुद्ध—सत्य, राजनर्तकी, सत्य! तपस्वियों को ऊपर ही नहीं देखना है! और, अब तो आपके भीतर का हाहाकार आपके मुखड़े पर स्पष्ट छाप डाल चुका है! तो आप प्रवज्जा लेना चाहती हैं?

अम्बपाली—यह मेरा आम्रकानन, यह मेरी सारी सम्पत्ति भिक्षु-संघ को अर्पित है। अब मेरे लिए संघ के किसी कोने में थोड़ा स्थान दें भगवान?

बुद्ध—तथास्तु! जायें, आप प्रवज्जा की तैयारी करें।

(अम्बपाली जाती है)

आनन्द—तथागत ?

बुद्ध—तुम्हारी आपत्ति समझ रहा हूँ, आनन्द ! रानी प्रजावती और यशोधरा के संघ-प्रवेश पर मैंने आपत्ति की थी; नारियों के संघ-प्रवेश के संकट से मैं अपरिचित नहीं, किन्तु, इस राजनर्त्तकी को मैं 'ना' नहीं कह सकता था, आनन्द। यह विचित्र नारी है और इसके प्रवेश से संघ का कल्याण ही होगा !

आनन्द—शास्ता की जो अनुज्ञा।

बुद्ध—मैं सब कामों में शीघ्रता कर रहा हूँ, इसका एक कारण है आनन्द ! और, उसे तुमसे छिपाना क्या है ? अब इस पृथ्वी पर मेरे दिन पूरे हो रहे हैं !

आनन्द—यह क्या तथागत ? आप हमें छोड़कर जाने का सोच रहे हैं ?

बुद्ध—हाँ, कल मुझे इसका स्मरण दिलाया गया कि अब मात्र तीन महीने यहाँ रहना है !

आनन्द—किसने स्मरण दिलाया, शास्ता ?

बुद्ध—यह सब पूछने की बात नहीं है, आनन्द ! तुम देख नहीं रहे हो कि मेरा यह शरीर कितना खिन्न हो रहा है ! बार-बार अस्वस्थ हो जाया करता हूँ। जो रथ था, वह भार बन रहा है। भार को कंधे से उतारना ही अच्छा है, आनन्द !

आनन्द—शास्ता ! (गला रुँध जाता है)

बुद्ध—विलाप अनार्य है, शोक अनार्य है ! मृत्यु आर्य सत्य है, सबको मरना है, सबको जाना है। उन्तीस वर्ष की आयु में मुझे बोधि प्राप्त हुई, तब से इक्कावन वर्ष तक मैं लगातार धर्म का सन्देश देता रहा ! क्या उससे तृप्ति नहीं हुई ? जहाँ तक इस शरीर से हो हो सकता था, हो चुका । अब यह बंधन है और बंधन जितना शीघ्र टूटे, उतना ही अच्छा !

आनन्द—ओह, कुछ समझ में नहीं आता शास्ता ! आह, आपके बिना यह पृथ्वी कितनी सूनी लगेगी—जिस तरह अचानक सूर्य डूब जाय और सारी पृथ्वी को अंधकार ढँक ले !

बुद्ध—सत्य का सूर्य कभी नहीं डूबता है आनन्द ! चिर-नूतन होने के लिए वह कुछ देर के लिए आँखों से ओझल मात्र होता है। देखो, सन्ध्या हुई, भिक्षुओं से कह दो, वे कल प्रातः ही चलने की तैयारी करें। पावापुरी, कुशीनारा, कपिलवस्तु सब मुझे पुकार रहे हैं आनन्द ! अब हमें शीघ्रता करनी है !

३

[निर्वाण की ओर : : कुशीनारा में हिरण्यवती का तट]

बुद्ध—आनन्द, आज वैसाख पूर्णिमा है न?

आनन्द—हाँ, शास्ता। आज वैसाख की पूर्णिमा है! देखिये न, पूर्ण चन्द्र किस तरह पूर्व क्षितिज पर उदय हो रहा है!

बुद्ध—तथागत का आगमन वैसाख पूर्णिमा को हुआ था, महा-प्रयाण भी इसी तिथि को होना चाहिए, आनन्द!

आनन्द—भगवान, यह क्या कह रहे हैं?

बुद्ध—जो होने जा रहा है, वही कह रहा हूँ आनन्द! मेरा आसन शाल के उन दोनों पेड़ों के बीच लगा दो। सिरहाना उत्तर दिशा की ओर हो! रात के उत्तर भाग में तथागत का निर्वाण होगा!

आनन्द—भगवान, भगवान!

बुद्ध—हाँ, हाँ, तथागत की यह अन्तिम शय्या होने जा रही है, आनन्द! अहा! अस्सी वर्षों का बन्धन आप ही जीर्ण-शीर्ण होकर आज टूटने जा रहा है! (हिचकियों की आवाज) आनन्द, आनन्द! यह कौन हिचकियाँ ले-लेकर रो रहा है, आनन्द!

आनन्द—यह चुंद कर्मार है, भगवान!

बुद्ध—समझ गया आनन्द! चुंद सोच रहा है कि मेरा ही भोजन खाकर तथागत बीमार पड़े—दुनिया मुझे क्या कहेगी? किन्तु, आनन्द, चुंद से कह दो, संसार में दो भोजन सदा ही वंदनीय, स्पृह-णीय समझे जायँगे—एक सुजाता की खीर, जिसको खाकर तथागत ने बुद्धत्व प्राप्त किया और दूसरा चुंद की खिचड़ी जिसे खाकर तथागत निर्वाण प्राप्त करने जा रहे हैं!

आनन्द—क्या शास्ता सचमुच हमें छोड़ने जा रहे हैं?

बुद्ध—हाँ, आनन्द! यह पूर्णिमा का चन्द्रमा जब तीन चौथाई रास्ता तय कर लेगा, तथागत का महापरिनिर्वाण होगा! अहा, इस धवल चन्द्रिका की ही तरह निर्वाण का शुभ्र, शीतल, सुन्दर पथ यहाँ से ही दिखाई पड़ रहा है आनन्द! आनन्द, देखो-देखो, आकाश की ओर देखो!

(बुद्ध बहुत देर तक ध्यानमग्न हो जाते हैं—उनकी टकटकी आकाश की ओर बँधी है; फिर आनन्द को पुकारते हैं!)

बुद्ध—आनन्द, आनन्द !

(आनन्द का कोई शब्द नहीं सुनाई पड़ता, रोने की आवाज)

एक भिक्षु—आनन्द तो बिहार में जाकर एक खूंटी पकडकर विलख बिलख कर रो रहे हैं, शास्ता !

बुद्ध—आनन्द को बुलाओ ! कहो, तथागत बुला रहे हैं !

(आनन्द आते हैं, बुद्ध के चरणों में लिपट कर फूट फूट कर रोने लगते हैं)

बुद्ध—आनन्द, आनन्द ! ओह, तुम भी रोने लगे ! मैंने पहले ही कहा था न, कि सभी प्रियों की जुदाई होती है। जो नाश होनेवाला है, उसे कोई बचा नहीं सकता। फिर क्यों शोक, क्यों विलाप ! आनन्द, तुम तो धन्य हो कि तुमने तथागत की सेवा चिरकाल तक मन, वचन और काया से की है। तुम्हें यह सौभाग्य मिला, तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए आनन्द !

आनन्द—जो निर्वाण ही प्राप्त करना है, तो भगवान, किसी प्रसिद्ध स्थान में—राजगृह में, वैशाली में, श्रावस्ती में, कौशाम्बी में......

बुद्ध—संसार में चार स्थान सदा अति पवित्र माने जायंगे, आनन्द ! एक वह, जहाँ तथागत उत्पन्न हुए; दूसरा वह, जहाँ तथागत ने बोधि प्राप्त की; तीसरा वह, जहाँ तथागत ने धर्मचक्र का प्रवर्त्तन किया और चौथा वह, जहाँ तथागत ने निर्वाण प्राप्त किया। इनसे बढ़कर भी कोई स्थान पवित्र हो सकता है, आनन्द ?

आनन्द—आप तो जा रहे हैं शास्ता; अब हमारे लिए कौन पथ-प्रदर्शन का काम करेगा....

बुद्ध—यह क्या बोल गये आनन्द ! मैं जा रहा हूँ; किन्तु सत्य का आष्टांगिक मार्ग अब प्रशस्त हो चुका । जो कुछ मैं कह चुका हूँ, उसे ही अपना आचार्य, अपना प्रदीप, अपना कोश समझना ! अब वही तुम्हारा शास्ता है, उपदेशक है ! उसीकी आवृत्ति करना, उसे ही जीवन में उतारना, जैसा कि आजतक करते आये हो......

आनन्द—भगवान, क्या चलते समय कुछ उपदेश हमें न देंगे ?

बुद्ध—क्या उपदेशों से तृप्ति नहीं मिली आनन्द ! हाँ, ज्ञान की पिपासा सदा बनी रहे, यही अच्छा है। तो आनन्द, मेरा आसन शाल के उन दोनों पेड़ों के बीच में, जैसा बता चुका हूँ, लगा दो ! और वहीं भिक्षु-संघ को एकत्र करो।

४

[अन्तिम प्रवचन : : दो शालों के बीच का आसन]

बुद्ध—(शोकमग्न भिक्षुओं से) भिक्षुओ, क्या मेरे लिए शोक करना उचित है, जो तुम कर रहे हो? जबकि दुखों की यह समष्टि समाप्त हो रही है, जन्म-मरण का भय उन्मूलित हो रहा है, जबकि मैं महादुःख से विदा ले रहा हूँ, तब तुम्हें रोना चाहिय? भिक्षुओ, आनन्द मनाओ, आनन्द मनाओ!

अब मैं नहीं रहूँगा, मेरे दर्शन न हो सकेंगे, यह समझकर शोक मत करो भिक्षुओ! कठोर कर्म-मार्ग के विना मेरे दर्शन-मात्र से ही निर्वाण नहीं प्राप्त हो सकता। जो सत्य-मार्ग को जानेगा, उसपर चलेगा, वह मेरे दर्शन के बिना भी दुःख-जाल से मुक्त होगा!

जो इस धर्म-मार्ग को—सत्य की मध्यम प्रतिपदा को—जानता है, उसपर चलता है, वह मुझसे दूर होकर भी मेरे निकट है और रहेगा; और जो धर्म-विमुख है, श्रेय-विमुख है, वह निकट रहकर भी दूर है और रहेगा!

इसलिए सदा आलस्य-रहित होकर मन को वश में रखो और परिश्रमपूर्वक श्रेय को प्राप्त करो!

संसार में बाघ, साँप, जलती आग या शत्रु से उतना नहीं डरना चाहिये, जितना कि अपने ही चंचल चित्त से, जो मधु को देखता है, किन्तु संकट को नहीं। इसलिए चित्त पर अधिकार करो, उसकी चंचलता को रोको।

औषधि की मात्रा के समान ही भोजन करो; इससे न अनुराग-रखो, न इससे घृणा करो। उतना ही खाओ, जितना कि क्षुधा-शान्ति और शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है।

जैसे उद्यान में रसपान करते हुए भौंरे फूलों को नष्ट नहीं करते, वैसे ही अन्य मतावलम्बियों का विनाश नहीं करते हुए अपने धर्म-पथ पर बढ़े चलो।

भारी बोझ दोनो के लिए बुरा है; बैल के लिए और आदमी के लिए भी। उतना ही बोझ अपने सिर पर लो, जितने का निर्वाह कर सको।

शील ही उत्तम वस्त्र है, शील ही आभूषण है, शील ही मार्ग-भ्रष्टों के लिए अंकुश है, इसलिए किसी अवस्था में भी शील को नही छोड़ो।

यदि कोई आदमी तलवार से तुम्हारी भुजायें और अंग काट डाले तो भी तुम्हें उसके प्रति पाप-भाव का पोषण नहीं करना चाहिए न उसे अशान्त शब्द ही कहना चाहिए।

क्षमा के समान कोई तप नहीं; जो क्षमावान है, उसे ही शक्ति मिलती है, उसे ही धर्म प्राप्त होता है। जो दूसरों का कठोर व्यवहार नहीं सह सकता, वह न तो धर्म-संस्थापकों के मार्ग पर चलता है और न उसका त्राण ही होता है।

क्रोध को थोड़ा-सा भी अवकाश न दो। वह धर्म और यश को नष्ट करता है—वह रूप का शत्रु है, लक्ष्य की अग्नि है और गुणों का सर्वनाशक है।

यदि तुम्हारे हृदय में अभिमान का उदय हो, तो सुन्दर बालों से विहीन अपने मस्तक को छूकर, अपने काषाय वस्त्र और भिक्षा-पात्र को देखकर एवं दूसरों के शुभ कर्म और सदाचार का चिन्तन कर उसे दूर करना।

कपट और धर्माचरण—दोनों में कोई मेल नहीं। इसलिए कुटिल उपायों का सहारा न लो। छल और छद्म ठगने के लिए हैं; किन्तु जो धर्म में लगे हुए हैं, उनके लिए ठगना जैसी कोई चीज नहीं।

बड़ी-बड़ी इच्छायें रखनेवाले को जो दुःख होता है, वह अल्प इच्छावाले को नहीं होता। इसलिए अल्पैषणा का अभ्यास करना चाहिए; विशेषतः उन्हें, जो गुणों की परिपूर्णता चाहते हैं।

यदि निर्वाण चाहते हो, तो संतोष का अभ्यास करो। संतोष होने पर सुख मिलता है और संतोष ही धर्म है। सन्तुष्ट मनुष्य भूमि पर भी शान्तिपूर्वक सोते हैं और असन्तुष्ट मनुष्य स्वर्ग में भी जलते रहते हैं।

आसक्ति दुःख का निवास-वृक्ष है; इसलिए अपने और पराये दोनों से आसक्ति छोड़ो। आसक्ति में पड़कर मनुष्य दुःख में वैसे ही फँसता है, जिस तरह बूढ़ा हाथी कीचड़ में।

धीरे-धीरे किन्तु निरन्तर बहनेवाली नदी की धारा से चट्टान

को सतह भी घिस जाती है। उद्योग के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है इसलिए सतत उद्योगी बनो।

जहाँ परिश्रम है, वहाँ सिद्धि है। परिश्रमपूर्वक सदा रगड़ने से लकड़ी से ही मनुष्य आग पैदा कर लेता है।

प्रज्ञा जरामरण-रूपी महासागर का नौका है, मोहान्धकार का प्रदीप है। सब व्याधियों को दूर करनेवाली औषधि है, दोष-रूपी वृक्षों को काटने वाली तीक्ष्ण कुल्हाड़ी है। इसलिए प्रज्ञा की वृद्धि के लिए विद्या, ज्ञान और भावना का सतत अभ्यास करो।

अप्रमाद का अभ्यास करो; प्रमाद का परित्याग करो। अप्रमाद द्वारा इन्द्र ने राज्य प्राप्त किया, प्रमाद द्वारा उद्धत असुरों ने अपना विनाश किया।

जहाँ कहीं भी रहो---पर्वत पर, जंगल में या भवन में, सदा प्रयत्न-शील रहो। भिक्षुओ, बहुतों के सुख के लिए बहुतों के हित के लिए देवताओं की प्रसन्नता के लिए, बढ़ते जाओ, बढ़ते जाओ!

चर हे भिक्खव, बहुजन हिताय! बहुजन सुखाय!!

(बुद्ध आँखें मूंद लेते हैं। भिक्षुगण संवेत स्वर से मंत्र पढ़ते हैं—बुद्धं शरणं गच्छामि! संघं शरणं गच्छामि! धर्मं शरणं गच्छामि!)

[पटाक्षेप]

सिंहल-विजय

[एकांकी]

पात्र-पात्रियाँ

पात्र

अशोक

कुणाल

कुमार महेन्द्र

मोग्गलिपुत्र
(आहत)

भिक्षुगण

सिंहल-नरेश तिष्य

पात्रियाँ

माया

संघमित्रा

१

[सम्राट् अशोक का राजप्रासाद—सम्राट् का कनिष्ठ पुत्र कुणाल वीणा बजा रहा है। वीणा बजाने में वह तल्लीन हो चला है कि सम्राट् का बड़ा बेटा कुमार महेन्द्र उसके कक्ष में प्रवेश करता और म्यान से तलवार खींचता है। शब्द सुनकर कुणाल मुड़कर देखता और अचानक चिल्ला पड़ता है—]

कुणाल—ओह, ओह ! भैया, भैया...............

कुमार महेन्द्र—हः हः हः ! डर गये कुणाल ! डर गये ! हः हः हः !

कुणाल—भैया, भैया ! यह क्या भैया ?

महेन्द्र—यह क्या भैया ? हः हः हः ! क्या इसे पहचानते नहीं हो कुणाल ? यही है शत्रु-मर्दिनी, संहार-कारिणी, साम्राज्य-प्रसारिणी, वीरभुज-शोभिनी...हः हः हः, समझे कुणाल ?

कुणाल—भैया, भैया !

महेन्द्र—भैया भैया क्या कुणाल ? तुम गाया करो, बजाया करो ! मुझे तो सदा सन्देह होता है, तुम्हारे बनाने में भगवान ने कुछ भूल अवश्य की है। यह कलाई, ये उँगुलियाँ, यह चेहरा, ये आँखें—भगवान को चाहिए था, तुम्हें नारी बनाकर भेजते ! हः हः हः।

कुणाल—(सिर नीचा करते हुए) भैया !

महेन्द्र—आँखों की चर्चा हुई और तुम शरमा गये ! हाँ, हाँ, ये आँखें मर्दों की नहीं हैं कुणाल ! मर्दों की आंखें वे हैं जिनसे चिनगारियाँ टपकें—

दुश्मन देखें, तो उन्हें काठ मार जाय; दोस्त देखें, तो वे मंत्रमुग्ध हो रहें! और तुम्हारी ये आँखें ?—हः हः हः ! मुझे डर है कुणाल, इन आँखों के चलते तुम कभी किसी झंझट में न पड़ जाओ !

कुणाल—मेरी चिन्ता मत कीजिये, भैया; मुझे चिन्ता है, आज फिर...

महेन्द्र—हाँ, हाँ, बोलो-बोलो ! क्यों रुक गये ? यही न पूछते थे कि आज फिर मेरी यह शत्रु-मर्दिनी क्यों निकली ? हः हः हः —कितनी सुन्दर यह है मेरी तलवार, कुणाल !

कुणाल—तलवार और सुन्दर ? भैया !

महेन्द्र—सौन्दर्य सिर्फ सुकुमारता में नहीं है कुणाल ! सुकुमारता और सौन्दर्य को जो एक समझते हैं, वे कुछ रुचिभ्रष्ट हैं। कमल की पंखड़ियों में, वासन्ती मलय-समीरण में, शरद की चन्द्रिका में या कामिनियों के कपोलों में ही जिन्होंने सौन्दर्य का आरोप किया, उनकी बुद्धि पर तरस आनी चाहिये कुणाल ! वट-वृक्ष की विशालता में, आंधी के प्रचण्ड झोंकों में, अमा-निशीथ के अंजन-वर्ण अन्धकार में और वीरों की प्रशस्त भुजाओं में भी प्रकृति ने सौन्दर्य की प्रचुरता भर रखी है ! इन सौन्दर्यों को जो न देख सके, न परख सके; वे नेत्र ही दोष-पूर्ण हैं।

कुणाल—प्रशस्त भुजाओं में ! (अपनी कलाई को उदासी से देखता है)

महेन्द्र—हाँ प्रशस्त भुजाओं में कुणाल ! किन्तु कुणाल, तुम्हें उदास नहीं होना चाहिये। शायद तुम्हारी रचना ही इसीलिए हुई है कि गाते रहो, बजाते रहो, राजप्रासाद की भीषणता को संगीत की झंकार से ढँके रहो। अच्छा, तो तुम गाओ, बजाओ; मैं तो चला कलिंग-विजय करने।

कुणाल—विजय ! विजय ! भैया, यह विजय की भूख कभी शान्त नहीं होगी ?

महेन्द्र—न होगी, न होनी चाहिये। विजय राज्य का भोज्य है कुणाल ! विजय की आकांक्षा गई, राज्य गया। हः हः हः। और एक बात कहूँ मेरे प्यारे भाई ? विजय एक नशा है। एक बार होठों से लगा, तो फिर छूट नहीं सकता— फिर एक घूंट ,फिर एक घूंट, फिर एक घूंट ! हः हः हः हः हः ! !

कुणाल—आज कलिंग, कल ....

महेन्द्र—अभी बहुत देश शेष हैं कुणाल ! बहुत। पूरब में स्वर्णभूमि, दक्षिण में सिंहलद्वीप..........

कुणाल—सिंहल द्वीप ? लंका—जिसपर राम ने विजय की थी ? आप वहाँ तक विजय करन की आकांक्षा रखते हैं भैया ?

महेन्द्र—संसार में कुछ वस्तुयें असीम हैं कुणाल ! महासागर की कोई सीमा नहीं; यो ही मानव की अकांक्षाओं की भी सीमा नहीं होती। तुमने देखा नहीं; गंगा-तट पर हमने समुद्र-गामी जल-पोतों का निर्माण प्रारम्भ करा दिया है !

कुणाल—ओह !

महेन्द्र—आह-ओह नहीं कुणाल; नहीं। आदमी को गरुड़ की तरह जीना चाहिए—कभी इधर एक झपट्टा, कभी उधर एक झपट्टा। जिधर चले, आगे एक भगदड़, पीछे एक हहास। हः हः हः।

कुणाल—जैसे पृथ्वी पर कोयल के लिए जगह नहीं !

महेन्द्र—है। तभी तो एक ही घर में महेन्द्र भी है, कुणाल भी; लेकिन छोड़ो इन बातों को। आज मैं तुम्हें एक आमंत्रण देने आया हूँ।

कुणाल—आमंत्रण ! मुझे ?

महेन्द्र—हाँ, आमंत्रण तुम्हें: आज मैं तुम्हें आमन्त्रित करने आया हूँ कि चलो, एक बार अपने बड़े भाई की भुजाओं का बल और इस शत्रु-मर्दिनी का जौहर देख लो।

कुणाल—भैया, मैं तो युद्ध का नाम मुनते ही. . . . . .

महेन्द्र—हः हः हः हः ....! युद्ध का नाम सुनते ही तुम काँप उठते हो ! अरे कुणाल ! हम राज-पुत्र हैं ! कौन कहे, तुम्हारी भुजाओं को भी एक दिन तलवार उठानी पड़े, तुम्हारी आँखों को भी एक दिन युद्ध के भयानक दृश्य देखने पड़ें !

कुणाल—उन दृश्यों के देखने के पहले मैं अपनी आँखों को निकाल लिया जाना पसन्द करूँगा, भैया !

महेन्द्र—चुप ! चुप, कुणाल ! मूर्खता की भी सीमा होती है ! ऐसी बात जीभ पर मत ला। हाँ, तुम्हें चलना ही पड़गा। मन पता जी को भी आमंत्रित किया है कि इस बार स्वयं रण-भूमि में चलकर मेरे उस रण-कौशल को देखें, जिसने सारे भारतवर्ष को पराजित कर उन के श्रीचरणों के निकट डाल दिया है। तुम्हें चलना ही है कुणाल !

कुणाल—चलना ही है ! तो, चलूँगा । सुना है, कलिंग के लोग बड़े कलाविद् होते हैं ।

महेन्द्र—सच ! तब तो उन पर विजय पाना और भी आसान होगा कुणाल ! कला! —कला हृदय को कोमल, शरीर को सुकुमार और उँगुलियों को नाजुक बना देती है । कला आई, शौर्य गया ! हः हः हः हः ।

कुणाल—यह कला को एकांगी देखना है, भैया ?

महेन्द्र—ऐसा ही हो । तो चलो, देख लो, कला और शौर्य में विजय किसकी होती है । क्यों ? हः हः हः हः ।

२

[पृष्ठभूमि में कोलाहल छाया हुआ है । "मारो मारो" "काटो, काटो" की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती है। 'कलिंग की जय'-'सम्राट अशोक की जय' के तुमुल नाद भी बीच-बीच में होते हैं। फिर, चीख-पुकार 'आह' 'ओह' आदि सुनाई पड़ते हैं। स्थानः कलिंग की युद्धभूमि।]

महेन्द्र—(अट्टहास करता हुआ) हः....हः....हः.... ! हः.... हः.... हः.... ! हः.... हः.... हः.... ! हः.... हः.... हः.... हः.... !

कुणाल—(कातर स्वर में) उफ, आप हँस रहे हैं ! आह !......

महेन्द्र—हः हः हः !.... हः हः हः !

कुणाल—भैया, भैया ! आपको क्या हो गया है, भैया !

महेन्द्र—हः हः हः । हः हः हः । मुझे क्या हो गया है कुणाल ? कुणाल, हः हः हः ! मुझे नहीं, उन्हें क्या हो गया कुणाल ? हः हः हः !

कुणाल—(गम्भीर होकर) भैया, मुझे क्षमा कीजिए । मानवता के इस भीषण संहार पर यों अट्टहास करना कभी मानवोचित कर्म नहीं समझा जा सकता । और, इतनी निर्दयता से संहार कराकर अब आप उनके आर्त्तनाद पर अट्टहास कर रहे हैं ! ....

महेन्द्र—और तुम्हें भी यह क्या हो गया है कुणाल ? हः हः हः ।

कुणाल—भैया, मैं चला । मैं यह सब देख-सुन नहीं सकता !

महेन्द्र—मैं चला ! हः हः हः हः ! नहीं, नहीं ; रुको कुणाल; रुको। अरे, उन्हें यह क्या हो गया है ? अरे, तुम्हें यह क्या हो गया है ? हः हः हः......

कुणाल—मैं रुक नहीं सकता भैया, रुक नहीं सकता !

महेन्द्र—नहीं, तुम्हें रुकना है कुणाल, रुकना है। हः हः हः । हः हः हः ! और, तुम ने क्या यह समझा है कि मैं उन बेचारों के आर्त्त-नाद पर हँस रहा हूँ ? नही, कुणाल, नहीं। मुझे तो हँसी आ रही है, पिता-जी पर.........

कुणाल—पिताजी पर ?

महेन्द्र—हाँ कुणाल, पिताजी पर। जानते हो, इस समय वह एक लाश को छाती से लगा कर रो रहे हैं—सिसक-सिसक कर। हः हः हः।

कुणाल—रो रहे है ?

महेन्द्र—हाँ कुणाल, रो रहे हैं ! बच्चों की तरह बिलख-बिलख कर रो रहे है !

कुणाल—तो इसमें हँसने की क्या बात है भैया ?

महेन्द्र—सारी बातें हँसने की हैं, हँसी की हैं, कुणाल ! हः हः हः ! पिता जी ने समझ क्या रखा था ? क्या युद्ध बिना रक्त-पात के होता है ? और, जब रक्तपात युद्ध के साथ अनिवार्य है; तो जितना ही अधिक रक्तपात, उतना ही शानदार युद्ध ! और जानते हो कुणाल, वह यह भी कह रहे हैं कि आज से युद्ध न करूँगा। हः हः हः—युद्ध नहीं करूँगा ! जैसे युद्ध किसी शासक या सम्राट् की मर्जी पर निर्भर करता हो !

कुणाल—भैया, भैया ! (क्रोधावेश से वह काँप रहा है)

महेन्द्र—और, मुझे तुम पर भी हँसी आ रही है कुणाल, तुम पर भी। अहा ! जीवन में पहली बार तुममें यह क्रोध देखा है। जानते हो कुणाल, हमारे किसी शास्त्र में भगवान को क्रोध कहा गया है। और सच कहता हूँ, जब किसी को मैं क्रोध में देखता हूँ, तो उसमें भगवानके दर्शन करता हूँ, आनन्द-मग्न हो जाता हूँ ! हः हः हः।

कुणाल—भैयाजी, आपके ये विचार...........

महेन्द्र—भीषण हैं, क्यों ? हः हः हः ! किन्तु, तुम इन्हें घृणित नहीं कह सकते कुणाल ! जब तक साम्राज्य है, तब तक युद्ध अनिवार्य

है। और जब तक मानव-मन रागात्मक है, क्रोध भी आवश्यक रहेगा कुणाल ! हः हः हः।

कुणाल—तो साम्राज्यों का नाश हो; मानव-मन को रागों से निवृत्ति मिले। मानवता का कल्याण इसीमें है भैया !

(दूर से आह....!...आह!.....ओह !...ओह...!....आदि स्वर तीव्र होते जा रहे हैं)

महेन्द्र—सुन रहे हो कुणाल, सुन रहे हो !

कुणाल—भैया, क्या आपका हृदय इन शब्दों को सुनकर द्रवित नहीं होता ?

महेन्द्र—द्रवित होता है ! किन्तु करुणा से नहीं, आनन्द से। आनन्द मारने में नहीं है कुणाल; आनन्द है तड़पने का तमाशा देखने में। जानते हो, शेर अपने शिकार को एकबारगी नहीं मारता—घायल करके छोड़ देता और अलग बैठ कर उनके तड़पने और दम तोड़ने का तमाशा आँखें फाड़-फाड़ कर देखा करता है !

कुणाल—रहने दीजिये, रहने दीजिये भैया ! उफ, मानव ! हायरी मानवते !

महेन्द्र—उफ रे मानव, ! हाय री मानवते ! हः हः हः ! कैसा भोला भाई मिला है मुझे ! उफ रे मानव ! हाय री मानवते ! हः हः हः !

३

[सम्राट अशोक के राज-भवन में घंटे-घड़ियाल बज रहे हैं। रह-रह कर 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' का स्वर सुनाई पड़ता है। अपने कक्ष में बेचैनी से कुमार महेन्द्र टहल रहा है। इतने ही में उसकी पत्नी माया आती है]

माया—नाथ !

महेन्द्र—(कुछ नहीं बोलता, टहलता ही रहता है)

माया—नाथ !

महेन्द्र—(फिर कुछ नहीं बोलता, टहलता रहता है)

माया—नाथ ! सुनिये नाथ !

महेन्द्र—सुन रहा हूँ, माया, सुन रहा हूँ । सब सुन रहा हूँ। इस भिक्षु ने राजप्रासाद को बौद्ध बिहार बना डाला है। सुन रहा हूँ माया, यह घंटा-घड़ियाल, यह बुद्धं शरणं, धम्मं शरणं ! सुन रहा हूँ—सब सुन रहा हूँ ! उफ ! (पैर पटकता है)

माया—नाथ !

महेन्द्र—नहीं, मैं अब इस राज-भवन में रह नहीं सकता, माया ! नहीं, नहीं । यह घंटा घड़ियाल, यह मंत्र-तंत्र ! नही, यह स्थान किसी राजकुमार के लिए नही रह गया। यह मोग्गलि-पुत्र—यह ढोंगी भिक्षु । ओहो, महास्थविर कहलाता है यह । ढोंगी ! किन्तु,—हः हः हः ! कितने होशियार होते हैं ये साधु-संन्यासी ! जब देखते हैं, आदमी किसी मानसिक उलझन में पड़ गया है, ये धम्म से आ जाते हैं उसके सामने भूत की तरह, और फिर तो उसे भूताभिभूत की तरह नचाया करते हैं। स्थविर...स्थविर....हः हः हः ... धूर्त्तता की भी हद होती है भिक्षु...........

माया—नाथ, आप यों बेचैन......

महेन्द्र—माया, हाँ मैं बेचैन हूँ। तुम नहीं समझती हो, यह क्या हो रहा ? किन्तु मै समझता हूँ। यह हमें इस घर से हटाने का षड्यंत्र है, माया !

माया—षड्यंत्र ! घर से हटाने का ?

महेन्द्र—हाँ, षड्यंत्र—इस हमें घर से हटाने का ! जिस घर में वीरता की आवश्यकता नहीं, विजय की आवश्यकता नहीं, उस घर में महेन्द्र के लिए कौन-सी जगह है माया ? तुम क्या समझती हो कि मैं अपनी इस प्यारी शत्रु-मर्दिनी (तलवार निकालता हुआ) को छोड़कर हाथ में मनके ले सकता हूँ—नहीं, नहीं !....और पिताजी के राज्य का उत्तराधिकारी तो अब वही न होगा, जो हाथ में उन्हीं की तरह मनके ले और उस धूर्त्त भिक्षु की तरह होठों पर मंत्र बुदबुदाता रहे ! यह षड्यंत्र है, माया, मुझे, राज्य-सिंहासन से वंचित करने का ! षड्यंत्र, षड्यंत्र ! किन्तु, यह शत्रु-मर्दिनी ऐसे सहस्र-सहस्र षड्यंत्रों को ...(तलवार घुमाता है)

माया—नाथ, नाथ ! यह क्या सोच रहे हैं नाथ ?

महेन्द्र—सोच चुका हूँ, सोच चुका हूँ, माया! सोच चुका हूँ और तय कर चुका हूँ। जो इतने दिनों तक शूर-वीरों की गर्दनें उतारती रही, उसीसे इन भिक्षुओं के सिर उतारना पड़ेगा!

माया—(विह्वलता में चिल्लाती हुई) भिक्षुओं के सिर! नाथ.....

महेन्द्र—चिल्लाओ मत माया! भिक्षुओं के सिर! ये मुँड़े हुए सिर, ये पोपले सिर, ये खुराफाती सिर। हाँ, ये खुराफाती सिर हैं—इसीलिए इन्हें उतारना ही पड़ेगा! ठीक; यह क्रूर-कर्म है—निरस्त्रों पर शस्त्र उठाना, यह नीच कर्म है! किन्तु, नीचता के निवारण के लिए कभी-कभी नीचता पर उतरना होता है, माया!

माया—नाथ, नाथ!!

महेन्द्र—हटो माया, हटो। मेरा क्षत्रित्व जाग उठा है, हटो। हटो! (रोती हुई माया जाती है—महेन्द्र फिर टहलने लगता है)

४

[संघमित्रा अशोक-राजप्रासाद के अपने एकान्त कक्ष में गा रही है]

संघमित्रा—

उठ रहा तूफान;
शान्त मन, उद्भ्रान्त क्यों है?
उच्छ्वसित तन क्लान्त क्यों है?
ढूंढ़ता एकान्त क्यों है?
आदि की यह आदि ही
क्यों पा गई अवसान?

गा रहा तूफान;
नीड़ खोकर विहग विह्वल
तटी बेकल, तरी चंचल
हो रहे हैं एक जल-थल
हँस न पाया था कि
देखो डूबता दिनमान!

(कुणाल का प्रवेश)

कुणाल—मित्रे, इस घर में सिर्फ हमी दो सुखी हैं, मित्रे !

संघमित्रा—कुणाल भैया, ओहो ! बड़ी कृपा की भैया !

कुणाल—हम पर भगवान की ही कृपा है, मित्रे ! मुझे बजाना दिया, तुम्हें गाना दिया। गाना-बजाना, मालूम होता है—संसार में ये ही दो शाश्वत सत्य हैं; और सब मिथ्या है। देखती हो न पिताजी को; कैसी कायापलट ? और भैया के बारे में सुना है ?

संघमित्रा—सुना है, देखा है, बातें भी की हैं। वहाँ भी कायापलट की ही एक क्रिया चल रही है, कुणाल भैया! मुझे ऐसा लगता है, वीरवर महेन्द्र, कहीं भिक्षु महेन्द्र न बन जायँ।

कुणाल—महेन्द्र भैया और भिक्षु ! अरे !

संघमित्रा—जब अधिक ऊमस होती है; पानी बरस कर रहता है। पानी अधिक गरम होता है, भाफ बनकर उड़ जाने के लिए। इतनी ऊमस, इतनी गर्मी ! उफ, भैया पागल हो रहे हैं.....

कुणाल—हाँ, वह तो पागल हो रहे हैं मित्रे !

संघमित्रा—पाटलिपुत्र का यह सारा राज-भवन पागल हो रहा है, कुणाल भैया ! कलिंग हार कर भी जीत गया, पाटलिपुत्र जीत कर भी हार चुका !

कुणाल—तुम यह क्या बोल गई, मित्रे ?

संघमित्रा— जो आँखों से देख रही हूँ !

कुणाल—तुम एक बहुत बड़ा सत्य अनायास ही कह गई, मेरी प्यारी बहिन। सचमुच ही कलिंग हारकर जीत गया, पाटलिपुत्र जीत कर हार गया। किन्तु इसका अर्थ तुमने समझा ?

संघमित्रा—अर्थ ?

कुणाल—हाँ, हाँ, इसका अर्थ ! इसका अर्थ यह हुआ कि कला हारकर जीत गई और शौर्य जीतकर हार गया ! विजेता गरुड़ पंख फटफटा कर तड़प रहा है और विजयिनी कोयल कल भी गाती थी, आज भी गा रही है !

संघमित्रा—भैया, सच कहती हूँ, मुझे तो ऐसा मालूम होता है, इस घर में ही पागलपन आ घुसा है। कलिंग के भूत हम सबके सिर पर आ चढ़े हैं और न जानें हममें से किसको, कब, कहाँ ले जायँ ?

कुणाल—मित्रे, क्या तुम भी कुछ उलझन में हो ? ओहो, तभी तो वह तुम्हारा गीत—"उठ रहा तूफान—गा रहा तूफान ?"

संघमित्रा—लेकिन घबड़ाइए मत भैया ! सब कहीं न कहीं ि काने लग जायँगे। ऐसा ी ोता आया है, जो उठता है, गाता है, वह सोता भी है । सुनिये—

सो रहा तूफान !
प्रकृति का वह कोप हमसे दूर
दूर झंझा के झकोरे क्रूर
शान्ति चारों ओर अब भरपूर
रवि गया, पर वह चमकता चाँद है द्युतिमान ।
सो रहा तूफान ॥

५

[आधीरात के सन्नाटे का आलम—गंगा के उस पार की तट-भूमि—कुमार महेन्द्र बालू पर अकेला टहल रहा है—एक टिटहरी बोल उठती है]

महेन्द्र—अन्धकार ! टिटहरी ! बाहर अन्धकार......भीतर अन्धकार.....! बाहर टिटहरी, और भीतर....? वहाँ भी कुछ बोल रहा है ! क्या बोल रहा है ? ....अब तक क्यों नहीं बोला था ?....टिटहरी अन्धकार में ही बोलती है ! उफ, मेरा हृदय...यह कहाँ से अन्धकार आया इसमें ? कुछ नहीं सूझता...बाहर नही सूझता, भीतर भी नहीं सूझता !... किन्तु यह क्या बक रहा हूँ में ? क्या मैं पागल होने जा रहा ? पागल, हः हः हः ! और मैं हूँ कहाँ ? हाँ, सामने गंगा के उस पार वह राजप्रासाद है। राजप्रासाद ! नहीं, अब तो वह बौद्ध-विहार है ! पिताजी यह क्या कर रहे हैं ? किन्तु क्या वह होश में हैं ? उनके सिर पर तो भूत सवार है....भूत....भूत ! (सामने देख कर) अरे, वह भूत है क्या ? भूत ! हः.....हः..हः। महेन्द्र ! अब तुम भूत से भी डरने लगे !

(एक चीख—भागने का शब्द—महेन्द्र उस ओर दौड़ता है)

कौन ? कौन ?

आहत का स्वर—आह ! आह !

महेन्द्र—(घायल व्यक्ति के निकट पहुँच कर, झुककर) ओहो, तुम कौन हो ? क्या हुआ है ? किसने मारा है तुम्हें ? किसने मारा है ? अन्धकार में प्रहार, कैसी राक्षसता ?

आहत—पानी....पानी...

महेन्द्र—अभी लाया पानी । (दौड़ता हुआ जाता है)

आहत—आह ! आह !

महेन्द्र—(लौटकर) लो यह पानी । तुम हो कौन ? किसने मारा तुम्हें ? बताओ, अभी उसे सबक सिखाता हूँ। पाटलिपुत्र में जहाँ कहीं होगा, वह दंड भुगत कर रहेगा। वह जायगा कहाँ ?

आहत—दं....ड !.....दं...ड,...नहीं ! दंड.......नहीं ।

महेन्द्र—दंड नहीं ? अपराधी को दंड मिलता ही है, मिलकर रहेगा ।

आहत—भिक्षु न दंड देता है, न दिलाता है। उसके कोष में यह शब्द भी नहीं है।

महेन्द्र—तो तुम भिक्षु हो ? उफ !

आहत—तुम्हें पश्चात्ताप हो रहा है कि क्यों जल पिलाकर एक भिक्षु को बचा लिया ?

महेन्द्र—हाँ, पश्चात्ताप हो रहा है, महान पश्चात्ताप ! मैंने भिक्षुओं का संहार करने की प्रतिज्ञा की है।

आहत—तो उनलोगों से साँठ-गाँठ करो, जो अभी मुझ पर प्रहार करके भगे हैं। पाटलिपुत्र में ऐसे आदमी तुम अकेले नहीं हो अपरिचित !

महेन्द्र—मैं अन्धेरे में प्रहार करने वालों में नहीं हूँ, भिक्षु !

आहत—सत्य पर अन्धेरे में ही प्रहार हो सकता है अपरिचित ! या तो अन्धकार हो , या तुमने आँखें मूँद ली हों—या तुम्हारी आँखों पर पर्दा हो—किसी कपड़े का या किसी नशीली वस्तु का ! सरेआम, दिन-दहाड़े, खुली आँखों, सत्य पर प्रहार हो नहीं सकता, हो नहीं सकता है अपरिचित !

महेन्द्र—तुम यह क्या बोल रहे हो ?

आहत—मैं जो बोल रहा हूँ उसके समझने में अब अधिक देर तुम्हें नहीं लगेगी, मेरे प्राण-रक्षक !

महेन्द्र—उफ, जहाँ जाता हूँ, वहीं......

आहत—वहीं भिक्षु मिलते हैं; क्यों ? किन्तु इसमें बुरा क्या है अपरिचित ? घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार को छोड़ कर बहुतों के हित के लिए, बहुतों के सुख के लिए अपने को उत्सर्ग कर देना क्या बुरा है ?

महेन्द्र—तुम लोग कायरता फैला रहे हो, नपुंसकता फैला रहे हो। तुम हमारे देश को रसातल में लिये जा रहे हो भिक्षु !

आहत—वीरता क्या सिर्फ तलवार भाँजने में हैं अपरिचित ? किसी निर्बल देश पर चढ़ दौड़ना, किसी शान्त जनपद को रौंद डालना, कितने निरीह प्राणियों की हत्या करना, शहरों को लूटना, गाँवों को जलाना— क्या तुम वीरता इसी को समझते हो, मेरे प्राणरक्षक ? यह वीरता नहीं, बर्बरता है । यह विजय नहीं, अभिशाप है !

महेन्द्र—विजय! विजय ! आह! विजय क्या वस्तु है, तुम क्या समझो भिक्षु ? (उसासें लेता है)

आहत—विजय ! विजय ! विजय कौन नहीं चाहता है, अपरिचित ? किन्तु सवाल यह है कि विजय कहाँ—शरीर पर या मन पर, तलवार के जोर से या प्रेम के बल पर ? विजय ! विजय को तो सारा संसार पड़ा है, किन्तु विजेता कहाँ दिखाई पड़ता है अपरिचित ?

महेन्द्र—(आवेश में) विजेता कहाँ ? यह तुम किसके सामने बोल रहे हो भिक्षु !

आहत—एक ऐसे व्यक्ति के सामने, जो मुझसे भी अधिक घायल है ! मैं तो यह जानता हूँ कि घाव कहाँ लगा है, किन्तु जो यह भी नहीं जानता कि उसका घाव कहाँ है; किन्तु पीड़ा से जो पागल बना है ! तुम जो कोई भी हो, मेरा आशीर्वाद लेते जाओ प्राणरक्षक—भगवान तथागत तुम्हें शान्ति का मार्ग शीघ्र प्रदर्शित करें !

महेन्द्र—शान्ति मरण है ।

आहत—हाँ, शान्ति मरण है। ऊपर की शान्ति मरण है। किन्तु भीतर की शान्ति जीवन है, अपरिचित! तुम्हें वह जीवन-दायिनी, अमरतादायिनी शान्ति मिले।

महेन्द्र—नहीं, नहीं, ! भिक्षु, मुझे शान्ति नहीं, विजय चाहिए। (वहाँ से उद्विग्न होकर बड़बड़ाता हुआ चल देता है) मुझे विजय चाहिए, विजय.......विजय......विजय........!

६

[कुमार महेन्द्र का कक्ष—सम्राट् अशोक का प्रवेश]

महेन्द्र—पिताजी! (चरण छूता है)

अशोक—तुम्हारे लिए विजय का सन्देश लाया हूँ, प्यारे बेटे!

महेन्द्र—(आनन्द-विभोर होकर) विजय का सन्देश! विजय का...विजय! विजय! पिताजी, पिताजी, यह क्या सुन रहा हूँ? विजय का सन्देश?

अशोक—हाँ महेन्द्र, विजय का सन्देश! सिंहल-विजय का!

महेन्द्र—सिंहल-विजय का? अहा! पिताजी, पिताजी! कितने दिनों से मैं यह आकांक्षा हृदय में पोसे हुए था! सिंहल-विजय—उस लंका पर विजय, जिसपर विजय प्राप्त कर राम ने इतनी कीर्ति कमाई! अहा! एक बार फिर उसके स्वर्ण-सौध पर हमारी विजय-पताका फहरायगी! पिताजी, पिताजी, कब जाना है उस ओर?

अशोक—जब चाहो। वहाँ से निमंत्रण आया है।

महेन्द्र—(साश्चर्य) निमंत्रण! किसने निमंत्रण भेजा? क्या लंका में हर युग में विभीषण पैदा होते रहेंगे? उफ् रे अभागा द्वीप!

अशोक—विभीषण वहाँ होता है, जहाँ रावण होता है। अब वहाँ न रावण है; न कोई विभीषण। सिंहल-अधिपति महाराज तिष्य ने स्वयं ही आमंत्रण भेजा है। अभी उनका जल-पोत यहाँ आया है—रत्नों से भरा। इस अमूल्य उपहार के साथ उन्होंने विजय के लिए संदेश भेजा है।

महेन्द्र—उपहार के साथ ! (कुछ उदास होता हुआ) तो उसे मैत्री का सन्देश कहिये पिताजी ! विजय यों आप ही घर नहीं आया करती !

अशोक—क्यों बेटे, क्या विजय के साथ शत्रुता अनिवार्य है ? पुत्र पिता पर, पत्नी पति पर, मित्र मित्र पर विजय प्राप्त करते हैं, तो क्या शत्रुता के ही चलते ? और क्या हृदय की यह विजय सबसे बड़ी विजय नहीं है ? महेन्द्र, महेन्द्र, एक नया युग प्रारम्भ हो रहा है, प्यारे बेटे ! एक नया इतिहास लिखा जा रहा है। क्या उस इतिहास में महेन्द्र का नाम नही होगा—महेन्द्र का, वीरवर महेन्द्र का, विजेता महेन्द्र का ?

महेन्द्र—पिताजी, आप क्या कह रहे हैं ? समझ में नहीं आता।

अशोक—जानता हूँ बेटे, जानता हूँ। मेरा बेटा इन दिनों कितना उद्विग्न है, कितना विह्वल है, कितना व्याकुल है—क्या मैं नही जानता ? क्या बाप अपने बेटे की भावनाओं से अपरिचित रह सकता है ? किन्तु क्या करूँ, यह समझ में नहीं आ रहा था। मेरे बेटे को विजय चाहिये—विजय, विजय ! जिस विजय की खोज में वह निस्तब्ध रात्रि में गंगा-तट पर विक्षिप्त-सा घूमा करता है !

महेन्द्र—यह किसने आपसे कहा पिताजी ?

अशोक—(उसके प्रश्न से उदासीन) और यह भी एक संयोग कि अन्धकार में प्रकाश की रेखा खोजने वाली दो आत्मायें एक दिन उस तट-भूमि पर अचानक मिलीं.....

महेन्द्र—कौन किससे मिला पिताजी ?

अशोक—कुमार महेन्द्र मिले महास्थविर मौग्गलिपुत्र से।

महेन्द्र—ऐं ! तो वह महास्थविर थे, जिनपर आघात किया गया था ?

अशोक—हाँ, महेन्द्र ! तुम्हारी मनोवृत्ति से उन्हें भी कम कष्ट नहीं हो रहा है। तुम कोई साधारण आदमी तो नहीं हो कि जिसकी उपेक्षा की जाय। बड़ा आदमी जो कानोंकान कहता है, वह भी गंभीर घोष बनकर जनसाधारण के निकट पहुँच जाता है। तुम्हारी विरोध-भावना कितनी बड़ी है, तुमने उस रात में स्वयं देखा जब कुछ दुष्टों ने गुरुदेव को मारने की चेष्टा की....

महेन्द्र—ओह ! ओह ! .....

अशोक—'विजय' 'विजय' 'विजय' चिल्लाते तुम भागे। तबसे गुरुदेव इस पर विचार कर रहे थे कि अचानक विजय का यह सन्देश पहुँचा और गुरुदेव ने मुझे यहाँ भेजा है।

महेन्द्र—गुरुदेव ने आपको भेजा है?

अशोक—हाँ, गुरुदेव ने।

महेन्द्र—यह भी उनकी चाल है पिताजी! मैं उनके घपले में नहीं आ सकता, नहीं आ सकता।

अशोक—उत्तेजित मत हो बेटे! सत्य की सबसे पुरानी और बड़ी शत्रु है पूर्वधारणा। पिछली धारणाओं और मान्यताओं को छोड़ कर ही हम सत्य तक पहुँच सकते हैं। तनिक इस पर विचार करो, गहरे उतर कर विचार करो। फिर कहता हूँ बेटे, एक नया युग प्रारम्भ हुआ है, एक नया इतिहास लिखा जा रहा है। उस इतिहास में अपने महेन्द्र का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा देखूँ, मेरी यही आकांक्षा है और मेरी आशा है, मेरा बेटा इस आकांक्षा की पूर्ति करके मेरे हृदय को आह्लादित और पुलकित करेगा।

महेन्द्र—पिताजी!

अशोक—विजय हमने कलिंग में भी प्राप्त की थी, किन्तु यह सिंहल-विजय इतिहास में अपूर्व होने जा रहा है, मेरे बेटे! विचार करो, सोचो और विजय के लिए प्रस्थान करो—तुम्हारा पथ सदा मंगल-मय होगा!

७

[कुणाल का कक्ष। महेन्द्र और कुणाल में बातें हो रही हैं]

महेन्द्र—मैं सिंहल-विजय को जा रहा हूँ, कुणाल!

कुणाल—सिंहल-विजय को?

महेन्द्र—हाँ, पिताजी मुझे भेज रहे हैं!

कुणाल—तो क्या धर्म का, संघ का भूत उतर गया? अच्छा हुआ भैया, अच्छा हुआ! घंटे-घड़ियाल के नीचे मेरी वीणा का स्वर ढँका जा रहा था।

महेन्द्र—जो आ जाता है, वह जल्द जाता नही है कुणाल! फिर यह कोई साधारण वस्तु तो है नहीं; यह एक ज्वार है, ज्वार! ऐसा ज्वार जो किसी चन्द्रमा पर निर्भर नही; जो किसी तिथि से बँधा नहीं। शताब्दियों, सहस्राब्दियों के बाद ऐसा ज्वार आता है और जब आता है तो किसी गजराज की क्या बात, गिरिराज का सिर भी उन्नत नहीं रहने देता! वह सारे संसार पर छा जाता है। नदी, नाले, खड्ड, खाई, टीले-टेकड़ी, कछार और घाटी सबको एक कर देता है। तुम देख नही रहे कुणाल ?

कुणाल—इतना बड़ा सत्य और न देखूँ! लेकिन सोचता था, भैया एक ऐसा वज्र-शिखर हैं जिसपर टकराकर यह ज्वार अपनी व्यर्थता का अनुभव कर लेगा।

महेन्द्र—मैं भी ऐसा ही समझता था, सोचता था। मैंने उसकी तरंगों से युद्ध भी कम नहीं किया। किंतु देख रहा हूँ कुणाल, तरंगों से लड़ते हुए डूब मरने में जीवन की सार्थकता नहीं, भले ही इतिहास में उसका उल्लेख हो। जब ज्वार आता है, तो उसकी तरंगों पर चढ़कर, उसके संदेश को दूर-दूर तक ले जाने में, पहुँचाने में ही विश्व का अधिक कल्याण है कुणाल!

कुणाल—तो आप सिंहल में उस ज्वार का संदेश लिये जा रहे हैं—और उसीको कहते हैं सिंहल-विजय!

महेन्द्र—हाँ, कुणाल! यह भी विजय है। जब युग बदलता है, भाषा भी बदलती है; पुरानी भाषा का अर्थ भी बदलता है। नये युग की विजय का, नई विजय का, अर्थ भी नया होगा। भाषा को बदलने में महेन्द्र का भी नाम रहे—इसलिए यह विजय-यात्रा! मैं एक नया प्रयोग करने जा रहा हूँ, कुणाल। हाँ, नया प्रयोग—बिलकुल नया प्रयोग! और मुझे लगता है, यदि यह प्रयोग सफल हुआ, तो संसार के इतिहास में एक स्वर्ण-युग का सुप्रभात होगा।

कुणाल—स्वर्ण-युग का सुप्रभात। वह तो कभी न कभी होकर रहेगा भैया! मेरी कला भी यही कहती है। किंतु मुझे लगता है, उस सुप्रभात के लाने में शायद कितने ही अमूल्य प्राणों की बलि देनी पड़े और कितनी ही शताब्दियाँ...........

महेन्द्र—सहस्राब्दियाँ कहो, कुणाल! असीम काल में शताब्दियों और सहस्राब्दियों की क्या गणना है? और जितना लम्बा प्रयोग होगा, उतनी ही गहराई का सत्य प्रकाश में आयगा।

कुणाल—भैया, कलिंग-विजय के अवसर पर आपने मुझे आमंत्रित किया था, क्या सिंहल-विजय—

महेन्द्र—नहीं, नहीं, कुणाल! तुम्हें यहीं रहना है। मित्रा भी मेरे साथ जा रही है न!

कुणाल—(चौंककर) क्या? मित्रा! मित्रा भी जा रही है? मित्रा सिंहल जा रही है!

महेन्द्र—हाँ, मित्रा भी जा रही है संघमित्रा बनकर। वह जल-पथ से जा रही है और मैं थल-पथ से। तुम तो जानते ही हो, पहाड़ों को रौंदने, अरण्यों को चीरकर आगे बढ़ने में मुझे सदा आनंद प्राप्त होता रहा है। विन्ध्या की चोटियाँ, किष्किन्धा की तलेटियाँ—इन्हें रौंदते आगे बढ़ो; हाँ, राम भी तो थल-पथ से ही गये थे! और रास्ते में विदिशा में जाकर माताजी के चरणों का दर्शन भी कर लेने का विचार है!

कुणाल—माताजी! उफ, भाई जा रहे हैं, बहिन जा रही है। अकेला मैं यहाँ! भैया, माताजी से कहियेगा कि वह राजधानी लौटें! मुझ पर कृपा करें!

महेन्द्र—भूल करते हो कुणाल, भूल करते हो। अभी पाटलिपुत्र में जो प्रयोग चल रहा है, अच्छा है, माताजी उससे दूर ही रहें। तुम माता का हृदय नही जानते। सोचो, आज यहाँ माताजी होतीं! और अभी क्या हुआ है? मैं देख रहा हूँ, अभी बहुत कुछ होना शेष है। देखना, सम्हल कर रहना मेरे छोटे भाई!

कुणाल—(करुण स्वर में) भैया!

महेन्द्र—तुम्हारी कला पीड़ित मानवता को शान्ति का संदेश दे, यही आशीर्वाद दिये जा रहा हूँ, कुणाल!

८

[विन्ध्या की घाटी: चट्टानों पर चढ़ते-चढ़ते भिक्षुओं की मंडली थक जाती है—महेन्द्र से उनकी बातें होती हैं]

पहला भिक्षु—कुमार, कुमार! हम लौट चलें। न जाने अभी सिंहल कहाँ है? हम थक गये कुमार!

महेन्द्र—थक गये? हम थक गये हैं? कहीं विजय के लिए प्रस्थान की हुई सेना भी थकती है?—थकती है? रुकती है? लौटती है?

दूसरा भिक्षु—नहीं कुमार, नहीं! आगे बढ़ने की हममें न शक्ति रह गई है, न साहस। हमें.......

महेन्द्र—(उत्तेजना में) न शक्ति, न साहस! यह क्या बोल रहे हो भिक्षुओ ? न शक्ति, न साहस ! छिः छिः क्या तुम्हारी धमनियों में बहनेवाली रक्त-धारा सूख गई? क्या तुम्हारी छाती में स्फुरण पैदा करने वाली धड़कनें रुक गई? न शक्ति, न साहस! तब तुम इस विजय-अभियान में सम्मिलित ही क्यों हुए थे? क्या विजय के मार्ग को तुमने फूलों का मार्ग समझ लिया था? फूलों का मार्ग—तब तुम पाटलिपुत्र के विहारों में रहकर क्यों नहीं आनंद मनाते रहे, मंत्र बुदबुदाते रहे? तुम भिक्षु नहीं, निकम्मे हो, भगोड़े हो; जो संसार से भागकर विहारों में विहार करने चले थे !

पहला भिक्षु—आप भिक्षुओं का अपमान कर रहे हैं, कुमार!

महेन्द्र—भिक्षुओं का अपमान मैं नही कर रहा हूँ, बल्कि वे भिक्षु कर रहे है जो लक्ष्य की ओर पग उठाकर, अब विघ्न-बाधाओं को देख, पीछे मुड़ना चाहते है। सत्य-पथ पर चलने वाले कायर नहीं होते। जो लक्ष्य-पथ के मध्य में मुड़कर देखें, वे कायर हैं, पातकी हैं, नारकी है! ऐसे लोग न गृहस्थ है, न भिक्षु—दोनोंके लिए कलंक हैं! कलंक! कलंक........

दूसरा भिक्षु—कुमार, वीरता की भी सीमा होती है !

महेन्द्र—होती है, भिक्षुओ, होती है! वीरता की सीमा होती है बलिदान! वीर या तो लक्ष्य पर पहुँचते हैं, या बलि हो जाते हैं। हम चल चुके हैं, या तो सिंहल पहुँचेंगे या रास्ते में मर मिटेंगे। सिंहल, सिंहल! ओह! भिक्षुओ, क्या तुम सुन नहीं रहे—सिंहल तुम्हें पुकार रहा है! भिक्षुओ, क्या तुम देख नहीं रहे—सिंहल तुम्हें बुला रहा है! (एक चट्टान पर चढ़कर) अरे; सुनो, वह सिंहल तुम्हें पुकार रहा है। देखो, वह समुद्र लहरा रहा है! वह देखो लंका के स्वर्ण-सौध चमक रहे हैं ! वे तुम्हें पुकार रहे हैं, भिक्षुओ ! भिक्षुओ, तुमने यह क्या कह दिया कि हम थक गये हैं? थकावट! जब तक हमारे कान हमारे पद-चाप गिनने और नेत्र रास्ते की ऊँचाई-नीचाई निहारते रहेंगे, तब तक थकावट आयगी ही, अवसाद

आयगा ही! अरे, हम लक्ष्य की पुकार सुनें; हम लक्ष्य का संकेत देखें! फिर कहाँ थकावट? फिर कहाँ अवसाद? बढ़ो भिक्षुओ, बढ़ो—

पहला भिक्षु—(उत्साह में) हम बढ़ेंगे कुमार, हम बढ़ेंगे।

दूसरा भिक्षु—(पश्चात्ताप में) हम धोखे में थे, कुमार, धोखे में। अहा, हम सुन रहे हैं—लंका हमें पुकार रही है। अहा, हम देख रहे हैं, लंका के स्वर्ण-सौध हमें इंगित से बुला रहे हैं।

महेन्द्र—हमारे लिए यह अभूतपूर्व अवसर आया है भिक्षुओ। लंका राम भी गये थे—बानरी सेना लेकर, उसे जलाने के लिए, उसका संहार करने के लिए! दूसरी बार हम जा रहे हैं, मानवी सेना के साथ, लंका में से रही-सही राक्षसता दूर करने के लिए, उसे शांति-धर्म की शिक्षा देने के लिए। विजय राम की भी हुई; किंतु हमारी यह विजय इतिहास में एक नया अध्याय लिखने जा रही है, भिक्षुओ!

सभी भिक्षु—हम बढ़ें! हम बढ़ते चलें! बढ़ते चलें! बढ़ते चलें! बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय!

६

[लंका की तटभूमि :: भिक्षुओं के साथ महेन्द्र]

महेन्द्र—अन्ततः हम लंका पहुँच गये, भिक्षुओ! भिक्षुओ, वह देखो, अहा!

एक भिक्षु—उफ, हमें कितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं!

महेन्द्र—सत्य के पथ में कठिनाइयाँ आती ही हैं, भिक्षुओ! फूलों से जो पथ बिछे हों, मानना चाहिए; उनमें कहीं मिथ्या अवश्य छिपी है।

दूसरा भिक्षु—अब हम महाराज तिष्य को समाचार दें।

महेन्द्र—सत्य अपने साधक को स्वयं खींच लेता है भिक्षुओ! हम थोड़ा आश्वस्त तो हो लें।

(भागते हुए हिरन का शब्द)

पहला भिक्षु—अरे, यह क्या? यह हिरन भागा आ रहा है।

दूसरा भिक्षु—अरे, तीर लगे हैं उसे। किस तरह रक्त की बूंदे पथ पर लकीर बनाती जा रही हैं! आह!

महेन्द्र—ओहोहो! इसकी रक्षा करो, भिक्षुओ।

(सहसा सिंहल-नरेश तिष्य का प्रवेश)

महाराज तिष्य—आप लोग? आप लोग कौन हैं? यह मेरा आखेट.......

महेन्द्र—मेरा आखेट! तुम्हारा आखेट! आखेट, आखेट! आदमी कब तक आखेट करता रहेगा? कब तक? बोलो महाराज! कब तक?

महाराज तिष्य—महाराज! ओहो! आपने यह सम्बोधन कैसे किया?

महेन्द्र—आदमी अब तक यही करता आया था, महाराज तिष्य! निरीह प्राणियों के प्राण लेने मे, निर्बलों को सताने में ही उसने अपनी वीरता की पराकाष्ठा समझी थी। किंतु एक नया संदेश संसार पर छाता जा रहा है.......

महाराज तिष्य—नया संदेश? क्या आप पाटलिपुत्र से आ रहे हैं? सम्राट् अशोक......

पहला भिक्षु—आपके सामने सम्राट् अशोक के सुपुत्र कुमार महेन्द्र खड़े हैं!

महाराज तिष्य—कुमार महेन्द्र ! और ! यह काषाय वस्त्र ?

महेन्द्र—सारा भारत ही काषाय वस्त्र से तप रहा है, महाराज ! राजभवन से झोपड़ी तक को यह काषाय वस्त्र प्रभासित कर रहा है, महाराज तिष्य !

महाराज तिष्य—कैसे आये आपलोग यहाँ तक! हम तो प्रतीक्षा में ही थे।

महेन्द्र—आप ही बतायें, हम कैसे आये?

महाराज तिष्य—मेरे प्रश्न का अभिप्राय है, थल-मार्ग से या जल-मार्ग से?

महेन्द्र—क्या मार्ग सिर्फ ये दो ही हैं? सिंहलनरेश, धर्म का मार्ग इन दोनों से भिन्न भी हो सकता है!

महाराज तिष्य—अब मुझे विश्वास हुआ। मेरा अभिवादन स्वीकार करें और हमारी राजधानी में पधार कर सिंहलवासियों को कृतकृत्य करें।

पहला भिक्षु—महाराज, कुमारी संघमित्रा जल-पथ से पधार रही हैं! वह अपने साथ बोधिवृक्ष की एक शाखा उपहार के लिए ला रही हैं—भारत ने यही उपहार सिंहल के लिए भेजना उचित समझा है।

महाराज तिष्य—अहा, आज सिंहल के भाग्य खुले! बोधिवृक्ष की शाखा! या सत्य की विजय-पताका! यह पताका सिंहल पर युग-युग तक फहराती-लहराती रहे!

१०

[बोधिवृक्ष के नीचे महेन्द्र और संघमित्रा—संध्या समय—घंटा-घड़ियाल आदि के शब्द—धीरे-धीरे शान्ति]

महेन्द्र—पाँच वर्ष हो गये हमें आये हुए मित्रे!

संघमित्रा—हाँ, भैया, पाँच वर्ष!

महेन्द्र—तुम से 'भैया' नहीं छूटा! हः हः हः; अच्छा हुआ कि संघ ने तुम्हें इसके लिए आज्ञा दे दी है!

संघमित्रा—भैया, सात समुद्र पार इस देश में हृदय थोड़ा अपनापा खोजता ही है। हाँ, पाँच वर्ष हो गये हमें यहाँ आये!

महेन्द्र—और, इन पाँच वर्षों में ही कैसी कायापलट हो गई है इस सिंहल की! विजय, यथार्थ विजय यही है, संघमित्रे! विजय, जिसमें एक बूंद रक्त नहीं बहाया जाय। विजय, जिसमें पराजय का कहीं नाम भी नहीं हो! विजय, जहाँ विजेता और विजित में अन्तर नहीं रह जाय! कहाँ कलिंग-विजय! कहाँ यह सिंहल-विजय!

संघमित्रा—कलिंग में तो हम जीते नही, हारे थे भैया; हमारी यथार्थ विजय तो हुई है इस सिंहल में। विजय, जिसमें विजित के

हृदय में विजेता के प्रति घृणा न हो; विजय, जिसमें विजेता की आकांक्षा हो अधिक से अधिक सेवा करना और जिसमें विजित की आकांक्षा हो विजेता को अपने हृदयासन पर बिठाये रखना! सचमुच, यही विजय यथार्थ विजय है भैया!

महेन्द्र—यह अन्तिम बात तुमने पते की कही मित्रे! देखो न, ये हमें अपने देश को वापस भी नहीं जाने देते! जब-जब मैंने चर्चा चलाई कि अब हम भारत लौटेंगे इन्होंने कैसी उदासी प्रकट की और हमें स्नेहाभिभूत कर के रोक ही दिया!

संघमित्रा—भैया, यदि मुझे ये भगाना भी चाहें, तब भी मैं लंका नहीं छोड़ सकती। मेरा मन तो इस भूमि में रम गया है! भूमि कितनी सुन्दर, लोग कितने सरल! किसने इन्हें राक्षस कहा ?

महेन्द्र—जिन्होंने राक्षस कहा, उनकी सीता यहाँ बन्दिनी बनी! हमने इन्हें मानवता का संदेश दिया, हमारी संघमित्रा यहाँ की पूज-नीया देवी बन गई है!

(महाराज तिष्य का आगमन)

महाराज तिष्य—हाँ, हाँ, देवी संघमित्रा हमारी पूजनीया देवी हैं और कुमार महेन्द्र हमारे आदरणीय देवता। हमने अपनी इस देवी और इस देवता के लिए—जब तक वे हमलोगों की तरह चलते-फिरते हैं—अपने हृदय में सिंहासन बना रखा है! और, जब वे इहलीला समाप्त करेंगे, तब के लिए देखिये कुमार, वहाँ, उस सुन्दर प्रदेश में हमने 'ऋषि-भूमि-अंगन' सजा कर रखा है! उनकी समाधि के फूल भी युग-युग तक हमारे लिए उतने ही वंदनीय, पूजनीय होंगे!

[**पटाक्षेप**]

शकुन्तला

[रेडियो रूपान्तर]

१

[रथ की घर्रघर्र, घोड़े की टाप और हिरन की चौकड़ी के शब्द]

दुष्यन्त—उफ, यह हिरन कितनी दूर तक हमें खींच लाया, सारथि! अरे—देखो, देखो, कितना सुन्दर! गर्दन को मोड़कर यह बार-बार हमारे रथ को देखता है; तीर लग जाने के भय से शरीर के पिछले भाग को जैसे अगले भाग में घुसा लेना चाहता है; थकावट के कारण उसका मुँह खुल जाने से आधी-आधी चबाई घासों से रास्ता भर रहा है और, ओर, ऊँची-ऊँची छलाँग भरता हुआ यह उड़ता-सा ही दीखता है। (साश्चर्य) ओहो! अब तो यह मुश्किल से दिखाई पड़ता है, सारथि!

सारथी—जमीन ऊँची-नीची है, इसलिए रास खींचकर रथ की गति धीमी कर दी थी, महाराज! अब समथर भूमि आई है, हिरन जायगा कहाँ?

दुष्यन्त—तो रास ढीली कर दो।

सारथी—जैसी आज्ञा, महाराज! (रथ में तीव्र गति) अहा, देखिये, देखिये, महाराज,—रास ढीली करते ही ये घोड़े ऐसे भगे कि इनके सूमों से उठी धूल भी इन्हें नहीं पकड़ पाती; चाल ऐसी सम है कि सिर की कलँगी तक नहीं हिलती-डुलती; अहा, अपने दोनों कानों को उठाये-सटाये ये इस तरह जा रहे हैं कि समझ में नहीं आता कि ये दौड़ रहे हैं या तैर रहे हैं!

दुष्यन्त—(सानन्द) ओहो, हमारे घोड़ों ने हिरन को भी मात दे दी—जो पहले सूक्ष्म दीखती थी, वह अचानक स्थूल हो रही है,

जो बीच से कटी-सी मालूम होती थी, वह जुड़-सी रही है; जो स्वभावतः ही टेढ़ी थी, वह सीधी दीखने लगी है; रथ की गति ऐसी क्षिप्र है कि इसका निर्णय कठिन हो रहा है कि कौन-सी चीज नजदीक और कौन-सी चीज दूर है।

सारथी—देखिये, वह सामने हिरन है—निशाना लगाइये।

दुष्यन्त—अभी-अभी......

(दूर से एक तपस्वी के शब्द)

तपस्वी—रुको! रुको महाराज! यह आश्रम का मृग है—इसे मत मारो; मत मारो!

सारथी—महाराज, आपके वाण और मृग के बीच म आश्रम के दो तपस्वी खड़े हैं।

दुष्यन्त—(ससम्भ्रम) रास खींचो, रथ खड़ा करो!

सारथी—जैसी आज्ञा महाराज!

(एक तपस्वी अपने शिष्य के साथ)

तपस्वी—महाराज, यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारिये, मत मारिये! कहाँ वज्र के समान आपके तीखे वाण और कहाँ हिरन के चंचल प्राण! रूई के गोदाम में आग फेंकना और इन हिरनों के कोमल शरीर पर वाण मारना—दोनों एक हैं महाराज! आप ऐसे प्रतापी राजा के वाण आर्त्तों की रक्षा के लिए होने चाहिए न कि निरपराधों की हत्या के लिए! धनुष से वाण उतारिये, महाराज!

दुष्यन्त—प्रणाम तपस्विवर! आपकी आज्ञा सिर-आँखों पर!

तपस्वी—पुरुवंश की मर्यादा के अनुरूप ही आपकी यह नीति है महाराज! भगवान आपको चक्रवर्ती पुत्र दें!

तपस्वी का शिष्य—हाँ, आपको चक्रवर्ती पुत्र ही प्राप्त हो।

दुष्यन्त—ब्राह्मण का आशीर्वाद सिर झुकाकर ग्रहण करता हूँ।

तपस्वी—महाराज, हमलोग यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के लिए समिधा लेने जा रहे हैं। यह देखिये, मालिनी के तट पर हमारे कुलपति महर्षि का आश्रम दिखाई पड़ रहा है। यदि कोई हर्ज न हो, तो वहाँ जाकर आतिथ्य ग्रहण करें और देखें कि वाणों के घर्षण से आपकी जिन भुजाओं में घिस्से पड़ गये हैं, वे ऋषियों की तपश्चर्या को किस प्रकार निर्विघ्न सम्पन्न करा रही हैं।

दुष्यन्त—क्या वहाँ कुलपति हैं?

तपस्वी—अभी-अभी अतिथि-सत्कार का भार अपनी कन्या शकुन्तला को सौंपकर वह उसके भाग्य की बुरी रेखा को मिटाने के लिए सोमतीर्थ गये है!

दुष्यन्त—अच्छा, तो मैं जा रहा हूँ; वह मेरी भक्ति देखकर ऋषि से निवेदन कर देगी, ऐसी आशा है।

तपस्वी—हमलोग भी चलते हैं, महाराज! जय हो! जय हो!

दुष्यन्त—सारथी, रथ को बढ़ाओ!

सारथी—जैसी आज्ञा!

दुष्यन्त—अहा, बिना कहे ही यह ज्ञात हो जाता है कि हम तपोवन में आ गये हैं, सारथि! खोंते में बैठे हुए सुग्गों के बच्चों के मुँह से गिरी धान की बालियाँ पेड़ों के नीचे बिखरी पड़ी हैं, ईंगुदी की फलियाँ तोड़ने से चिकने बने पत्थर के टुकड़े जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ते हैं, हिरनों में इतना विश्वास है कि वे हमारे रथ के घर्रघर्र शब्द सुनकर भी चौंकते नहीं हैं और नदी-तट के मार्ग पर वल्कल से चूए जल से रेखाएँ-सी खिंच गई हैं!

सारथी—हाँ, महाराज!

दुष्यन्त—और भी देखो—हवा से चंचल बनी लहरियों से तट-भूमि के वृक्षों की जड़ें धुली-पुँछी हैं; यज्ञाग्नि के धूएँ से किसलय की लालिमा और ही रंग की हो गई है और जिनसे कुश के अंकुर उखाड़ लिये गये हैं, ऐसी उपवनभूमि में हिरन के बच्चे किस तरह निश्शंक होकर धीरे-धीरे चर रहे हैं!

सारथी—बहुत ही सही कह रहे हैं, महाराज!

दुष्यन्त—सारथि, अब रथ रोक दो और लो यह मेरे धनुषवाण और राजकीय वस्त्राभूषण! आश्रम में विनीत भाव से ही प्रवेश करना चाहिए न?

सारथी—हाँ, हाँ, महाराज!

दुष्यन्त—और जबतक मैं आश्रमवासियों के दर्शन करके लौटूँ, तब तक तुम घोड़ों को भी ठंडा कर लो।

सारथी—जैसी आज्ञा महाराज की।

(आश्रम में प्रवेश)

दुष्यन्त—यह आश्रम है! अरे, यह क्या? इस शान्त तपोवन

में दाहिनी भुजा क्यों फड़क उठी? यहाँ इसकी सार्थकता? या होन-हार के लिए हर जगह दरवाजा खुला रहता है।

दूर से शब्द—इधर, इधर आओ, सखियो!

दुष्यन्त—ओहो, यह कैसी आवाज! यह तो दाहिने ओर की वृक्षों को झुरमुट से आ रही है। तो उधर ही चला जाय। (बहुत दूर बढ़कर) ये तो ऋषिकन्यायें हैं। किस तरह अपने प्रमाण के अनुरूप छोटे-बड़े घड़े लिए पौदों को सींचने के लिए आ रही हैं! कितनी सुन्दर लग रही हैं ये! जो रूप महलों में भी दुर्लभ है, उसकी आश्रम में ऐसी बहुलता! अहा, वन-लताओं ने उद्यान-लताओं को भी परास्त कर दिया। खैर, इस छाया-तले खड़ा होकर जरा चुपके-चुपके उन्हें देखूँ तो!

(सखियों सहित शकुन्तला का प्रवेश)

एक सखी—अरी शकुन्तले! मालूम होता है तात कण्व को तुमसे अधिक प्रिय हैं ये आश्रम-वृक्ष! तभी तो नवमल्लिका की कोमल कुसुम-कलिका-सी सुकुमार तुमपर इन्हें सीचने का भार सौंपा है उन्होंने।

शकुन्तला—बहन अनुसूये, केवल पिता की आज्ञा ही नहीं है, मेरा भी तो इनपर सहोदर जैसा स्नेह है!

दूसरी सखी—सखी शकुन्तले, ग्रीष्मकाल में फूल देनेवाले आश्रम-वृक्षों को तो तुम सींच चुकी; अब हम उन वृक्षों को सींचें जिनका फूल देने का समय बीत चुका। निष्काम कर्म महान् फलदायक समझा जाता है न?

शकुन्तला—प्यारी प्रियम्वदे, तुम्हारी राय बड़ी ही रमणीय है!

दुष्यन्त—क्या यही कण्व-तनया शकुन्तला है? तो भगवान कण्व, क्षमा करें, आप में दूरदर्शिता का नितान्त अभाव है। ऐसी कन्या और उसे आश्रम-कर्म में नियुक्त कर रखा है आपने? ऐसे स्वाभाविक मनोहारी शरीर से जो तपस्या की साधना की इच्छा रखता है, वह मानों नील कमल के पत्ते की धार से शाल का पेड़ काटना चाहता है! जो हो, मैं इस पेड़ की आड़ से इस रूप का रसपान करूँ! (छिप-कर खड़ा होता है)

शकुन्तला—बहन अनुसूये, उफ, प्रियम्वदा ने वल्कल को किस तरह कसकर बाँध दिया है; मुझे कष्ट हो रहा है, जरा इसे ढीला तो कर दे सखि!

प्रियम्वदा—(हँसती हुई) अरी, मुझे क्यों दोष दे रही है; दोष दे अपनी जवानी को जो क्षण-क्षण तुम्हारे वक्षस्थल को विशाल और विस्तृत बनाये जा रही है!

दुष्यन्त—(कुंज से) ठीक ही कह रही है यह प्रियम्वदा। अहा, काँधे पर बँधी हुई महीन गाँठवाले और दोनों स्तनों को बिल्कुल ँक रखनेवाले इस वल्कल से उसकी नई जवानी अपनी पूरी शोभा उस प्रकार नहीं दिखा पाती है जैसे पीले पत्तों के दोनों में रखे हुए फूलों की एक झलक मात्र ही हमें प्राप्त होती है! लेकिन क्या ऐसा कहना भी उचित है? सेवार से घिरी हुई कमलिनी और भी सुन्दर लगती है और दागों से भरे चन्द्रमा की मलिन चाँदनी और भी खिलती है! यों ही इन वल्कल में भी यह तन्वी मनोरम ही लगती है—भला, सौन्दर्य के लिए शृंगार क्या चीज? और, एक बात और भी—इस मृगनयनी के लिए निस्संदेह यह वल्कल कठोर है, तो भी यह सुन्दर ही लगता और मन में जरा भी रुचि-भंग नहीं लाता है, जैसे विकसित कमलिनी जब जल से ऊपर सिर उठाती है तो उसके कर्कश वृंतजाल उसकी शोभा में और भी वृद्धि कर देते हैं!

शकुन्तला—सखियो, यह आम का पेड़ हवा से हिलती हुई अपनी पत्तियों की उँगलियों से, जैसे कुछ कहने को, हमें बुला रहा है! चलो, जरा उसका मान रख दें! (जाती है)

प्रियम्वदा—यहाँ आई, तो थोड़ी देर यहाँ खड़ी रहो सखि! देखती नहीं, तुम्हारे निकट रहने से यह आम का वृक्ष इस तरह सनाथ हो रहा है जैसा कि उसने लता ही पा ली हो!

दुष्यन्त—(कुंज से) प्रियम्वदा सच कह रही है। इस बाला के लाल-लाल अधर किसलय हैं, दोनों बाहुएँ शाखाएँ हैं और फूल के समान प्रलोभक यौवन इसके अंग-अंग में खिला पड़ता है!

अनुसूया—प्यारी शकुन्तले, क्या तुम भूल गई कि इस आमवृक्ष की वधू यह नवमल्लिका है, जिसने स्वयं इसे बरा है और जिसे तुमने वन-तोषिणी अभिधा दे रखी है!

शकुन्तला—यदि इसे भूलूँ, तो अपने को भूल जाऊँ सखि! अहा, इन दोनों के सम्मिलन का शुभ मुहूर्त्त जैसे निकट आ गया है! नवमल्लिका नई कलियों से लद-सी गई है और आम वृक्ष फलों के बोझ से विह्वल-सा बन रहा है!

प्रियम्वदा—शकुन्तला को यह वन-तोषिणी क्यों पसंद है, जानती हो सखि अनुसूये!

अनुसूया—क्यों? जरा सुनाओ तो।

प्रियम्वदा—इसलिए कि जिस तरह इसे अनुरूप वृक्ष मिला, उसी तरह मुझे भी अनुरूप वर मिले!

शकुन्तला—यह तुम्हारे अपने मन की बात है, प्रियम्वदे!

अनुसूया—ओहो, इस नोकझोंक में इस माधवी-लता को तुम भूली जा रही हो शकुन्तले!

शकुन्तला—जिसे पिताजी ने मेरे साथ ही सींच-सींचकर बड़ा किया है, उसे, और भूल जाऊँ? (साश्चर्य) किन्तु सखि, अरे, यह क्या? असमय में ही नीचे से ऊपर तक क्यों फूलों से लद गई है यह माधवी-लता?

प्रियम्वदा—क्योंकि तुम्हारा व्याह शीघ्र होनेवाला है। ओहो, मुहँ क्यों बना रही है? तात कण्व ने ही तो एक बार ऐसा कहा था!

दुष्यन्त—(कुंज से) क्या यह ऋषि कण्व की किसी दूसरे वर्ण से उत्पन्न हुई कन्या है? मुझे ऐसा लगता है कि यह क्षत्रियों के ग्रहण करने योग्य है—नहो तो मेरा मन इसकी ओर क्यों आकृष्ट होता? जहाँ संशय का विषय हो, वहाँ अन्तःकरण की स्वतः प्रवृत्तियों को ही प्रमाण बनाना चाहिए न।

(अचानक शकुन्तला चिल्ला उठती है)

शकुन्तला—सखियो, इस दुष्ट भौरे से मुझे बचाओ!

अनुसूया—क्या हुआ, क्या हुआ शकुन्तले!

शकुन्तला—नवमल्लिका के थाले में पानी पड़ते ही यह भौरा भन्न-भन्न करता उड़ा और अब मेरे चेहरे पर चक्कर काट रहा है।

दुष्यन्त—(कुंज से) अहा! भौंरे से अपने-को बचाने में यह कैसी सुन्दर लग रही है। जिस-जिस ओर भौंरा जा रहा है, उस-उस ओर अपने सुन्दर नेत्रों को घुमाती हुई मानो भय के बीच भी यह सुन्दरी अपनी भवों को कमान-लीला सिखा रही है! और, ओ मधुकर! कमाल, कमाल! बार-बार हाथों से हटाये जाने पर भी तू उसके चंचल नेत्रों को चूम ही लेता है, उसके कानों के निकट पहुँचकर अपनी प्रेम-कथा कह ही आता है और, अरे, उसके रति-सर्वस्व अधरों का

रसपान करने से भी तू नहीं चूकता! मैं यहाँ उधेड़बुन में ही रहा और उधर तूने बाजी मार ली!

शकुन्तला—बचाओ सखियो, बचाओ!

दुष्यन्त—(कुंज से) अहा, अब कहाँ भ्रमर-निवारण? यहाँ तो अब बिना साज के ही नृत्य प्रारम्भ हो गया है जैसे! हाँ, हाँ, सारी बातें नृत्य की-सी ही तो हो रही हैं! अपनी भवें आड़ी-तिरछी करती यह अपनी चंचल नजरें इधर-उधर डाल रही है; शरीर का मध्य भाग कुछ टेढ़ा होकर रह-रह कर तरंगायमान बन जाता है, पल्लवों की तरह कोमल-चिकनी हथेलियों और उँगलियों को रह-रहकर झटकार देती है और जब-जब भय से सी-सी कर उठती है तो मालूम होता है आलाप के लिए अभी-अभी उसके अधर खुल रहे हैं!

शकुन्तला—सखियो, सखियो! यह दुष्ट भौंरा नहीं मान रहा! मैं जहाँ भागती हूँ, यह पिंड नहीं छोड़ रहा! बचाओ, बचाओ!

प्रियम्वदा—हम कौन होती हैं तुम्हें बचानेवाली! राजा दुष्यन्त को क्यों नहीं पुकारती जिनके ऊपर इस सारी तपोभूमि की रक्षा का भार है!

दुष्यन्त—मेरे प्रकट होने का यही सुअवसर है! (प्रकट होता है) जब तक इस पृथ्वी पर दुष्टों का शासन करने वाले पुरुवंशी राजाओं का राज्य है, तब तक कौन दुष्ट इन भोलीभाली ऋषि-कन्याओं के साथ अविनय का व्यवहार करनेवाला होता है!

अनुसूया—कोई बड़ी बात नहीं हुई है आर्य! यह मेरी प्रिय सखी एक दुष्ट भौंरे से तंग किये जाने के कारण घबरा गई थी।

दुष्यन्त—(शकुन्तला से) क्यों देवि, आपकी तपस्या में कोई विघ्न तो नहीं हो रहा?

अनुसूया—मेरी सखी कुछ संकोच-शीला है, आर्य! जब आपके ऐसे अतिथि पहुँच गये, तो फिर विघ्न कहाँ?

प्रियम्वदा—स्वागत आर्य, स्वागत! (शकुन्तला से) अरी शकुन्तले, क्या सिर नीचा किये खड़ी है; जा कुटिया से फल-मूल तो ले आ; हाथ-मुँह धोने के लिए यह घड़े का जल तो है ही!

दुष्यन्त—आप लोगों की मीठी बातों से ही मेरा पूरा सत्कार हो गया।

अनुसूया—कम-से-कम इस सप्तपर्णी वेदिका की शीतल छाया में थोड़ी देर विश्राम तो कर लीजिए!

दुष्यन्त—आप भी तो थकी-सी मालूम होती हैं—आइए, आपलोग भी थोड़ी देर बैठ लीजिए।

प्रियम्वदा—सखि शकुन्तले! चलो हम भी बैठें, अतिथि का आग्रह कैसे टाला जायगा!

(सब वेदिका पर बैठते हैं)

दुष्यन्त—अहा, कितना रमणीय लगता है आप लोगों का यह समान वय और रूप! और, फिर आप लोगों की मित्रता भी तो वैसी ही लगती है!

अनुसूया—आर्य, आपके मधुर भाषण से उत्पन्न ढिठाई आपसे कुछ पूछने को विवश कर रही है। क्या आप बता सकेंगे, आप किस राजवंश को अलंकृत करते हैं? किस देश को विरहोत्कंठित करके यहाँ पधारे हैं? और किस कारण से अपने सुकुमार शरीर को आपने तपोवन आने के घोर परिश्रम में डाला है?

दुष्यन्त—यदि आग्रह है, तो सुनिये—मैं एक वेदज्ञ पंडित और राजा के दरबार का धर्माधिकारी हूँ। पवित्र आश्रमों को देखने के प्रसंग में इस तपोवन में आ गया हूँ।

अनुसूया—आपके आने से हम तपस्वी कृतार्थ हुए।

प्रियम्वदा—(धीरे से) सखि शकुन्तले! यदि आज तात कण्व यहाँ होते!

शकुन्तला—तो क्या होता?

प्रियम्वदा—तो अपने जीवन का सर्वस्व इस विशेष अतिथि को समर्पण कर कृतार्थ कर देते।

शकुन्तला—(अनखा कर) फिर तू शैतानी कर रही है प्रियम्वदे! जाओ, मैं तुम्हारी बातें नहीं सुनती।

दुष्यन्त—क्या मैं आपकी इस सखी के बारे में कुछ पूछ सकता हूँ?

अनुसूया—अनुग्रह में भी अभ्यर्थना?

दुष्यन्त—पूज्य महर्षि कण्व तो आजन्म ब्रह्मचारी हैं। फिर यह उनकी पुत्री......

अनुसूया—राजर्षि कौशिक का नाम तो आपने सुना होगा।

दुष्यन्त—भगवान कौशिक को कौन नहीं जानता?

अनुसूया—मेरी सखी के पिता वही हैं। जब यह त्याग दी गई, तो तात कण्व ने इसे पिता की तरह पाला-पोसा।

दुष्यन्त—त्याग दी गई?

अनुसूया—हाँ, आर्य! बहुत दिन हुए राजर्षि कौशिक उग्र तपस्या कर रहे थे कि देवताओं को भय हुआ और उन्होंने उनकी तपस्या भंग करने को मेनका नाम की अप्सरा भेजी।

दुष्यन्त—दूसरों की तपस्या देखकर देवताओं को भय होता ही है। फिर क्या हुआ?

अनुसूया—वसंत का आगमन था। सुहावना समय, एकान्त, मेनका का उन्मादक रूप......

दुष्यन्त—अब कहने की आवश्यकता नही। तो आपकी सखी अप्सरा से उत्पन्न हुई हैं।

अनुसूया—हाँ, महाराज!

दुष्यन्त— मैं भी यही सोच रहा था, मनुष्य जाति की स्त्री से ऐसे रूप की उत्पत्ति हो नही सकती। भला कहिये, बिजली की तरल ज्योति क्या पृथ्वी से निकल सकती है? और......

प्रियम्वदा—आर्य, मालूम होता है आप कुछ और कहना चाहते थे?

दुष्यन्त—आपका अनुमान बिल्कुल ठीक है।

प्रियम्वदा—तो अधिक सोच-विचार करने की क्या आवश्यता? तपस्वियों से पूछने के लिए कोई विशेष नियम नही होता।

दुष्यन्त—तो सुनिये—आपकी सखी कामदेव की गति रोकने-वाले तपस्वियों का यह वेश विवाह के पहले तक ही रखेंगी या समाननेत्री होने के कारण हिरनों के साथ ही अपना सारा जीवन इसी तरह व्यतीत करेंगी?

प्रियम्वदा—अभी मेरी सखी धर्मानुष्ठान में लगी है। लेकिन, पिताजी का विचार इसे किसी अनुरूप वर को सौंप देने का है।

शकुन्तला—बहन अनुसूये, मैं चली। जाती हूँ और ये सारी उटपटांग बातें माता गौतमी से कहकर रहूँगी।

अनुसूया—अरे, यह क्या? अभी तो इनका अतिथि-सत्कार भी नहीं किया और छोड़ चली। आश्रमवासियों का क्या यही धर्म है?

प्रियम्वदा—ओहो, बड़ी गुस्सेवाली बनी है तू। लेकिन तू जा नहीं सकती।

शकुन्तला—(तिनक कर) क्यों?

प्रियम्वदा—क्योंकि अभी दो वृक्ष सीचने को जो रह गये हैं। अपना कर्त्तव्य पूरा कर ले, तो जाना।

दुष्यन्त—भद्रे, इन वृक्षों के सींचने से ही आपलोग थक गई हैं। देखिये न इन्हें। (शकुन्तला की ओर) बार-बार घड़े उठाने से इनकी दोनों हथेलियाँ लाल-लाल हो गई हैं। दोनों कंधे झुके-से दीखते हैं। जोर-जोर से साँस लेने के कारण उन्नत वक्षस्थल नीचे-ऊपर हो रहे हैं। मुँह पर पसीने की बूँदें छहर रही हैं जिनसे कानों के शिरीष-कुसुम चिपक गये हैं। और, केवल एक हाथ द्वारा लपेटी गई चिकुर-राशि, बंधन खुल जाने से, इधर-उधर बिखरी पड़ी है। रह गई कर्त्तव्य-पूर्त्ति की बात तो उसके बदले में लीजिए यह अँगूठी।

प्रियम्वदा—(अँगूठी लेकर) यह अँगूठी......

दुष्यन्त—यह अंगूठी राजा ने मुझे दी थी। इसपर राजा का नाम है।

प्रियम्वदा—बता, अब कैसे जाती है?

(दूर से स्वर सुनाई दे रहा है)

तपस्वियो, सावधान! राजा दुष्यन्त इस वन में आखेट करने को आ रहे हैं। उसके घोड़ों की टापों से उड़ी हुई लाल धूल गीले वल्कल जिनपर सूखने को डाले गये थे, उन वृक्षों पर पड़ रही है। एक पागल हाथी भी भड़का हुआ आ रहा है जिसका एक दाँत वृक्षों पर आघात करने से टूट गया है। जंगली मृग चारों ओर भाग रहे हैं। सावधान!

अनुसूया—आर्य, अब हमें कुटिया पर जाने की आज्ञा दें। शकुन्तले, माता गौमती घबरा रही होंगी, अब हमलोग चलें।

शकुन्तला—अरे यह क्या? मेरे पैर में यह झिन-झिनी-सी लग गई है। मुझसे तो चला नही जाता, बहन!

दुष्यन्त—आप लोग घबरायें नहीं, मैं आश्रम-वासियों को कष्ट नहीं होने दूँगा।

अनुसूया—आह, हम आपकी सेवा भी नहीं कर सके। फिर दर्शन दीजिएगा महाभाग! चलो, शकुन्तले!

शकुन्तला—बहन अनुसूये, देखो न इस कुश को भी इसी समय मेरे पैर में गड़ना था और मेरा वल्कल इस झरबेरी से उलझ रहा है। थोड़ी देर ठहरो, मैं अभी आई। (सब जाती हैं)

दुष्यन्त—सब चली गईं, चली गईं। मैं भी चलूँ। इस मुनि-बाला ने चलते-चलाते मेरी अजीब हालत कर दी। अब मेरा शरीर तो आगे जा रहा है और मन? जैसे रेशमी झंडा हवा लगने से पीछे की ओर ही उड़ता है, मेरा मन भी शरीर की प्रतिकूल दिशा में ही भागा जा रहा है।

२

[अनुराग-सूचक वाद्य के बाद]

दुष्यन्त—विघ्न दूर हो जाने के कारण ऋषियों ने तो हमें जाने की आज्ञा दे दी है, किन्तु क्या शकुन्तला को छोड़कर जा सकता हूँ? कहाँ है मेरी प्यारी शकुन्तला? ओहो, मालूम होता है, वह अभी-अभी इसी रास्ते से गई है! क्योंकि जिनसे फूल तोड़े गये हैं, उन वृन्तों की अस्तव्यस्तता गई नहीं है और जहाँ पत्ते तोड़े गये हैं, वहाँ अब भी दूध निकल रहा है! और इस मालिनी की पीली रेत पर जो चरण-चिह्न हैं, वे भी इसी की सूचना देते हैं: क्योंकि वे आगे की ओर उथले और जघन-भार से पीछे की ओर गहरे पड़े हैं! (आगे बढ़कर) अहा! आँखें तृप्त हो गईं! मेरी प्रिया फूलों से बिछी पत्थर की पटिया पर लेटी है। इस लता-ओट से उसकी बातें सुनूँ तो?

अनुसूया—सखि शकुन्तले, कमल के पत्तों की हवा अच्छी लगती है न?

शकुन्तला—(सखेद) यह क्या झल रही हो, सखियो!

अनुसूया—यह तुम्हें क्या हो गया है, शकुन्तले?

प्रियम्वदा—बहन अनुसूया, उस राजा के दर्शन के बाद ही शकुन्तला की यह हालत हो गई है—कोई दूसरी बात नहीं है।

अनुसूया—क्या यह सच है शकुन्तले?

शकुन्तला—तुमसे न कहूँगी, तो कहूँगी किससे? किन्तु सुनकर...

अनुसूया—कहो, कहो। प्रियजनों में दुःख बाँट देने से वेदना सह्य हो जाती है!

शकुन्तला—सचमुच तपोवन की रक्षा करने वाले राजर्षि जब से इन नेत्रों के सम्मुख हुए हैं...

अनुसूया—यह लजाने की बात नहीं है शकुन्तले! महानदी समुद्र से ही जाकर मिलती है, और नये पत्तों वाली माधवी-लता आम के वृक्ष का ही सहारा ढूँढ़ती है।

शकुन्तला—तो ऐसा उपाय करो कि मैं उनकी रानी...नहीं तो अब मैं बच नहीं...आह! मुझे याद रखना सखियो!

दुष्यन्त—(अलग से ही) ओहो, कैसी दशा हो गई है इसकी! मुँह सूख गया है, गाल धँस गये हैं। वक्षस्थल शिथिल पड़ गये हैं, कटि और भी पतली हो गई है। कंधे झुक गये हैं और देह पीली पड़ गई है! किन्तु इसकी यह करुणमूर्त्ति भी कितनी सुन्दर लग रही है!

प्रियम्वदा—बहन अनुसूये, तुरत ही कोई उपाय करना है!

अनुसूया—लेकिन कैसे? क्या राजा......

प्रियम्वदा—मैंने राजा की आँखें देखी हैं सखि! और, तुमने ध्यान नहीं दिया, वह भी दुबले हुए जा रहे हैं!

अनुसूया—तो क्या किया जाय?

प्रियम्वदा—शकुन्तले, तुम एक प्रेमपत्र उन्हें लिखो! मैं फूलों में छिपाकर, देवता के प्रसाद के बहाने, उनके पास पहुँचा दूँगी!

अनुसूया—हाँ, ठीक, ठीक!

शकुन्तला—किन्तु, कहीं उन्होंने उसका तिरस्कार किया तो?

प्रियम्वदा—अपने गुणों का आप अपमान करनेवाली लाड़िली! संसार में ऐसा कौन होगा जो शरद की तापहारिणी स्निग्ध ज्योत्स्ना को छाता लगाकर अपने ऊपर आने से रोके?

शकुन्तला—अच्छा, तो मैं तैयार हुई? लेकिन, सखियो, लिखूँ तो किस चीज पर, किस तरह! लिखने की सामग्री तो यहाँ नहीं!

प्रियम्वदा—सुग्गे की छाती की तरह कोमल इस कमलिनी के पत्ते पर एक-एक पद अलग-अलग करके नखों से लिख डालो।

शकुन्तला—लो, लिख डाला सखियो!

अनुसूया—सुनाओ, सुनाओ!

शकुन्तला—"ओ निठुर, मैं तुम्हारे हृदय को तो नहीं जानती,

किन्तु मैंने अपनी सारी अभिलाषाएँ तुम्हारे हाथों में सौंप दी है। ऐसी अवस्था में मदन-देवता दिन-रात मुझे तपाता रहता..."

दुष्यन्त—प्रकट होने के लिए फिर ऐसा सुअवसर कौन होगा? (प्रकट होकर) आर्ये कृशांगि, तुझे तो वह सिर्फ तपाता भर है; लेकिन मुझे तो जलाये डाल रहा है। सूर्यदेवता जितना मलिन चन्द्रमा को बना देता है, उतनी कमिलिनी को नहीं।

अनुसूया—ओहो, आप आ गये! जिनके द्वारा कामना पूरी हो सकती है, उन्हें यहाँ आने में कष्ट तो नहीं हुआ?

शकुन्तला—(उठना चाहती है)

दुष्यन्त—बस, बस, कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। जिनसे करवटें बदलने कारण फूलों की पंखुड़ियाँ दलमल गई हैं और मृणाल के कंकण मर्दित हो गये हैं, गुरुतर संताप से पीड़ित आपके ये अंग लोकाचार पालन करने में समर्थ नहीं रह गये हैं, सुन्दरि!

अनुसूया—इसी पत्थर की पटियाँ पर आप भी बैठ जाइए महाभाग!

दुष्यन्त—लीजिए, मैं बैठ गया। अब तो आपकी सखी का ताप कुछ कम हुआ?

प्रियम्वदा—औषध मिली, तो ज्वर उतरेगा ही!

अनुसूया—राजन्य, यद्यपि आप दोनों का अनुराग प्रकट है, तथापि एक निवेदन..

शकुन्तला—सखि, अंतःपुर के वियोग से उत्कंठित राजर्षि से कुछ निवेदन करना क्या समुचित होगा?

दुष्यन्त—मेरे इस अनन्य-परायण हृदय को, ओ हृदयहारिणी, यदि किसी दूसरी जगह आरोपित करोगी तो समझ लो, ओ खंजन-नयने, कि कामदेव-द्वारा मारा गया मैं दुहरा मारा जाऊँगा।

अनुसूया—बात यों है कि हम सुना करती हैं, राजाओं को बहुत-सी प्रेमिकाएँ हुआ करती हैं...

दुष्यन्त—हुआ करें, ऋषिकन्याओ! लेकिन मेरे कुल की मर्यादा के अनुरूप मेरी दो ही प्रेयसी हो सकती हैं—एक तो समुद्रवेष्टित यह पृथ्वी, या आपकी यह प्यारी सखी!

अनुसूया—धन्य महाराज, धन्य! अब हम निश्चित हुईं।

प्रियम्वदा—बहन अनुसूये, देखो, देखो, वह हिरन का बच्चा

अपनी माँ से बिछुड़कर बिलला रहा है; चलो, हम उसे माँ से मिला दें।

शकुन्तला—मुझे यहाँ अकेली छोड़कर...

प्रियम्वदा—अरी, तुम्हारे निकट पृथ्वीनाथ बैठे हैं, तो भी तुम अकेली ?

(सखियाँ जाती हैं)

दुष्यन्त—वे चली गईं, तो भी घबड़ाने की क्या बात ? आपकी सेवा के लिए मैं हूँ ही। कहिए तो इस जल-विंदु-शोभित क्लान्तिहारी शीतल कमल-पत्र से आपपर पंखा झलूँ या नवल कमल पुष्प-से लाल-लाल इन चरणों को अपनी गोद में...

शकुन्तला—रहने दीजिए, राजर्षि ! मुझे अपराधिनी मत बनाइए ! मुझे भी जाने दीजिए !

दुष्यन्त—(स्वगत) धन्य हैं ये वन-कन्याएँ ! इच्छा रखते हुए भी इनका प्रतिकूल व्यवहार होता है, मिलन-सुख की कामना करती हुई भी ये आत्मसमर्पण से घबड़ाती हैं। दुनिया को कामदेव सताता है, ये उसे भी सता मारती हैं !

शकुन्तला—मैं चली महाराज !

दुष्यन्त—क्या सच ! तो जाते-जाते... (अंचल पकड़ने की चेष्टा)

शकुन्तला—पुरुवंशी, शिष्टाचार की रक्षा कीजिए। देखते नहीं, चारों ओर ऋषि लोग आ-जा रहे हैं।

दुष्यन्त—ऋषिकन्याओं का गान्धर्व विवाह सदा से होता आया है, सुन्दरि ! ऋषि कण्व भी यह सुनकर प्रसन्न ही होंगे !

शकुन्तला—क्षमा कीजिए, मैं चली। आपकी इच्छा पूर्ति न कर सकी... किन्तु सिर्फ सम्भाषण से परिचित इस दासी को न भूलियेगा।

दुष्यन्त—सुन्दरि, जैसे दिन ढलने पर छाया वृक्ष से दूर चली जाती है, किंतु तो भी उसके मूल को नहीं छोड़ती; उसी प्रकार तुम दूर भले ही चली जाओ, किंतु मेरे हृदय को नहीं छोड़ सकोगी !

शकुन्तला—(कुछ आगे बढ़ने के बाद) अरे, यह क्या ? मेरा मृणाल-कंकण कहाँ गिर पड़ा ? (लौटकर) महाराज, क्या आपने मेरा मृणाल-कंकण देखा है ? तो दीजिये और देखिये कहीं ऋषियों की नजर न हम पर पड़ जाय।

दुष्यन्त—पाया है और दूँगा, लेकिन एक शर्त।

शकुन्तला—कौन-सी शर्त ?

दुष्यन्त—मैं स्वयं पहना दूँ इसे !

शकुन्तला—उफ, आप तो.......अच्छा, यही सही ! (हाथ बढ़ाती है)

दुष्यन्त—(हाथ पकड़कर) अहा, कितना सुन्दर स्पर्श है ! शिव ने कामदेव को जला दिया; तो विधाता ने उसपर अमृत छिड़ककर यह नवांकुर उत्पन्न किया है ?

शकुन्तला—आर्यपुत्र, शीघ्रता कीजिए !

दुष्यन्त—आपने क्या कहा, आर्यपुत्र ! तो...

शकुन्तला—तो......तो क्या आर्यपुत्र !

दुष्यन्त—अपने इन सुन्दर, स्पंदित, अछूते अधरों......(चूमने की चेप्टा करता है)

(नेपथ्य से एक आवाज)

ओ चकवी, रात हो गई, अब अपने चकवे को विदा करो !

शकुन्तला—आर्यपुत्र ! विदा, विदा ! आर्या गौतमी शायद मेरा हाल जानने को पधार रहीं हैं, इसीलिए सखियों ने संकेत किया है ! विदा, विदा, आर्यपुत्र !

३

(भय-सूचक वाद्य के बाद)

अनुसूया—आखिर शकुन्तला को अनुकूल वर प्राप्त हुआ; किन्तु भय होता है, प्रियम्वदे, कि राजा अपनी राजधानी में जाकर अपनी पटरानियों में कहीं शकुन्तला को भूल न जायँ !

प्रियम्वदा—नहीं, नहीं, उनके ऐसे रूप-गुण वाले पुरुष धोखा नहीं दे सकते। बहन मुझे तो भय है पिता कण्व का !

अनुसूया—वह तो प्रसन्न ही होंगे। लड़की को योग्य वर मिले, पिता को इससे बढ़कर और किसी दूसरी बात से प्रसन्नता नहीं होती।

प्रियम्वदा—भगवान करें, ऐसा ही हो। तो, बहन, हमलोग अब काफी फूल चुन चुके, अब आश्रम में चलें।

अनुसूया—काफी? अरी, आज शकुन्तला के शौभाग्य-देवता की भी तो पूजा करनी है! कुछ और चुन—ओहो यह क्या? कोई अतिथि पुकार रहे हैं!

(नेपथ्य से दुर्वासा का स्वर)

दुर्वासा—ओ, देख; मैं हूँ, मैं!

प्रियम्वदा—हाँ, कोई अतिथि ही मालूम होते हैं, तो क्या हुआ, शकुन्तला तो वहाँ है ही।

अनुसूया—है तो, लेकिन उसका शरीर ही है वहाँ—मन तो राजा के साथ गया!

(नेपथ्य से फिर दुर्वासा का स्वर)

दुर्वासा—ओरी; तू अतिथि का निरादर करती है तो ले..... जिसके ध्यान में तूने तपस्वी का निरादर किया है, वह बार-बार याद दिलाने पर भी तुझे उस तरह भूल जायगा जिस तरह पागल अपनी कही गई बात भूल जाता है!

प्रियम्वदा—हाय, हाय, वही हुआ, जिसकी आशंका थी! मालूम होता है, शून्यहृदया शकुन्तला किसी पूज्य व्यक्ति से कोई अपराध कर गई!

अनुसूया—और कौन होगा, तुनुकमिजाज दुर्वासा ऋषि होंगे! वह देखो, इतना बड़ा वज्रपात करके किस तरह जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए चले जा रहे हैं।

प्रियम्वदा—हाँ, आग के सिवा दूसरा और कौन जला सकता है? लेकिन, बहन अनुसूये, तुम जाकर उन्हें शान्त करो, हाय...

(जाती है)

अनुसूया—आपके पैरों पड़ती हूँ भगवान! उसे क्षमा कर दीजिए, वह एक भोली बालिका है, तपस्वी का प्रभाव बेचारी क्या जाने? फिर उसका यह पहला अपराध है महर्षि!

दुर्वासा—मेरी बात अन्यथा नहीं हो सकती! लेकिन तू गिड़गिड़ा रही है, तो जा, जब उसके प्यारे को कोई याद दिलानेवाला अलंकार दिखाया जायगा, तब शाप की निवृत्ति हो जायगी। हटो, मैं चला!

(दुर्वासा क्षिप्र वेग से चले जाते हैं।)

प्रियम्वदा—अब कुछ धीरज हुआ! राजा ने चलते समय एक

अँगूठी शकुन्तला को दी है, अब यह अँगूठी ही उसकी रक्षिका सिद्ध होगी।

अनुसूया—किन्तु प्रियम्वदे, यह बात अभी हमीं दोनों के बीच रहे। क्योंकि कोमल-हृदया शकुन्तला इस शाप की कथा सुनकर क्या जीवित रह सकेगी?

प्रियम्वदा—देखो तो वहाँ बहन, शकुन्तला किस तरह बायें हाथ पर गाल रख तस्वीर की तरह बैठी है! आह! प्रियतम के ध्यान में वह इतनी निमग्न है कि यह जान भी न सकी कि उसके सिर पर कौन-सा बादल अभी-अभी उमड़ कर गाज गिरा गया है!

४

[करुण स्वर में वाद्य के बाद]

कण्व—आज शकुन्तला जायगी। इस कल्पना ने ही मेरे हृदय को विषाद से भर दिया है। आँसुओं को रोकता हूँ, तो वे गले को गीला कर आवाज को रुँध देते हैं। सामने की चीजें भी धुँधली हुई जा रही हैं। मैं वनवासी हूँ, तो भी स्नेह से इतना विह्वल हो रहा हूँ, तो गृहवासी अपनी कन्या को बिदा करते समय कितना दुखित होते होंगे!

गौतमी—बेटी शकुन्तले, देख, वह तुम्हारे पिता आ रहे हैं—उनकी आँखों में डबडबाये आँसू तुम्हारे आलिंगन को व्याकुल हैं। उठ, आशीर्वाद ले!

शकुन्तला—(चरणों में लिपटी हुई) पिताजी! (गला भर आता है)

कण्व—बेटी! भगवान तुम्हारा कल्याण करें! जैसे शर्मिष्ठा ने ययाति का प्रेम प्राप्त किया था, उसी तरह तुम भी पति-प्रेम प्राप्त करो और पुरु की तरह तुम्हें भी सम्राट् पुत्र प्राप्त हो!

गौतमी—बेटी, महर्षि कण्व ने यह आशीर्वाद नहीं दिया है, बल्कि वरदान दिया है तुम्हें।

कण्व—बेटी, जिसमें तुरत आहुति पड़ी है, इस यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा कर लो! यह यज्ञाग्नि तुम्हारा मंगल करे और इसकी हवि की सुगंध की तरह तुम्हारी कीर्ति दिग्दिगन्त में फैले।

ओ सारंगरव, ओ शारद्वत! इधर आओ बेटे!

दोनों शिष्य—गुरुदेव !

कण्व—बेटो, अपनी बहन को मंगल-पथ पर ले जाओ !

दोनों शिष्य—बहन शकुन्तले, हम अब चलें।

कण्व—ओ तपोवन के तरुओ ! जो शकुन्तला तुम्हें सींचे बिना जल भी नहीं पीना चाहती थी; जो अलंकार की अनुरागिनी होने पर भी मारे स्नेह के तुम्हारे पल्लवों को नहीं तोड़ती थी; तुम्हारे पहले फूल को देखकर जो उत्सव मनाने लगती थी, वह आज अपने पति के घर जा रही है, तुम लोग उसे आज्ञा दो !

और बेटी! कमल के पत्तों से हरे-भरे सरोवर तुम्हारे मार्ग को सुन्दर बनावें, घनी छायावाले वृक्ष सूर्य के ताप से बचावें, रास्ते की धूल में कमल-पराग की कोमलता हो, और शान्त-स्निग्ध पवन तुम्हारे पीछे-पीछे पंखे झलता हुआ चले।

(कोयल का स्वर)

सारंगरव—अरे, यह कोयल कूक उठी ! पिताजी, आपकी आज्ञा मानकर वन-देवता ने इस कूक के बहाने शकुन्तला को बिदा का सन्देश दे दिया !

गौतमी—हाँ, हाँ, बेटी ! वन-देवता ने तुम्हें जाने की अनुमति दे दी, उन्हें प्रणाम करो।

शकुन्तला—सखि प्रियम्वदे, आर्यपुत्र की दर्शन-लालसा मुझे आगे खींच रही है, किन्तु आह, मेरे पैर इस आश्रम को छोड़ने के लिए उठ नहीं रहे हैं !

प्रियम्वदा—तुम्हारी ही यह दशा नहीं है सखि, सारे आश्रम को देखो—हिरनी चबाती हुई कुश को उगले दे रही है, नाचती हुई मयूरी अचानक रुक गई और लताएँ पीले पत्ते गिराकर मानो आँसू टपका रही हैं !

शकुन्तला—पिताजी, मुझे इस लता-बहन माधवी से अनुमति लेने दीजिए !

कण्व—मैं जानता हूँ बे ी, तुम्हारा उसपर कितना स्नेह है। देख, वह तुम्हारी दाहिनी ओर है !

शकुन्तला—(लता से लिपटती हुई) बहन माधवी, अपनी शाखा-बाहुओं से मुझे कस लो, क्योंकि आज से फिर भेंट नहीं होगी

हमारी-तुम्हारी! बहन अनुसूये, सखि प्रियम्वदे, इस माधवी-लता को तुम्हें ही सौंपे जा रही हूँ, सखियो!

अनुसूया—(कातर स्वर में) किन्तु हमें किसे सौंपे जा रही हो सखि!

प्रियम्वदा—(रोती हुई) प्यारी सखि! ओह, हमें किसे सौंपे जा रही हो!

कण्व—बेटी अनुसूये, प्रियम्वदे! तुम लोग यह क्या कर रही हो। रोओ मत बेटियो...शकुन्तला को ढाढ़स बँधाओ!

शकुन्तला—(आँसू पोंछती हुई) गर्भ-भार के कारण आश्रम के आस-पास ही मंदमंद घूमती रहनेवाली यह हिरनी जब सुखपूर्वक बच्चा दे ले, तो उसकी खबर मुझे अवश्य दीजिएगा; भूलिएगा नहीं पिताजी!

कण्व—तुम्हारा अंतिम आग्रह, और मैं भूलूँ?

शकुन्तला—और यह कौन मेरे पैरों से लिपटकर मेरा आँचल खींच रहा है!

कण्व—कुश के नुकीले अग्रभाग से जिसका मुँह छिल जाने पर तुमने बार-बार इंगुदी का तेल लगाकर जिसे अच्छा किया, जो तुम्हारे हाथ के एक मुट्ठी साँवे पर पलकर इतना बड़ा हुआ, जो तुम्हारे पुत्र-सा ही लगता था, वह मृगछौना आज तुम्हारा रास्ता रोके खड़ा है, बेटी!

शकुन्तला—बेटा, जो तुम्हें छोड़कर जा रही है, उसका पीछा तू क्यों कर रहा है रे? जब तेरी माँ मर गई थी, मैंने तुझे पाला-पोसा था, अब पिताजी तेरी खोज-खबर लेंगे, इसलिए जा, पिताजी के पीछे लग बेटा! (रोती हुई चलती है)

कण्व—बेटी, रोओ मत। स्थिर हो और रास्ता देखो। तुम्हारी बरौनियाँ ऊपर उठ गई हैं; इसलिए इन आँसुओं के कारण तुम रास्ता ठीक से देख नहीं पातीं; इस ऊबड़-खाबड़ में तुम्हारे पैर लड़खड़ा रहे हैं!

सारंगरव—गुरुदेव, प्रियजन को जलाशय तक ही पहुँचाना चाहिए! देखिये, यह सरोवर आ गया।

अनुसूया—शकुन्तले, तपोवन में ऐसा कोई सहृदय प्राणी नहीं है जो तुम्हारे वियोग से दुखी न हो। कमलपत्र की ओट में पड़ी

चकई पुकारे जा रही है, लेकिन तो भी वह चकवा बोल नहीं रहा है—अपने मुख में मृणाल रखे किस कातर दृष्टि से वह तुम्हारी ओर देख रहा है?

शकुन्तला—(सिसकती है)

कण्व—बेटी, चुप हो! चलते समय तुम्हें एक शिक्षा देना अपना कर्तव्य समझ रहा हूँ—जाओ, सुख से अपने पति के घर पहुँचो। वहाँ गुरुजनों की सेवा में नहीं चूकना; सौतों को भी प्रिय सखी समझना; पति कदाचित् अपमान करे तो भी क्रोध करके उनसे मत झगड़ बैठना; दास-दासियों से उदारता का व्यवहार रखना और अपने सौभाग्य पर कभी नहीं गर्व करना! बेटी, यही कुल-कामिनियों का धर्म है।

गौतमी—हाँ, बेटी, इससे बढ़ कर नारी के लिए कोई दूसरा उपदेश हो नहीं सकता।

कण्व—बेटी, आओ, फिर हम मिल लें।

शकुन्तला—पिताजी, मलय-पर्वत से उखाड़ी गई चंदन-लता की तरह आपकी गोद से दूर होकर मैं किस तरह जी सकूँगी? आह!

कण्व—अधीर मत हो बेटी! पति का अपार स्नेह पाकर, भरे-पूरे घर की गृहिणी बनकर और पूर्व दिशा की तरह सूर्य-सा प्रतापी पुत्र पाकर तुम इस विरह-दुःख को शीघ्र भूल जाओगी बेटी!

शकुन्तला—पिताजी! प्रणाम पिताजी!

कण्व—मेरी इच्छा पूरी हो, बेटी!

शकुन्तला—बहन अनुसूये, प्यारी प्रियम्वदे—तुमलोग भी एक बार फिर मिल लो बहन!

(दोनों मिलती हैं)

अनुसूया—राजा को यदि पहचानने में कठिनाई हो, तो वह अँगूठी दिखा देना!

शकुन्तला—तुम्हारी इस बात से तो मेरा हृदय काँप उठा!

प्रियम्वदा—डरो नहीं सखी, प्रेम में खटका हुआ ही करता है!

सारंगरव—देवि, अब बेला बहुत चढ़ गई—अब शीघ्रता की जाय!

शकुन्तला—पिताजी, भूलियेगा नहीं!

कण्व—(ठंडी साँस लेकर) पर्णकुटी के द्वार पर तुम्हारे हाथों से लगाये नीवार में जब तक कोपलें आती रहेंगी, तब तक तुम्हें किस तरह भूल सकूँगी बेटी। अच्छा, जाओ—शिवास्ते सन्तु पन्थानः!

५

[विरह-सूचक वाद्य-ध्वनि के बाद]

दुष्यन्त—आह! जब उस मृग-नयनी ने बार-बार अपने प्रणय की याद दिलाई, तब तो, ओ मेरा हृदय, तू सोया रहा। और अब जब उसे पा नहीं सकता, तो संताप भोगने के लिए जागृत हो गया है।

कंचुकी—महाराज को जय हो जय हो!

दुष्यन्त—जाकर मंत्री से कह दो कि आज मैं धर्मासन पर नहीं ैठ सकूँगा। रात को बड़ी देर तक जगा रहा। जो काम हो, उसकी सूचना मेरे पास भेज दें।

विदूषक—अच्छा हुआ कि आपने इन मक्खियों को झाड़-बुहार कर अलग कर दिया। अब इस मनोहर प्रमद-बन में थोड़ी देर आनन्द कीजिए।

दुष्यन्त—मित्र, ठीक कहा गया है कि विपत्तियाँ जरा-सी सुराख पाकर ही आ धमकती हैं। जिसने शकुन्तला की याद में बाधा पहुँचाई, वह मोह मुझे छोड़ भी न सका था कि देखो, यह कामदेव अपने धनुष पर आम्र-मंजरी का वाण चढ़ाकर सामने आ खड़ा हुआ है। अब आनन्द कहाँ!

विदूषक—कहिए, मैं अपनी लाठी से कामदेव के इस वाण को अभी तोड़े-फोड़े डालता हूँ।

दुष्यन्त—रहने दो अपनी वीरता। आह! यह अँगूठी! तू अबतक कहाँ थी? अपनी प्रियतमा को मुझसे अकारण छुड़वाकर अब मेरे हाथ में आई है। उफ, आज शकुन्तला के उस प्रथम मिलन का सारा वृतांत मुझे याद आ रहा है। मित्र, मित्र, मेरी रक्षा करो!

विदूषक—महाराज, आपके लिए ऐसा विचलित होना शोभनीय नहीं, प्रबल झंझा में भी पर्वत नहीं हिलता-डुलता है, महाराज!

दुष्यन्त—ओहो, जब बार-बार याद दिलाये जाने पर भी मैंने उसका परित्याग कर दिया और वह निराश हो जब मुनि-शिष्यों के साथ लौटने लगी तो उन्होंने भी उसे डाँट दिया और कहा तुम्हें यहीं

रहना होगा। तब वह खड़ी हो गई! उस समय आँखों में आँसू भर कर मुझ निष्ठुर की ओर जिस करुण दृष्टि से उसने देखा था, वह विष से बुझे तीर की तरह आज भी मेरे हृदय को जर्जर कर रहा है, मित्र!

विदूषक—महाराज! इस विषय में मुझे आपसे कुछ पूछना है। हाँ, तो उसे कोई आकाशचारी उड़ाकर ले गया था न?

दुष्यन्त—सखे, और कौन उस पतिव्रता का शरीर स्पर्श कर सकता था? मैंने शकुन्तला की सखियों से सुना था, मेनका उसकी माता है। मुझे ऐसा लगता है कि मेनका की कोई अप्सरा-सखी या स्वयं मेनका ही उसे उड़ा ले गई।

विदूषक—यदि ऐसा है तो आप धैर्य रखें। समय पाकर वह आपसे अवश्य मिलेगी?

दुष्यन्त—कैसे?

विदूषक—माँ-बाप अपनी बेटी को पति-वियोग से व्याकुल अधिक दिनों तक नहीं देख सकते।

दुष्यन्त—क्या सच? मुझे तो ऐसा लग रहा है मित्र कि शकुन्तला का वह मिलन या तो सपना था, या जादू, या भ्रम, या मेरे किसी पूर्वजन्म का पुण्यफल। आह, मेरी सारी आशाएँ ऊँचे पहाड़ से गिरकर जैसे चूर-चूर हो गई हैं।

विदूषक—ऐसा न कहिए महाराज। यह अँगूठी ही बतलाती है कि उसका मिलन भी अवश्य होगा और इसी तरह एकाएक और अचानक!

दुष्यन्त—मुझे तो इस अँगूठी पर बहुत तरस आती है! तेरी काया के समान तेरा पुण्यफल भी क्षीण है; नहीं तो शकुन्तला के लाल-लाल नखोंवाली उँगली में स्थान पाकर फिर तू क्यों गिर पड़ती?

विदूषक—अच्छा यह तो बताइये, आपने यह अँगूठी दी थी किस उद्देश्य से?

दुष्यन्त—बड़ी करुण कहानी है मित्र! जब मैं तपोवन से विदा ले रहा था तब मेरी प्रियतमा ने आँखों में आँसू भरकर रुँधे गले से कहा था—अब कितने दिनों बाद मुझे याद कीजिएगा, आर्यपुत्र! तब यह अँगूठी मैंने उसकी उँगली में डालते हुए कहा था......

विदूषक—यह तो आपका भी गला भरा आ रहा है! अच्छा! आपने क्या कहा?

दुष्यन्त—मैंने कहा—प्रिये, इस अँगूठी पर अंकित मेरे नाम के एक-एक अक्षर एक-एक दिन में गिनती जाना। गिनती पूरी भी नहीं होगी कि हमारे अंतःपुर से कोई आज्ञाकारी सेवक तुम्हें बुलाने यहाँ आ पहुँचेगा। लेकिन आह! न जाने किस अभिशाप-वश मैं ये सारी बातें भूल गया?

विदूषक—किन्तु महाराज, यह तो अँगूठी थी, बंसी नहीं। फिर यह उस रोहू मछली के पेट में कैसे पहुँच गई?

दुष्यन्त—जब मैंने तिरस्कार की हद कर दी तो तपस्विनी गौतमी ने कहा–बेटी, तू वह अँगूठी क्यों नहीं दिखलाती? उस समय शकुन्तला ने अपनी उँगली की ओर नजर की और चिल्ला पड़ी—आह! क्या हुई मेरी अँगूठी? वह सोचती थी, जलदेव की वंदना करते समय गंगाजी की धारा में तो नहीं गिर गई? ओरी अँगूठी! जिसकी उँगलियाँ कोमल और सुन्दर थीं, उन हाथों को छोड़कर तू जल में क्यों डूब गई? लेकिन तू तो अचेतन थी, मैं चेतन प्राणी होकर भी अपनी प्रिया का किस तरह त्याग कर सका?

(दासी का प्रवेश)

दासी—महाराज! यह महारानी का चित्रपट है, लीजिए।

दुष्यन्त—अहा! इस चित्र में भी मेरी प्रियतमा कितनी सुन्दर लग रही है? नेत्र के दोनों प्रांतभाग विस्तृत हैं ही, आँखें भी वैसी ही बड़ी-बड़ी हैं। जरा-सी टेढ़ी होने के कारण भवें और भी सुन्दर लग रही हैं। दाँतों से फूटनेवाली हास्य-किरणों से दोनों होंठ जगमग हो रहे हैं। वे होंठ जो पके बेर के समान लाल-लाल हैं। हास विलास से पूर्ण मुखारविन्द कितना सुन्दर लगता है और उसपर पसीने की बूँदें निकलने से ऐसा मालूम पड़ता है, मानो कान्ति चूई पड़ती हो। यद्यपि यह चित्र है, तो भी मालूम होता है, मेरी प्रिया अब बोल उठेगी!

विदूषक—ठीक महाराज, ठीक। अपनी प्रियतमा का चित्रण करने में आपने कमाल किया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इसमें आपने प्राणों का भी संचार कर दिया है।

दुष्यन्त—चित्र-निर्माण करते समय जिस अंग में सुन्दरता नहीं रहती है, उसमें भी लाई जाती है। लेकिन इस चित्र से शकुन्तला

का सौंदर्य बढ़ा नहीं, बल्कि कुछ घट ही गया है। अच्छा मित्र, तुम बताओ तो, चित्र की इन तीनों मूर्तियों में तुम शकुन्तला किसको समझते हो?

विदूषक—जिसके केश-कलाप का बंधन शिथिल पड़ गया है, जिससे कुछ फूल गिर पड़े हैं, जिसके मुख पर पसीने की बूँदें झलक रही हैं, जिसकी बाहु-लता का ऊपरी भाग अवनत दिखाई पड़ रहा है, जिसके वस्त्र का बंधन भी ढीला पड़ गया है और कुछ थकी-सी होने पर भी जो वृक्षों को जल दे रही है—इस चिकने-से छोटे आमवृक्ष के निकट जिसका चित्र है; निश्चय वही शकुन्तला है, महाराज!

दुष्यन्त—तुम बड़े चतुर हो मित्र। देखो, इस चित्र में मेरे भी भाव अंकित हैं। पसीने से तर उँगली रखने के कारण चित्र के प्रान्त-भाग में नीली रेखा दीख पड़ रही है और कपोल पर अश्रु-विन्दु गिर गया है, जिससे वहाँ का रंग मैला हो गया है।

विदूषक—महाराज! क्या इसमें अभी और कुछ चित्रित करना है?

दुष्यन्त—हाँ, हाँ। जिसके तट पर हंस-दम्पती बैठे हों, ऐसी मालिनी नदी चित्रित करनी है। उसके पास, जहाँ चँवरी गाय और हिरन बैठे हों, ऐसे हिमालय का पद-प्रदेश अंकित करना है। फिर जिसकी शाखा पर वल्कल-वसन सूख रहे हों, उस वृक्ष के नीचे एक हिरनी चित्रित करूँगा, जो कृष्णसार-मृग के सींग से अपनी बाईं आँख खुजला रही हो।

विदूषक—क्षमा करें महाराज, कहीं लम्बी दाढ़ीवाले तपस्वियों के चित्र से न आप इस चित्रपट को पूरा करें?

दुष्यन्त—सचमुच अभी और बहुत-कुछ बनाना रह गया है, सखे!

विदूषक—अरे रे महाराज! यह क्या? यह दुष्ट भ्रमर! यह भ्रमर इस मुख-कमल के रस-पान के लिए कहाँ से टूट पड़ा?

दुष्यन्त—भ्रमर! धृष्टता न कर। जिन अधरों का रस-पान करते समय रति-काल में भी मैंने दया से काम लिया, अब उसी पर तू डंक मारना चाहता है? मैं तुझे कमल-संपुट के कारागार में बन्द करा दूँगा, सावधान!

विदूषक—महाराज! इतना क्रोध? यह चित्र है चित्र!

दुष्यन्त—चित्र! चित्र!! ओह, तुमने कैसी मूर्खता कर दी मित्र? मैं इसे साक्षात् शकुन्तला समझकर तन्मय हृदय से दर्शन-सुख का अनुभव कर रहा था! चित्र की याद दिलाकर मेरी प्रिया को सचमुच तुमने चित्र बना दिया। ओह!

विदूषक—महाराज, यों आँसू!

दुष्यन्त—आँसू! उफ़!! रात जागते कटती है, जिससे स्वप्न में भी उसे नहीं देख पाता। और ये आँसू तो चित्रमयी शकुन्तला को भी अच्छी तरह देखने नहीं देते!

(दासी का प्रवेश)

दासी—महाराज! मंत्रीजी ने कहला भेजा है, एक धनाढ्य सौदागर निःसंतान मर गया है। क्या उसका धन राज्य में लगा लिया जाय?

दुष्यन्त—आह! संतान के अभाव में मेरी इस राज्य-संपत्ति की भी तो यही दशा होगी! (उसाँसे लेते हैं)

६

[मिलन-सूचक कोमल रागिणी की ध्वनि के बाद]

एक तपस्विनी—यह चंचलता छोड़! तू हर जगह अपना स्वभाव दिखाता रहता है।

दुष्यन्त—इस तपोभूमि में कौन यह अशिष्ट आचरण कर रहा है? और, यह मेरी दाहिनी भुजा क्यों फड़की? ओ मेरी भुजे, जब तूने मंगल का तिरस्कार कर दिया, तो फिर व्यर्थ फड़ककर मुझे क्यों कष्ट दे रही है?

पहली तपस्विनी—अरे तू सुनता नहीं! छोड़ दे इसे!

दुष्यन्त—ओहो, यह तो अजीब दृश्य! बच्चा सिंह-शावक को उसकी माँ के स्तन से छीनकर गोद में लिये खड़ा है, सिंहनी गुर्रा रही है, सिंह-शावक के केसर अस्तव्यस्त हो रहे हैं। दो तपस्विनियाँ मना कर रही हैं!

बच्चा—ओ शेर-बच्चे, तू मुँह फैला; मैं तेरे दाँत गिनूँगा।

पहली तपस्वनी—दुष्ट, हमारे बच्चों की तरह सभी बच्चों को तू क्यों तंग करता फिरता है? देख रही हूँ, तेरी शैतानी दिन-दिन बढ़ती जाती है!

दुष्यन्त—अरे, इस बच्चे को देखकर क्यों मेरे हृदय में पुत्र-स्नेह उमड़ा पड़ता है?

दूसरी तपस्विनी—सर्वदमन, इसे छोड़ दे! नहीं तो देख, वह सिंहनी गुर्रा रही है; अब वह तुझपर टूटेगी ही?

बालक—टूटेगी ही? ओहो, मुझे डर लग रहा है मौसी!

दूसरी तपस्विनी—शोख! उल्टे मुझे चिढ़ा रहा है!

दुष्यन्त—यह चिनगारी एक दिन अग्नि-ज्वाला बनेगी—भविष्य में यह बालक प्रतापी बन कर रहेगा!

पहली तपस्विनी—मैं तुझे खिलौने दूँगी लल्ला, इसे छोड़ दे!

बालक—लाओ, कहाँ है खिलौना?

दुष्यन्त—खिलौने का नाम सुनकर ही बच्चे ने किस तरह हाथ फैला दिया—नव उषा ने जिसकी पंखुड़ियाँ अभी-अभी खोली हैं, ऐसी कमिलिनी-सी इसकी हथेली! अरे, हथेली पर चक्रवर्ती की रेखा यहाँ से ही देख पड़ती है!

पहली तपस्विनी—इसे भुलावा में नही रखा जा सकता है, सुव्रते! मेरी कुटिया में मयूर की एक रंगीन मूर्ति है; उसे ले आओ।

बालक—हाँ, मौसी, तब तक मैं इस शेर-बच्चे से खेल रहा हूँ!

दुष्यन्त—इच्छा होती है, इस बच्चे को गोद में उठा लूँ। अहा, अकारण हँसने से जिसके नये-नये दाँत कभी-कभी दिखाई देते हैं, तोतली बोली में जिसके वाक्य बड़े मीठे लगते हैं, गोद में लेने के लिए जो बार-बार आग्रह करता है, ऐसे बच्चे के अंग की धूल से भाग्यवानों के ही शरीर धूसरित होते हैं!

पहली तपस्विनी—क्यों रे, तू मेरी बात नहीं मानेगा? कोई ऋषिकुमार यहाँ है? अहा! आप? तो आर्य-श्रेष्ठ, आप ही आकर मेरी मदद कीजिए। इस बच्चे के हाथ से इस सिंह-शावक का छुड़ाना मेरे लिए कठिन हो रहा है।

दुष्यन्त—जैसी आज्ञा! क्यों महर्षिपुत्र.......

पहली तपस्विनी—यह महर्षिपुत्र नहीं है आर्य! लेकिन आपको देखते ही यह इतना शान्त क्यों हो गया? और इस बच्चे की आकृति भी आपसे कितनी मिल रही है!

दुष्यन्त—यह मुनि-कुमार नहीं, तो किस कुल का दीपक है!

तपस्विनी—पुरु-वंश का।

दुष्यन्त—पुरु-वंश का? लेकिन पुरुवंशी तो प्रथम अवस्था में पृथ्वी-पालन के लिए भव्य-दिव्य राजप्रासाद में रहते है, वृक्षों की छाया को तो वे चौथेपन में अपनाते हैं।

तपस्विनी—इसकी माँ का सम्बन्ध एक अप्सरा से है, इसीसे उन्होंने इसे देवगुरु कश्यप के आश्रम में प्रसव किया है।

दुष्यन्त—इसकी माँ का सम्बन्ध अप्सरा से? वह श्रीमती किसकी पत्नी हैं!

तपस्विनी—कौन उसका नाम ले, जिसने अपनी धर्मपत्नी का त्याग कर दिया!

दूसरी तपस्विनी—सर्वदमन, ले यह खिलौना; देख तो इस शकुन्त का लावण्य!

बालक—शकुन्त....ला...कहाँ है मेरी माँ?

दूसरी तपस्विनी—(हँसती हुई) मैं तेरी माँ शकुन्तला के बारे में नही कह रही थी। इस शकुन्त, मयूर के बारे में......

दुष्यन्त—आह! यह क्या सुन रहा हूँ!?

पहली तपस्विनी—सुव्रते, सुव्रते, यह क्या हुआ? इसके हाथ का रक्षासूत्र कहाँ गिर गया, सखि!

दुष्यन्त—यहाँ पड़ा है, सिंह-शावक से संघर्ष करते समय शायद गिर गया था! यह लीजिए—

पहली तपस्विनी—मत छूइये, मत छूइये! अरे, आपने तो उठा ही लिया! बहन सुव्रते!

दुष्यन्त—आप लोग चौंक क्यों पड़ीं? और क्यों मुझे मना किया था?

पहली तपस्विनी—यह अपराजिता नाम की जड़ी है। इसके जातकर्म के समय भगवान् कश्यप ने इसे दिया था और कहा था कि यदि भूमि पर गिर पड़े तो बच्चे के अतिरिक्त सिर्फ माँ-बाप ही उठायें।

दुष्यन्त—यदि दूसरा उठावे तो!

पहली तपस्वनी—तो नागिन बनकर यह डँस लेगी। हमने कई बार ऐसा होते देखा है, आर्य-श्रेष्ठ!

दुष्यन्त—तो मेरा चिरवांछित मनोरथ पूरा हो गया! आओ बेटे, मैं तुझे गोद में ले लूँ—आह!

बालक—मुझे छोड़ दो, छोड़ दो। मैं माँ के पास जाऊँगा!

दुष्यन्त—मेरी गोद में ही चलकर माँ का अभिनन्दन करो बेटे!

पहली तपस्विनी—सुव्रते! क्या देख रही हो—जाकर बहन शकुन्तला को यह सुसंवाद सुनाओ। यह पौरव-कुल-कमल-दिवाकर दुष्यन्त हमारे सामने हैं!

दुष्यन्त—वह कौन आ रही है? क्या शकुन्तला है? आह, कैसी सूख गई है! ये धूसरित वस्त्र, यह मुर्झाया चेहरा, यह एकमात्र वेणी—प्रिये! प्रिये!

शकुन्तला—नाथ, नाथ!

बालक—माँ, यह कौन है?

शकुन्तला—तुम्हारा भाग्य अब उदय हुआ बेटे, पिताजी को प्रणाम करो!

(कश्यप का प्रवेश)

तुम दोनों का यह पुनर्मिलन सुखमय हो! इन्द्र तुम्हारी प्रजा पर हमेशा जल बरसाते रहे, तुम सदा यज्ञ करके उन्हें सन्तुष्ट किये रहो और सौ युगों तक मिल-जुलकर संसार का कल्याण करते हुए तुम दोनो उत्कर्ष और प्रशंसा प्राप्त करो! तुम्हारी जय हो, जय हो!

शुभाकांक्षा—

राजा सदा प्रजा की भलाई में लगे रहें; वाणी की वीणा संसार-भर में झंकृत होती रहे और नील-लोहित भगवान शंकर हमें आवा-गमन से मुक्त कर दें।

[समाप्त]

राम-राज्य

[रेडियो रूपक]

राम-राज्य

(प्रवक्ता)

आज से ठीक सौ वर्ष बाद। याद रखिये, आज से ठीक सौ वर्ष बाद अर्थात् बीस सौ इकावन ईस्वी में! जरा अपनी कल्पना को तीव्र होने दीजिए– आज की पार्थिवता को पीछे ढकेल कर उसे उड़ान भरने दीजिए और चले चलिए २०५१ ईस्वी में!

(१)

(हवाई जहाज के उड़ने और उतरने के शब्द)

स्वागताधिकारी—नमस्कार श्रीमनीजी, नमस्कार महोदय!

स्त्री—नमस्कार!

पुरुष—नमस्कार!

स्वागताधिकारी—आप कहाँ से पधार रहे हैं? आपकी शुभ यात्रा का उद्देश्य?

पुरुष—हम दक्षिण-ध्रुव प्रदेश से आ रहे हैं। वहाँ पर हम-लोग एक उपनिवेश बसाने जा रहे हैं। उस ध्रुव-प्रदेश में हम जो एक नवीन समाज बनाने जा रहे हैं, उसकी आधार-शिला क्या हो, इसके लिए भिन्न-भिन्न देशों की सामाजिक पद्धति के अध्ययन के लिए, हमने भिन्न-भिन्न देशों में शिष्टमंडल भेजे हैं। आपके देश में आने का सौभाग्य हम दोनों को मिला है।

स्वागताधिकारी—बड़ा ही शुभ उद्देश्य! हम आपका हृदय से स्वागत करते हैं। आपको ज्ञात ही होगा, हमने तो अपने यहाँ बापू के आदर्श के अनुसार रामराज्य की स्थापना कर ली है और,

हमारी आशा है, एक दिन सारा संसार बापू के उस आदर्श को अपनायगा।

स्त्री—हाँ, पूज्य गाँधी जी के महान् देश को अपनी आँखों से देखने के लिए ही तो हम यहाँ भेजे गये हैं।

स्वागताधिकारी—हम आपलोगों को सारी सुविधाएँ देंगे। हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही अतिथि को देवता माना गया है—अतिथि देवो भव! (पुकारता है) परिचालक!

परिचालक—महोदय!

स्वागताधिकारी—आप इन्हें जवाहर-अतिथिशाला में ले जायँ। (आगत व्यक्तियों से) हमने अपने विदेशी अतिथियों के लिए जो विश्रामागार बनाया है, उसके नाम के साथ अपने प्रथम प्रधान मंत्री का नाम जोड़ रखा है—क्योंकि उन्होंने ही हमें सर्वप्रथम अन्तर-राष्ट्रीय बन्धुत्व का पाठ सिखाया था।

स्त्री—हम उनके स्मारकों और स्मृति-चिन्हों को भी देखना चाहेंगे।

स्वागताधिकारी—आपको सारी चीजें देखने की सभी सुविधाएँ दी जायँगी। (पुरुष से) लेकिन आप अतिथि-शाला में जायँ, उसके पहले एक निवेदन।

पुरुष—आज्ञा दीजिये!

स्वागताधिकारी—हमारे यहाँ आज्ञा नहीं दी जाती, निवेदन किया जाता है। (मुस्कान) निवेदन यह है कि यदि आप के पास कोई अस्त्र-शस्त्र हो, तो उसे यहीं रख दीजिये।

पुरुष—(शंकित) ओहो! तो आप मुझे निःशस्त्र करना चाहते हैं। यह तो किसी परदेशी पर अत्याचार है।

स्वागताधिकारी—(हँसता हुआ) ह-ह-ह-! हर विदेशी ऐसा ही कहता है! महोदय, हम आपसे शस्त्र यहीं रख देने को इसलिए कहते हैं कि हमारे यहाँ शस्त्र रखना वर्वरता और पशुता का चिह्न समझा जाता है। आदमी ने शस्त्र का प्रयोग बनैले भैंसों, बाघ-सिंहों और विषधर नागों से सीखा! पूज्य बापू नें हमें अहिंसा का पाठ सिखाया था, हमारे गले के नीचे भी पहले यह बात नहीं उतरती थी।

पुरुष—किन्तु, यदि हम पर प्रहार किया जाय, तो हम आत्मरक्षा कैसे करेंगे?

स्वागताधिकारी—प्रहार! हमारे देश में, बापू के इस राम-राज्य में, कोई किसी पर प्रहार नहीं करता! हम अब पूर्ण सभ्य हो चले हैं—

आदमी जितना बर्बर और असभ्य रहता है, उतना क्रूर और हिंसक होता है। ज्यों- ज्यों सभ्यता आती जाती है, त्यों-त्यों वह दयालु और अहिंसक होता जाता है। सभ्यता की पहचान ही है अहिंसा।

स्त्री—आपकी बातें सत्य के बहुत निकट मालम होती हैं।

स्वागताधिकारी—बापू कहा करते थे, अहिंसा का सन्देश सबसे पहले स्त्रियाँ और बच्चे समझते हैं। बापू के कथानानुसार पहला सत्याग्रही एक बच्चा था।

पुरुष—तो क्या आपके देश में सेना भी नहीं रखी जाती? यहाँ इस हवाई अड्डे के अगल-बगल कहीं किसी सैनिक या प्रहरी को नहीं देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हो रहा था।

स्वागताधिकारी—नहीं! हमारे देश में सेना नाम की कोई चीज नहीं है। जब हम स्वतंत्र हुए थे, कुछ दिनों तक हमने सेना रखी। हम लड़ाइयों में भी शामिल हुए। किन्तु धीरे-धीरे उसकी व्यर्थता सिद्ध हो गई!

पुरुष—और, यदि कोई आपके देश पर चढ़ाई करे, तब?

स्वागताधिकारी—कैसी बातें करते हैं आप? क्या इस वैज्ञानिक युग में देशों पर चढ़ाई करने की जरूरत रह गई है, जबकि एक छोटी-सी पुड़िया सारे संसार को भस्म कर सकती है? इन परमाणु अस्त्रों के बाद फिर सेना की क्या सार्थकता रह गई? वह तो जहाँ की तहाँ खड़ी रह जायगी या ढेर हो जायगी।

पुरुष—आपके देश को भस्म नहीं करके आप को गुलाम तो बनाया जा सकता है!

स्वागताधिकारी—ह-ह-ह! गुलाम बनाया जा सकता है? एक बार हमें गुलाम बनाया गया था। उनका शस्त्र-बल भी असीम समझा जाता था। किन्तु बापू की अहिंसा के सामने उनकी कोई शक्ति काम आई? और उस समय तक अहिंसा पर हमें ऐसी आस्था भी नहीं थी। बस, देश में सिर्फ एक मुट्ठी लोग अहिंसक थे। उन्हीं को लेकर बापू ने उस समय के संसार के सबसे बड़े शक्तिशाली राष्ट्र को भगा दिया। आज तो हमारा बच्चा-बच्चा अहिंसा का मर्म समझ चुका है।

पुरुष—तो लीजिए, यह पिस्तौल! (पिस्तौल निकाल कर देता है)

स्वागताध्यक्ष—आह! उफ़....

स्त्री—अरे! आप इस तरह विचलित क्यों हो गये? महोदय, महोदय!

स्वागताध्यक्ष—आह! यदि यह कलमुँही संसार में नहीं आई

होती, तो बापू को उस दिन उस प्रकार मरना नहीं पड़ा होता। श्रीमतीजी, पिस्तौल देखते ही हमारे हृदय में घृणा की जो भावना उमड़ पड़ती है, क्या आप लोग उसकी कल्पना भी कर सकेंगे? उफ़—

स्त्री—गाँधीजी की हत्या ! उसकी कल्पना तो हमें भी कँपा देती है, महाशय !

स्वागताधिकारी—और, उसके बाद भी आपलोग अस्त्र-शस्त्र की बातें करते हैं? खैर, अभी अतिथिशाला जाइये। फिर कभी बातें होंगी। नमस्कार। परिचालक, रथ लाइये।

स्त्री—नमस्कार, नमस्कार !

पुरुष—नमस्कार, नमस्कार !

(मोटर के निकलने की आवाज)

(२)

(मोटर के ठहरने की आवाज़

प्रबंधक—स्वागत श्रीमती जी, स्वागत महोदय !

स्त्री—नमस्कार !

पुरुष—नमस्कार !

प्रबंधक—अभी हवाई अड्डे से हमें सूचित किया गया है कि आप दोनों पधार रहे हैं। आइये, आपकी सुख-सुविधा का सारा प्रबन्ध हमने कर रखा है? अतिथिशाला का यह मानचित्र है (कागज खोलने का शब्द)। इनमें ये आवास-कक्ष इस समय खाली हैं।

स्त्री—और, भोज्य-पदार्थों की सूची भी तो होगी।

प्रबंधक—हाँ, यह लीजिये (कागज का शब्द)।

पुरुष—कक्ष और भोजन के लिए हमें क्या देने पड़ेंगे? क्या आप हमें बता सकेंगे?

प्रबंधक—हः हः हः—क्या देने पड़ेंगे? क्या लेने पड़ेंगे—विदेशियों के मुँह से यह सुनते-सुनते हम तो हैरान हैं। महोदय, क्या आपको वायु के लिए कोई मूल्य देना पड़ता है? जल के लिए कोई मूल्य चुकाना पड़ता है? फिर भोजन के लिए मूल्य क्या? यह तो मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकता है! और, क्या अपनी छाया के लिए कोई वृक्ष मूल्य खोजता है, जो यह कक्ष आपसे कुछ माँगे?

स्त्री—तो यहाँ भोजन और आवास....

प्रबंधक—हाँ, बापू के राम-राज्य में भोजन और आवास पाने का अधिकार सब नागरिक को प्राप्त है। फिर, आप तो अतिथि हैं।

पुरुष—धन्य है आपका देश, धन्य है बापू का राम-राज्य! हम इसी राम-राज्य को देखने तो आये हैं। उसके लिए क्या प्रबंध रहेगा!

प्रबंधक—आपकी सेवा में पथ-प्रदर्शक पहुँच जायेंगे। आप जहाँ चाहें, निस्संकोच जा सकते हैं। आप क्या क्या देखेंगे?

पुरुष—कुछ तो उतरते ही देख चुका। मैं विशेषतः उद्योग-धंधे और खेतीबारी....

स्त्री—और, मैं बच्चों की शिक्षा और पारिवारिक जीवन!

प्रबंधक—अच्छा चुनाव! पुरुषों के हिस्से उद्योगधंधे, खेतीबारी; स्त्रियों के जिम्मे पारिवारिक जीवन; भावी नागरिकों की शिक्षा-दीक्षा! बापू के रामराज्य में भी यही व्यवस्था है और यही व्यवस्था उचित भी है। क्यों?

(स्त्री और पुरुष हँस पड़ते हैं)

(३)

(दूर से सामूहिक गीत और वाद्य की झंकार)

पुरुष—हमें आप कहाँ ले आये? यहाँ क्या कोई संगीतशाला है?

स्त्री—अहा, कितनी मधुर झंकार।

पथ-प्रदर्शक—संगीतशाला नही, यह तो श्रमशाला है, जिसे पहले कारखाना कहा जाता था! पहले हम कारबार पर जोर देते थे, अब श्रम को ही महत्त्व देते हैं।

पुरुष—कारखाने में संगीत?

पथप्रदर्शक—श्रम और संगीत में प्रारंभ से ही अविच्छेद्य संबंध रहा है न। संगीत की उत्पत्ति ही श्रम से हुई। हमारी स्त्रियाँ प्रारम्भ से ही चक्की पीसते समय, धान कूटते समय, गाती रही हैं। हमारे मछुए नाव खेते समय, हमारे शिल्पी बड़ी-बड़ी शहतीर उठाते समय भी गाते रहे हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों हम तथाकथित सभ्य होते गये, श्रम से संगीत को अलग करते गये। फल यह हुआ कि आज मेहनत एक खटंत-क्रिया हो चली है—ऊबानेवाली, थकानेवाली, अकाल वृद्ध बनानेवाली! अब फिर से हमने श्रम को संगीत के साथ नत्थी करके काम को खेल बना दिया है।

पुरुष—पहले हमें कार्यालय में ले चलिये, वहाँ मैनेजर से कुछ बातें करके तब भीतर चलेंगे।

पथप्रदर्शक—मैनेजर! अब हमारी श्रम-शालाओं में किसी मैनेजर की आवश्यकता नहीं रह गई है। प्रारम्भ में हमने प्रबंधक रखा था। क्योंकि उस समय तक हममें पुरानी आदतें थीं; जो हमें कामचोर बनाती थीं! किन्तु, धीरे-धीरे वह आदत दूर हो गई। अब तो लोग स्वयं श्रमशाला में उसी प्रकार आ जाया करते है; जैसे पहले सिनेमाघरों में खुशी-खुशी जाते थे।

पुरुष—तो वेतन आदि का निर्णय कैसे करते हैं आप लोग?

पथप्रदर्शक—वेतन? ह-ह-ह-! वेतन कौन दे और किसको दे? समाज की श्रमशाला है; समाज उसके फलों का उपभोक्ता है। अपनी शक्ति के अनुसार सभी श्रम करते हैं और अपनी आवश्यकता के अनुसार सब उपयोग करते हैं।

स्त्री—किंतु, कितने ही देशों में तो यह प्रयोग असफल हुआ।

पथप्रदर्शक—क्योंकि उनलोगों ने दवाव और जोर से काम लेना चाहा। बापू की कर्मविधि तो अन्तः प्रेरणा के जगाने पर निर्भर होती है। हमने उनकी विधि अपनाई, हम सफल हुए। हाँ, एक बात और—

स्त्री—क्या?

पथप्रदर्शक—बापू बड़े-बड़े कारखाने के विरुद्ध रहे हैं। बड़े-बड़े कारखानों में मशीन ऊपर रहती है, आदमी उसके नीचे कुचलता रहता है। इससे मनुष्यता विकास नहीं पाती। फलतः मनुष्य और मशीन में द्वन्द्व रहता है; उत्पादन में त्रुटि होती है। फिरएक बड़े कारखाने के बंद होने से देश भर में हाहाकार मच जाता है। अतः हमने छोटी-छोटी श्रमशालाएँ हीं बनाई हैं-जहाँ हर आदमी हर आदमी को पहचान सके, अपना सके, अपना भाई बना सके। और, यदि एकाध श्रमशाला में उत्पादन कम भी हुआ; तो देशव्यापी कुप्रभाव नहीं पड़ सके।

(भोंपू की आवाज)

स्त्री—अरे, क्या कारखाना बन्द होने जा रहा है? आह, हम इस अलौकिक प्रयोग को देख न सके।

पुरुष—हाँ, इस विचित्र प्रयोग को हम आँखों देखना चाहते थे, महाशय!

पथप्रदर्शक—भोंपू तो बज गया; किन्तु जल्द निकलता कौन है? काम को तो हमने खेल बना दिया है। बच्चे क्या खेल के मैदान को जल्द छोड़ते हैं? तीन बार ऐसा भोंपू बजेगा, तब कहीं श्रमशाला खाली होगी। (संगीत का स्वर तेज होता है) सुनिये, भोंपू बजते ही संगीत

कितना ऊँचा हो गया—चलते-चलाते थोड़ा और श्रम, थोड़ा और संगीत।

स्त्री—तो हम तेजी से चलें।

पुरुष—हाँ-हाँ, तेजी से ही।

(४)

(बच्चों का कलरव सुनाई पड़ता है)

एक बच्चा—देखो, देखो, मेरे गुलाब में यह कितना सुन्दर फूल खिल आया है। इसका रंग है गुलाब का और गंध रजनी-गंधा की। कैसी कमाल किया है मैंने।

दूसरा बच्चा—और इधर देखो, क्या ऐसा आलू तुमने कहीं देखा था? मैंने इसके लिए खास खाद बनाई थी। गुण टमाटर का स्वाद नासपाती का।

तीसरा बच्चा—अरे भाई, दोनों इधर आओ और देखो मेरी यह पुस्तक-धारिणी! इसपर पुस्तकें फेंक भी दो, तो वे आप-ही-आप पंक्तियों में सज जायेंगी। कैसी कारीगरी की है मैंने?

शिक्षक—बच्चो, अब इधर आ जाओ, थोड़ा सैद्धान्तिक ज्ञान भी तो ले लो!

सब बच्चे—आया गुरुदेव!

(स्त्री, पुरुष और पथप्रदर्शक का प्रवेश)

स्त्री—क्यों महोदय, यही आपकी पाठशाला है?

शिक्षक—हाँ, यह हमारी पाठशाला ही तो है।

पुरुष—यह पाठशाला है या उद्योगशाला!

शिक्षक—यों समझिये तो पाठशाला, उद्योगशाला और प्रयोगशाला—तीनों एक साथ! बापू ने शिक्षा का यह नवीन प्रयोग प्रारम्भ किया था, जिसे वह मौलिक शिक्षा-पद्धति कहते थे। बच्चों का सबसे पहला काम होता है, दूध पीना, फिर खेलना। भोजन के साथ खेल को जोड़ दीजिए और फिर इन दोनों का सम्बन्ध शिक्षा से कर दीजिए; बस शिक्षा का यही मूलसूत्र पकड़ कर हम आगे बढ़ते हैं। इसी से यह मौलिक शिक्षा कहलाती है।

स्त्री—आपके रामराज्य की सब चीजें ही विचित्र हैं। क्या मैं इन बच्चों से बातें कर सकती हूँ?

शिक्षक—क्यों नहीं? रामू! इनसे बातें तो कर बेटा!

स्त्री—आप किस वर्ग में पढ़ रहे हैं?

बच्चा—वर्ग? वर्ग क्या है? बापू के समाज में वर्ग?

स्त्री—(शिक्षक से) यह बच्चा क्या कह रहा है? क्या यहाँ पाठशालाओं में वर्ग नहीं रखे जाते हैं?

शिक्षक—नहीं श्रीमती जी, (बच्चे से) रामू, यह जानना चाहते हैं कि तुम क्या सिख रहे हो?

बच्चा—जमीन और बीज के भेदों को समझ चुका हूँ अब मौसम के भेद से जमीन और बीज के भेद के बारे में प्रयोग कर रहा हूँ। क्या ऐसा गेहूँ नहीं बनाया जा सकता जो धान के मौसम में...

स्त्री—रहने दो बच्चे, मैं समझ गई....

बच्चा—नहीं, नहीं, मैं और भी सीख चुका हूँ। मैं ऐसी कुर्सी बनाने में लगा हूँ जो बैठते ही मनचाही दिशा में पहुँचा दे।

स्त्री—रहने दीजिए, मैं समझ गई, समझ गई। धन्य हैं आपके शिक्षक जिन्होंने ऐसे छोटे-से बच्चों में इतना ज्ञान भर दिया है।

बच्चा—शिक्षक ? शिक्षक किसे कहते हैं?

स्त्री—तो उन्हें आप क्या कहते हैं?

शिक्षक—श्रीमती जी, हमारे यहाँ शिक्षक नही होते! शिक्षक वह है, जैसा आपने कहा है, जो बच्चों में ज्ञान भरे। बच्चों में ज्ञान भरने का पेशा हमारे यहाँ नहीं रह गया है। हमें बच्चों में जो ज्ञान निहित है, उसे उभाड़ना भर है। इसलिए जो लोग उन्हें इस कर्म में सहायता पहुँचाते हैं, वे शिक्षक नहीं कहला कर शिक्षा-सहायक कहलाते हैं। शिक्षक शब्द हमने जानबूझ कर छोड़ दिया है। क्योंकि सहायक शब्द से बच्चे सदा यह अनुभव करते हैं कि उन्हें स्वयं शिक्षित होना है, हमारा काम सिर्फ सहायता देना है उन्हें।

(संगीत का स्वर)

बच्चा—वह नया पाठ प्रारंभ हो रहा है, अब मैं जा सकता हूँ?

स्त्री—शिक्षण में भी आपने संगीत को प्रमुखता दे रखी है!

शिक्षक—श्रम के साथ संगीत और संगीत के साथ शिक्षण—शिक्षण और श्रम को जोड़नेवाली कड़ी तो संगीत ही है न? संगीत को बन्द कर दीजिए, श्रम और शिक्षण दोनों नीरस, शुष्क, और उकतानेवाले, ऊबानेवाले बन गये।

स्त्री—आपके यहाँ सब कुछ विचित्र है।

(५)

(एक अनहद संगीत : वंशी का स्वर : कोयल की कूक)

पुरुष—आप हमें किस मायापुरी में लिए जा रहे हैं ?

स्त्री—हाँ, यह मायापुरी ही तो है, चारों ओर लहराते हुए खेत। कहीं फल–फूल; कहीं बालियाँ ! बीच-बीच में बगीचे—कहीं बौरों से लदे, कहीं फलों से लदे। हवा पराग से बोझीली। फिर यह अनहद संगीत ! अहा !

पथप्रदर्शक—ओहो, आप कवि भी हैं। हाँ, हर स्त्री कुछ कवि होती है ! किन्तु यह मायापुरी नहीं, यह तो मायापुरी का पड़ोस है, मायापुरी तो देखिए, वहाँ है।

पुरुष—वह तो कोई नगर-सा है ? कौन सा नगर है ?

स्त्री—किन्तु आप तो हमें गाँव दिखलाने ले आये थे न ?

पथप्रदर्शक—वह गाँव ही तो है !

पुरुष—गाँव है ? जहाँ के मकान यहीं से यों चमक रहे हैं, शायद कोई नमूने का गाँव बसाया है आपने।

पथप्रदर्शक—नहीं, हमारे सारे गाँव ऐसे ही हैं। बहुत दिनों की बात है। हमारे बापू की एक शिष्या थी—विलायत की। उन्होंने भारतीय गाँव पर लिखा था कि जब रास्ता पकड़ कर मैं चलती हूँ और दुर्गन्ध से नाक फटने लगती है, तो मैं समझती हूँ, मैं गाँव के निकट आ गई। काश, वह देवी आज होतीं ! खैर, वह न सही, आप तो हैं। कहिये, आपकी नाक तो नहीं फट रही !

स्त्री—मेरे तो नाक, कान, और आँख—सब तृप्त हुए जा रहे हैं, चलिए, हम जरा आपके गाँव को निकट से देखें।

पुरुष—क्या सचमुच ये गाँव हैं ! पंक्तियों में बने ये सुन्दर-सुन्दर मकान ! बीच-बीच में पतली, सुथरी पगडंडियाँ। हर घर के सामने रंग-बिरंगी फुलवारियाँ और, यह शायद बिजली भी.....

पथप्रदर्शक—हाँ, हाँ, बिजली ही तो है। बिजली खेतों को पटाती है, जोतती है, घरों को जगमग करती और चौके घर से सारी मनहूसियत को दूर रखती है ! यह बिजली की कृपा है, जिसने हमारे शहरों और गाँवों के भेद-भाव को सदा के लिए दूर कर दिया है !

पुरुष—किन्तु गाँधीजी तो ग्राम-उद्योगों के पक्षपाती थे न ? फिर ये वैज्ञानिक साधन....

पथप्रदर्शक—ग्राम-उद्योग का पक्षपाती होने का अर्थ क्या वैज्ञानिक साधनों से असहयोग करना है? बापू ने रेल, मोटर, रेडियो, प्रेस सबका प्रयोग किया था। जहाँ विज्ञान मानवता को पीसता है, हम उसे दूर रखते हैं। विज्ञान को हमने विशाल उद्योगों के एकाधिकार से हटाकर ग्राम-उद्योगों में जोत दिया है, उसने हमें स्वावलंबी बनने में प्रचुर सहायता की है। बापू का मूलमंत्र था स्वावलंबन। हर व्यक्ति स्वावलंबी हो, हर कुटुंब स्वावलंबी हो, हर गाँव स्वावलंबी हो और हो सारा राष्ट्र स्वावलंबी।

(चर्खे के चलने की घर्र-घर्र आवाज)

स्त्री—अरे, क्या आप लोगों के घरों में आज भी चर्खे चलाये जाते हैं?

पथप्रदर्शक—क्या चर्खे को हम कभी भूल सकते हैं? जिसने हमें स्व-राज्य दिलाया, जिसको हमने अपने झंडे पर रखा, उसे भूल जाना तो अपने इतिहास को, अस्तित्व को भूल जाना है। फिर बापू कहा करते थे, चर्खा ग्रामीण अर्थशास्त्र की धुरी है। धुरी को छोड़ दें, तो गाड़ी चलेगी क्या?

पुरुष—किन्तु चर्खा तो पुराण-पंथिता का प्रतीक है।

पथप्रदर्शक—हमारे नये चर्खे को देखिए, तो कहिये! बापू ने अठारहवीं सदी के चर्खे को बीसवीं सदी के योग्य बनाया, हमने उसे इक्कीसवीं सदी के योग्य बना दिया है। हमारा एक चर्खा पूरे परिवार को वस्त्र-स्वावलंबी बना देता है। हम बापू के सपूत हैं न?

(लड़कियों के हँसने की आवाज)

स्त्री—ओहो, इधर लड़कियाँ आ रही हैं। कितनी सुन्दर?

पुरुष—तितलियों जैसी—

पथप्रदर्शक—हाँ, रूप में तितलियाँ, किन्तु काम में मधुमक्खियाँ। हमारी स्त्रियाँ युगों से घरेलू कामों पर एकाधिकार रखती आई हैं, अब तो वे कृषि आदि उद्योगों में भी हमारा हाथ बँटाती हैं!

पुरुष—तब तो आप के यहाँ भी स्त्री-पुरुष में संघर्ष होगा!

पथप्रदर्शक—जी नहीं। जहाँ अधिकार की बात होती है, वहाँ संघर्ष! यहाँ तो कर्त्तव्य की बात है। हमारे शास्त्रों ने स्त्री को पुरुष की अर्द्धांङ्गिनी कहा है—सामाजिक और पारिवारिक कर्मों का आधा बोझ अपने ऊपर लेकर उन्होंने उसे सार्थक बना दिया है। हमारी नारियों का आदर्श माता कस्तूरबा हैं—इसे आप न भूलें।

स्त्री—पूज्य बा! वह तो संसार की नारियों के लिए सदा नमस्य रहेंगी।

पुरुष—हाँ, एक बात! आपके यहाँ कुछ लोग जो हरिजन कहलाते थे, गाँव में उनकी बस्ती किस तरफ है? जरा उधर तो चलिए।

पथप्रदर्शक—ह-ह-ह! आप सुदूर भूत की बात कर रहे हैं। बापू ने कहा था—हमें एक वर्गहीन-वर्णहीन समाज बनाना है! हमने वैसा ही समाज बना लिया है—हमारे यहाँ न कोई धनी है न कोई गरीब, न कोई कुलीन है, न कोई अन्त्यज! सब एक साथ रहें, सब एक साथ उपभोग करें और एक साथ राष्ट्र को बलवान बनायें—इस प्राचीन आदर्श को हमने नये साँचे में ढाल दिया है। देखते नहीं, गाँव के सारे घर एक से हैं। गाँव के घर ही एक-से नहीं हैं, हमारे हृदय भी एक हो चुके हैं।

(दूर से मृदंग-झाँझ आदि का स्वर)

स्त्री—वह? कोई उत्सव हो रहा है क्या?

पथप्रदर्शक—हमारा हर दिन उत्सव का दिन है। उत्सव से हम दिन का प्रारंभ करते हैं और उत्सव से ही दिन की समाप्ति होती है। संध्या होने को आई न? अब 'जन-गृह' में गाँव के स्त्री-पुरुष, बृद्ध-बच्चे सब-के-सब एकत्र होंगे। वहाँ नृत्य होगा; गान होगा, नाटक होंगे, प्रहसन होंगे। रेडियो लगा है, देश-देश की वार्त्तायें सुनी जायेंगी—फिर लोग खुशी-खुशी अपने घर जायेंगे और सुख की नींद सोयेंगे।

पुरुष—कितना सुखी समाज बना रखा है आप लोगों ने!

स्त्री—सचमुच, माया-पुरी बनाई है आपने। मेरी तो इच्छा होती है, यहीं बस जाऊँ!

पथप्रदर्शक—आप दोनों अपनी बात कह गये—पुरुष प्रतिस्पर्द्धी होता है, नारी आत्म-समर्पिणी! किन्तु हम कहेंगे, आप जाइए और अपने देश में बापू के इस राम-राज्य का संदेश दीजिए।

पुरुष—अब हम वापस जाना चाहते हैं, क्या अपने राष्ट्रपति के दर्शन हमें करा सकेंगे आप?

पथप्रदर्शक—राष्ट्रपति? राष्ट्रपति हमारे देश में अब नहीं होते। पति शब्द से प्रभुत्व सूचित होता है। हमने उसके बदले, प्रमुख

राष्ट्रसेवक शब्द रखा है। आप उनसे अवश्य मिलें। मिलकर आप प्रसन्न हो जायेंगे।

स्त्री—कौन-से वह सौभाग्यशाली सज्जन हैं, जिन्हें ऐसे राष्ट्र का प्रमुख सेवक होने का गौरव प्राप्त है?

पथप्रदर्शक—जिस दिन बापू का अलौकिक बलिदान हुआ, उसके ठीक एक दिन पहले उन्होंने प्रवचन किया था कि मैं प्रसन्न तब होऊँगा, जब गाँव में हल जोतनेवाला व्यक्ति राष्ट्र के राज्य-सिंहासन पर बैठे। एक वैसे ही सज्जन हमारे प्रमुख राष्ट्रसेवक हैं–और उन्होंने बापू की छत्र-छाया में काम भी किया था।

स्त्री—अरे, तो उनकी क्या उम्र है?

पथप्रदर्शक—यही, १२० वर्ष के लगभग। बापू की इच्छा थी, वह १२० साल जीयें। वह तो चल बसे, किंतु उम्र की यह धरोहर हमें दे गये हैं। हमारे प्रमुख राष्ट्रसेवक उनकी इच्छा की पूर्त्ति कर सके हैं, यह हमारे लिए सौभाग्य की ही बात है।

पुरुष—एक हल जोतनेवाला व्यक्ति इस सर्वोच्च पद पर कैसे पहुँचेगा? क्या आपके यहाँ उम्मीदवारों में प्रतिद्वंद्विता नहीं होती?

पथप्रदर्शक—हमारे यहाँ चुनाव में कोई उमीदवार नहीं होता। बापू क्या कभी किसी पद के उमीदवार हुए? तो भी वह हमारे सब कुछ थे। हमने वही पद्धति ली है। बापू की जयन्ती-दिवस को हम उत्सव मना कर लौटते हैं, तो इस पद के लिए किसी एक के लिए अपना मत डाल कर। मत पाने के लिए कोई प्रचार करना तो हमारे यहाँ शिष्टता के प्रतिकूल समझा जाता है और हमारे राष्ट्र में कोई अशिष्ट नहीं, यह हमारा दावा है।

स्त्री—सबकुछ विचित्र है आपके देश में। चलिए, हम उनके दर्शन कर लें।

(६)

(मोटर के भोपू का शब्द)

स्त्री—नमस्कार!

पुरुष—नमस्कार!

राष्ट्रसेवक—नमस्कार देवी जी, नमस्कार महोदय! आइये, पधारिये।.......तो देख लिया हमारे बापू के रामराज्य को!

पुरुष—देख लिया, प्रसन्न हुआ!

स्त्री—प्रसन्न ही क्यों, हम तो विस्मय-विमुग्ध हैं। और जो कसर थी, उसे आपके दर्शन ने पूरा कर दिया। आप गाँधी जी के साथी....

राष्ट्रसेवक—साथी नहीं, साथी नहीं, उनका अनुयायी। मैं तो तब बारह-तेरह वर्ष का था। हाँ, ये आँखें धन्य हैं, जिन्होंने उनकी सूरत देखी थी, और यह शरीर धन्य है कि यह उन्हें अर्पित था। देखिए, यह .....

स्त्री—ओ हो!

पुरुष—अरे!

राष्ट्रसेवक—जब बापू ने १९४२ में क्रान्ति का नारा दिया, मैं बच्चा ही था। एक थाने पर चढ़ाई हुई, उसपर राष्ट्रीय झंडा फहराने के लिए मैं बन्दर की तरह उछल कर जा चढ़ा। नीचे से गोली दागी गई, उसी का यह चिह्न!

स्त्री—उफ़, कैसी यह बर्बरता!

पुरुष—शासन का मोह हमसे क्या नहीं करा सकता है?

राष्ट्रसेवक—इसीलिए बापू कहा करते थे कि सबसे अच्छा शासन वह है जिसमें कम-से-कम शासन किया जाय। आपने हमारे राष्ट्र में कहीं ऐसा देखा है, जहाँ शासन का कोई दबाव आपको अनुभव करना पड़ा हो। धीरे-धीरे हम शासन को सिमट रहे हैं और शायद उसका एकमात्र चिह्न यह पद रह गया है, जिसे देकर मुझे सम्मानित किया गया है।

स्त्री—सेना नहीं, शासन नहीं! एक विचित्र समाज बना रखा है आपलोगों ने।

राष्ट्रसेवक—किन्तु, यहाँ तक पहुँचने मे हमें किन-किन कठिनाइयों का समाना करना पड़ा है, काश, उसे आप लोग जान पाते। जब बापू ने राम-राज्य कहा, लोगों ने खिल्लियाँ उड़ाईं—उन्हें खब्ती कहा, पागल बताया। हमें उनकी बात कुछ इतनी पागल की मालूम हुई, कि हम बर्दाश्त नहीं कर सके उन्हें....उफ़, उनकी हत्या......

पुरुष—हाँ, वह तो संसार-भर के लिए एक दुःखद घटना हुई थी—गाँधी जी ऐसे सन्त को गोली से मारा जाना। लेकिन, क्षमा कीजिए, तो पूछूँ।

राष्ट्रसेवक—क्षमा! आप क्या कह रहे हैं यह? आप सब-कुछ पूछ सकते हैं।

पुरुष—क्या धर्म का भेदभाव......

राष्ट्रसेवक—बस, बस, रहने दीजिए। धर्मका भेद भाव तो बापू के रक्त से ही धुल गया। हाँ, जो उसका धब्बा-सा बच गया था, उसे भी हमने दूर कर लिया—यद्यपि उसमें प्रयत्न काफी करने पड़े। अब हमारे यहाँ विश्वासों की विभिन्नता, विचारों की विभिन्नता उसी तरह स्वाभाविक मानी जाती है, जैसी मुखाकृति की विभिन्नता। किसी दो के चेहरे एक हैं? फिर हृदय और मस्तिष्क कैसे एक-से होंगे। किन्तु अलग-अलग चेहरे रखकर भी हम सभी मानव हैं, कुटुम्बी हैं, बाप हैं, भाई हैं, पति हैं, पत्नी हैं, बहन हैं, बेटी हैं, एक-साथ रहते हैं, आनन्द मनाते हैं। उसी तरह अलग विश्वास और विचार रख कर भी हम परस्पर प्रेम और आनन्द से रह सकते हैं, रहते हैं।

पुरुष—धन्य हैं आप और धन्य है आपका देश जहाँ एक ऐसा समाज प्रस्फुटित हुआ है, जो संसार के लिए अनुकरणीय है।

राष्ट्रसेवक—धन्य न हम हैं, न हमारा देश है। धन्य हैं बापू, जिनके चरणों का अनुसरण कर हम यहाँ पहुँचे हैं।

स्त्री—मैं तो अपने भाई-बहनों से कहूँगी, बापू का पथ ही विश्व-कल्याण का पथ है—हमें उसी ओर बढ़ना चाहिए। जहाँ मानव मानव का भेद नष्ट हो चुका हो; जहाँ श्रम के साथ संगीत जुड़ा हो और संगीत के साथ शिक्षण; जहाँ बच्चे फूल की तरह स्वतः प्रस्फुटित होते हों और नारियाँ तितलियों की तरह सुन्दरता रखकर मधुमक्खियों की तरह संचयशील हों, और सबसे बढ़कर जहाँ शस्त्र बर्बरता के चिह्न माने जाते हों और शासन व्यक्तित्व के लिए बंधन, भला वह समाज अनुकरणीय न होगा, तो और कौन-सा समाज!

राष्ट्रसेवक—आप तो कविता करने लगीं।

स्त्री—सत्य कविता का स्वप्न है। जिन्होंने इतने बड़े सत्य का स्वप्न देखा, क्या बापू से बढ़कर भी कोई कवि होगा।

राष्ट्रसेवक—बापू! तुम्हें नमस्कार है, बापू!

पुरुष—अपने देश की ओर से हम भी उनकी स्मृति में सर झुकाते हैं—नमस्कार बापू!

स्त्री—नमस्कार बापू!

पुरुष—तो हमें विदा की आज्ञा दीजिए!

राष्ट्रसेवक—आप दोनों का पथ मंगलमय हो!

नेत्र-दान

[एकांकी]

लेखक की ओर से

'नेत्रदान' भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त करुण घटना पर आधारित है।

यह बिहार का सौभाग्य रहा है कि इसकी पुत्रियों और पुत्रों को लेकर भारतीय साहित्य में कितने ही काव्य, नाटक, उपाख्यान आदि रचे गये।

सीता, अहिल्या, अम्बपाली, वासवदत्ता तथा चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, अशोक, कुणाल आदि ऐसी पुत्रियाँ और पुत्र इस भूमि के श्रृंगार रहे कि भारतीय साहित्य-स्रष्टाओं को बार-बार अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन के लिए इनके चरित की शरण लेनी पड़ी।

निस्सन्देह ही जब किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र या पात्री का चरित किसी कलाकार के हाथ में आता है, तो उसका रूप वही नहीं रह जाता, जो इतिहास या पुराण में वर्णित है।

कलाकार उस चरित्र में अपना रंग भरता है; उसके किसी खास गुण पर जोर देता है, उसे उभाड़ता है और उससे सम्बन्धित घटनाओं की नई व्याख्या भी प्रस्तुत करता है।

यही कारण है कि भिन्न-भिन्न काव्य-ग्रन्थों में एक ही व्यक्ति का चरित भिन्न-भिन्न रूपों में पाया जाता है।

बिहार के जिन पुत्रों और पुत्रियों को कलाकारों के हाथों में पड़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उनके भी कई रूप हमारे सामने आये हैं।

'नेत्र-दान' जिस घटना पर आधार रखता है, उसे भी कई रूपों में प्रस्तुत किया जा चुका है। किंतु, इसके लेखक ने जिस रूप को अपनाया है, उसे समझने के लिए इतिहास के उस सुनहले पृष्ठ को एक बार फिर से उलट जाना आवश्यक है।

और, तभी इसकी मार्मिकता का यथार्थ आस्वादन भी सम्भव हो सकता है।

अशोक की महानता

अशोक की महानता ने आधुनिक इतिहास-लेखकों का ध्यान अपनी ओर' अधिकाधिक आकृष्ट किया है।

विश्व-इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए एच० जी० वेल्स ने अशोक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सिर पर सोने का ताज पहन कर और हाथ में फौलादी तलवार लेकर जहाँ संसार के अन्य राजाओं ने संहार का भयानक दृश्य उपस्थित किया, वहाँ एक यह भी सम्राट् थे, जिन्होंने भिक्षुओं का बाना धारण कर संसार के कोने-कोने में शांति-धर्म का सन्देश भेजा !

पं० जवाहर लाल नेहरू ने भी अपनी 'विश्व-इतिहास की झलक' में अशोक का उल्लेख बड़े गौरव के साथ किया है।

किन्तु, इतिहास बताता है, अशोक सदा वह अशोक नहीं थे, जिनके शुभ्र कर्तृत्वों की चर्चा संसार के इन दो महापुरुषों ने तथा अन्य इतिहासकारों ने इस प्रकार बारम्बार की है।

अशोक, अपने प्रचंड स्वभाव के कारण, चंडाशोक के नाम से भी अभिहित थे। कहा जाता है, उन्होंने अपने सौ भाइयों की हत्या कर उनके सिर एक कुएँ में डलवाये थे, जिसे आजकल अगमकुआँ कहते हैं, जो पटना से सटे अशोककालीन खंडहरों में आज भी कायम है।

इतिहास यह भी कहता है, उनमें विजय की बड़ी आकांक्षा थी और भारत के कई भूखंडों को सैन्यबल से जीत कर उन्होंने अपने राज्य में मिलाया था।

विजय और राज्य की इसी आकांक्षा के कारण उन्होंने कलिंग पर चढ़ाई की और भीषण नर-संहार के बाद उसे पराजित किया।

किंतु, कलिंग की इस विजय ने ही उनके जीवन को एक नया मोड़ दे दिया।

कहते हैं, कलिंग में की गई निर्मम और भीषण हत्याओं के कारण उनके प्रचंड स्वभाव में भी परिवर्तन हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अब से वह फिर कभी युद्ध नहीं करेंगे !

उस समय बुद्ध का शांति-धर्म भारत में फैल रहा था।

उन्होंने उस धर्म को स्वीकार किया और अपना शेष जीवन संसार में इसी शांति-धर्म के प्रचार के लिए उत्सर्ग कर दिया।

इस उत्सर्ग का चरम बिन्दु यह रहा कि उन्होंने अपनी पुत्री संघमित्रा और पुत्र महेन्द्र को सिंहल भेज दिया।

अब भी सिंहल में संघमित्रा और महेन्द्र से सम्बन्धित अवशेष पाये जाते हैं और बोधि-वृक्ष की जो डाल उनलोगों द्वारा सिंहल ले जाई गई, वह एक महान वृक्ष के रूप में आज भी जीवित है !

कुणाल

कुणाल अशोक का कनिष्ठ पुत्र था और उसके सम्बन्ध में एक बड़ी ही करुण कथा बौद्ध-साहित्य में पाई जाती है।

कुणाल की सौतेली माँ थी तिष्यरक्षिता। वह सिंहलनरेश तिष्य की पुत्री थी।

कुणाल बड़ा ही सुन्दर था, विशेषतः उसकी आँखें बड़ी ही सुन्दर—मादक और मोहक—थीं।

कहते हैं, उन आँखों पर तिष्यरक्षिता मोहित हो गई।

इसी समय अशोक ने कुणाल को उत्तर-पश्चिमी सीमा पर होनेवाले विद्रोह को दबाने के लिए राजधानी से बाहर भेज दिया।

तिष्यरक्षिता चिढ़ गई। उसने अपना अपमान बोध किया और अशोक की मुहर लेकर एक जाली आज्ञापत्र उसके पास भेजवा दिया कि अपनी आँखें निकाल कर भेज दो।

पितृ-भक्त कुणाल ने अपने पिता की आज्ञा का पालन किया।

वह अंधा होकर अपनी पत्नी कंचनमाला के साथ इधर-उधर घूमता रहा!

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने अंधे कुणाल की मर्मव्यथा को अपने 'कुणालगीत' में सूत्रवद्ध कर हिन्दी-साहित्य को एक अभूतपूर्व देन दी है।

बौद्ध-साहित्य कहता है; कुणाल गाता, भीख माँगता, कंचनमाला के साथ एक दिन अनजाने पाटलिपुत्र आ पहुँचा।

तब सारी बातें खुलीं। अशोक ने तिष्यरक्षिता को दंड दिया। कहते हैं, कुणाल को फिर आँखें भी प्राप्त हुईं!

यह नाटक

किंतु, इस नाटक में कथा का अन्तिम भाग समाहित नहीं है।

कहा जा चुका है, कलाकार बाध्य नहीं है कि वह इतिहास को पूरा-पूरा, जैसे-का-तैसा, दुहराये।

यदि वह ऐसा करे, तो ऐतिहासिक इतिवृत्ति और कलाकृति में भेद ही क्या रह जाय?

पहले मैं चाहता था कि अशोक पर ही एक नाटक लिखूँ।

किन्तु, जब इसके लिए मैंने आवश्यक सामग्रियों की खोज-

ढूंढ़ शुरू की, तो मुझे अशोक से अधिक अशोक-परिवार कलाकृति के लिए कोमल, आकर्षक जँचा।

संघमित्रा, महेन्द्र और कुणाल—तीनों के चरित को लेकर मैंने तीन एकांकी लिखे। ये तीनों रेडियो से प्रसारित हुए तथा कई स्थानों पर अभिनीत भी हुए।

'नेत्रदान' कुणाल-सम्बन्धी एकांकी है।

एकांकी का यह नाम सिर्फ मौलिकता की खोज में ही नहीं रखा गया, बल्कि मैं इस घटना की जैसी व्याख्या रखना चाहता था, उसके उपयुक्त यही नाम था।

इस करुण घटना का मूल-स्रोत मैं कलिंग के युद्ध तक ले जाना चाहता था।

युद्ध मानवता का सदा अभिशाप रहा है। कल वह अभिशाप था, आज भी अभिशाप है और आगामी कल में भी वह मानवता के लिए अभिशाप ही रहेगा।

जो युद्ध करते हैं या कराते हैं, उन्हें प्रायश्चित देना होगा। चाहे आज दें, या कल देने को वाध्य हों!

सम्राट् अशोक की हिय की आँखें तुरत खुलीं। उन्होंने प्रायश्चित देने में कोई कसर नही उठा रखी। इसीसे वह इतिहास में अमर हुए।

किंतु, उनके परिवार को भी इस प्रायश्चित में शामिल होना पड़ा!

सबसे पहले संघमित्रा और महेन्द्र को—स्वतः, स्वेच्छा से। कुणाल सबसे कोमल था, अतः सभी उसे बचाना चाहते थे।

किन्तु क्रूर नियति ने उससे वह प्रायश्चित वसूल किया, जिसकी किसी ने कल्पना तक नहीं की थी!

नाटक की रूपरेखा

बौद्ध-साहित्य कहता है, जब सम्राट् अशोक ने बुद्ध का शान्ति-धर्म स्वीकार किया, तो सिंहल-नरेश ने अपना दूत उनके पास भेज कर निवेदन किया कि इस धर्म के प्रचार के लिए वह किसी योग्य व्यक्ति को उसके देश में भेजें।

तब संघमित्रा और महेन्द्र दोनों वहाँ भेजे गये।

वहीं, इस बात का भी उल्लेख है कि सिंहल-नरेश ने अपनी पुत्री को उपहार-रूप में अशोक के पास भेज दिया था।

अतः मैंने इस नाटक का प्रारम्भ सिंहल से ही किया है।

तिष्यरक्षिता पाटलिपुत्र जा रही है, इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात संघमित्रा के लिए और क्या हो सकती है? वह फूली नहीं समा रही है, किन्तु महेन्द्र के मन में आशंका जगती है!

आशंका—किसके लिए?

एक दुर्बल, कोमल, असहाय प्राणी के लिए!

हाँ, कुणाल को मैंने एक कलाकार के रूप में चित्रित किया है और कलाकार से बढ़कर इस प्रपंची संसार में दुर्बल, कोमल, असहाय प्राणी और कौन है?

इसके बाद, रक्षिता पाटलिपुत्र आती है— वहीं से, जहाँ उसकी प्यारी बहन और पूज्य अग्रज हैं, अतः कुणाल स्वभावतः ही उसकी ओर आकृष्ट होता है।

और, जब उसे यह पता चलता है, रक्षिता भी कला की उपासिका है और वह एकाकीपन से घबराती है, तब ममता-वश उसका आकर्षण और बढ़ता जाता है!

दूसरे दृश्य का सार यही है।

उधर अशोक राजपाट और धर्म-प्रचार में फँसे हैं, इधर एक युवक और युवती की एकान्त कला-साधना चलती है।

इसकी परिणति क्या होगी?

स्वभावतः ही अब कुणाल की पत्नी कंचनमाला चिंतित होती है!

कुणाल को वह जानती है, उसपर उसका विश्वास है। वह अपनी परिचारिका से कहती है—"परिचारिके, मैं कुमार को जानती हूँ। वह कला की उस सीमा तक पहुँच चुके हैं जहाँ वासनाओं की छाया भी नहीं पहुँच सकती। उज्ज्वलता ही जहाँ का रंग होता है, पवित्रता ही जहाँ की गंध होती है।"

किन्तु यह राज-परिवार ठहरा—न जाने कब क्या तूफान खड़ा हो जाय?

इसी समय कुणाल पहुँचते हैं और कलाकार-सुलभ सरलता में ही कुछ ऐसी बातें कह जाते हैं कि कंचनमाला की चिन्ता भय में परिणत हो जाती है।

इसीसे, जब पता लगता है कि कुणाल को सम्राट् बाहर भेजना चाहते हैं, तो वह इसे वरदान ही मान लेती है!

तीसरा दृश्य यहाँ समाप्त होता है।

चौथे दृश्य में कुणाल के बाहर चले जाने के बाद रक्षिता के हृदय में उठनेवाली प्रतिक्रियाओं के घात-प्रतिघात के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं!

वह अपमान बोध करती है। फिर इसमें उसे अपने देश और अपने वर्ण के अपमान का बोध होता है—

"मैं सिंहल से आई हूँ न? सिंहल में राक्षसी बसती है न?" वह आप ही आप कहती है—

"रक्षिते, तू राक्षसी है न? वे तुम्हें राक्षसी समझते हैं! ....फिर क्यों कोमल भावना? जिसने मानवी रक्षिता का अपमान किया, वह राक्षसी रक्षिता का प्रकोप सहे!"

सबसे बढ़कर वह इस अपमान में कंचनमाला का हाथ देखती है। आग में घी पड़ता है! वह निश्चय कर लेती है—

"चेहरे पर आँखें—कितनी सुन्दर! किन्तु, इन काली हथेलियों पर...................."

और इस निश्चय का फल पाँचवें दृश्य में देखिये!

कंचनमाला के कंधे पर हाथ रखे कुणाल पाटलिपुत्र के निकट पहुँचता है। यहाँ की हवा में, यहाँ के वातावरण में वह कुछ ऐसी चीजें पाता है जिससे उसे लगता है, वह किसी परिचित स्थान में पहुँच गया। इस हवा में गंगा की—पाटलिपुत्र के निकट की गंगा की—शीतलता है क्या? और, कोयल की इस काकली में आम के बौरों की गंध भी घुली है क्या?

मानता हूँ, इसमें मेरा पाटलिपुत्र-सम्बन्धी पक्षपात बोलता है, किन्तु मैं अपने को इससे बचा नहीं सकता था।

यहीं पर मैंने, कुणाल की ही कलाकार-सुलभ वाणी में, उस करुण घटना का वर्णन दिया है कि किस तरह उसने अपनी आँखें स्वयं निकाल कर भेजी थीं।

और जब उसे पता चलता है, यह उसकी छोटी माताजी का कुचक्र था, तो वह बोल उठता है—

"तुमने सुना है न कंचने, प्रेम अंधा होता है! क्या कला भी अंधी होती है?"

नाटक लिखते समय जो वाक्य अनायास लिख गया, उसकी मार्मिकता से आज भी मैं अभिभूत हूँ!

यदि सिर्फ प्रेम और कला का द्वंद्व ही मुझे दिखाना होता, तो नाटक को यहीं समाप्त किया जाना चाहिये था। कई कला-प्रेमी मित्रों ने भी ऐसी राय दी थी!

किन्तु, मैंने कला को कभी मानसिक विलास या विहार का साधन नहीं माना।

अनावश्यक रूप से सोद्देश्यता लाना भी कला की हत्या करना है। किन्तु, उसे आवश्यकता से अधिक उन्मुक्त विचरण करने देना तो मानव-कर्तव्यों के प्रति उदासीनता दिखाना है!

छठे और अन्तिम दृश्य में हम फिर सिंहल पहुँच जाते हैं और फिर संघमित्रा और महेन्द्र के वार्तालापों में डूब जाते हैं।

इस घटना को जानकर भिक्षुप्रवर महेन्द्र भी विचलित हो उठे हैं, और जब संघमित्रा को इसकी खबर होती है, वह तो बेहोश हो जाती है!

किंतु, मानव-चेतना अन्ततः अपना ऊर्ध्वगामी रूप दिखाती है। महेन्द्र इस घटना की व्याख्या करते हैं—"कलिंग, अशोक, संघ- मित्रा—सिंहल, तिष्यरक्षिता, कुणाल ये सब एक ही घटना-शृंखला की कड़ियाँ हैं!"

नाटक के पहले दृश्य में उन्होंने कहा था—"कलिंग में हमने जो हत्यायें कीं, रक्त बहाया, अभी शायद उसका पूरा प्रायश्चित नहीं हो पाया है।"

किंतु, अब स्वीकार करते हैं—"मित्रे, कलिंग का प्रायश्चित पूरा हुआ! हमने असंख्य गर्दनें काट कर जो रक्त बहाया, उसका मूल्य हमें आँखों के रक्त से चुकाना पड़ा—सुन्दरतम आँखों के रक्त से!"

यही नहीं, महेन्द्र चाहते हैं, इस घटना से लोग पाठ ग्रहण करें—

"फिर कलिंग न बने, बहुत ठीक। लेकिन कलिंग न बने, इसके लिए एक नया संसार बनाना होगा, मित्रे!......................उठो, चलो—आँसू पोंछो, प्रयत्न में लगो। यदि एक-एक व्यक्ति अपने कर्तव्य को समझे, उसमें जुट जाय, तो फिर नया संसार बस कर रहेगा, बसकर, बसकर रहेगा!"

इन्हीं शब्दों के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाट्य-कला

किसी भी कलाकृति का निर्माण सरल और सहल कार्य नहीं। नाटक की रचना तो और भी कठिन है।

नाटक दृश्य-काव्य है। नाटक पढ़ा भी जाता है; किन्तु उसका उद्देश्य तो होता है रंगमंच पर खेला जाना।

कुछ गज लम्बे-चौड़े स्थान में, कुछ घड़ियों के अन्दर, उन सब बातों का अवतरण करना जो एक व्यक्ति या समूह के जीवन में भिन्न-भिन्न स्थानों पर, भिन्न-भिन्न समयों में घटित हुई!

फिर यदि नाटक का नायक ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ, तो जिम्मेवारी और बढ़ जाती है।

कलाकार को कुछ स्वाधीनता प्राप्त है; किन्तु उस स्वाधीनता की भी सीमा है, जिसका अतिक्रमण कर वह समाज के सामने अपराधी बन जा सकता है।

अतः कलाकार को पग-पग पर चौकस और सावधान रहना पड़ता है।

"नेत्रदान" की रचना के समय भी ऐसे प्रसंग आये हैं।

बौद्ध-कथा के अनुसार तिष्यरक्षिता कुणाल की आँखों पर मोहित हुई!

एक नाटककार यह भी कर सकता था कि रंगमंच पर ही रक्षिता कुणाल से प्रणय की भीख माँगे!

कुछ रसिकों को यह अच्छा भी लगता, मुझे दुःख और खेद के साथ कहना पड़ता है कि ऐसा किया भी गया है; किन्तु क्या यह भारतीय परम्परा के अनुरूप होता?

और, आँखों पर मोहित होने का अर्थ क्या सदा वासना ही है?

मैंने अपने नाटक में इसे रहस्यमय ही रहने दिया है! आँखों पर मोहित होने की बात को सत्य मानकर उससे होने वाली भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं से मैंने भ्रमों और भ्रान्तियों का ताना-बाना बुना। और यह ताना-बाना स्वभावतः ही इस करुण घटना का स्वाभाविक कारण बना।

एक स्थान पर मैंने कहा है, कला का काम उठाना है, गिराना हीं। बौद्ध युग की इस मनोरम कथा का उपयोग जिन्होंने नैतिक पतन के लिए किया है, उन्होंने अशोक-परिवार के प्रति महान अपराध किया है, जिसे इतिहास कभी क्षमा नहीं करेगा।

यों ही रंगमंच पर ही कुणाल से आँखे निकलवा कर एक करुण दृश्य उपस्थित कराया जा सकता था, जो दर्शकों के मुँह से अचानक चीख निकलवा देता।

किन्तु, भारतीय नाटच-परम्परा इसे भी रोकती है और मेरा विचार है, यह उचित ही है।

हाल ही मैंने पेरिस में एक प्रसिद्ध ग्रीक ट्रेजडी (शोकान्त नाटक) का अभिनय देखा था। उसमें नायक पश्चाताप में अपनी आँखें आप फोड़ लेता है। वहाँ भी देखा, यह आँख फोड़ने की क्रिया वह रंगमंच पर नही करता। हाँ फूटी हुई आँखों को लिए, अंधा बना, करुणा की प्रतिमा-सा, वह रंगमंच पर आता है और अपने पश्चाताप-मिश्रित हृदयोद्‌गारों से दर्शकों को भाव-विभोर बना डालता है।

जब मैं वह नाटक देख रहा था, मुझे अपने कुणाल की याद आ रही थी!

सबसे कठिन बात रही तिष्यरक्षिता की मनोवेदना के चित्रण की। वह अपनी मनोव्यथा किससे कहे? विदेश में आई एक राज-कुमारी अपनी हृदय-कथा किसके सामने उँड़ेले? पाटलिपुत्र की किसी सखी या परिचारिका की क्या बात, सिंहल से उसीके साथ आई किसी दासी से भी तो वह मुँह खोलकर ये बातें नहीं कर सकती थी।

अतः मैंने एक नई पद्धति मे काम लिया है। नाटच-साहित्य में यह पद्धति विरल है। अपने ही दर्पण में अपनी छाया को देखती हुई वह सारी बातें कह जाती है। इससे लम्बी स्वोक्ति सम्बन्धी ऊब भी नहीं आती और अभिनय के लिए पूरा मौका भी मिलता है।

मुझे सन्देह था, यह पद्धति रंगमंच पर कैसी उतरेगी। किन्तु अभी-अभी एक मित्र ने बताया है, एक विख्यात कालेज की कुछ लड़कियों ने जब इस नाटक का अभिनय किया, यह दृश्य बड़ा ही प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ!

समय के अनुसार रंगमंच में और अभिनय कला में भी परि-वर्त्तन हो रहे हैं। मैंने इसे लिखते समय दोनों पर ध्यान रखा है।

कथोपथन

नाटक का प्राण होता है उसका कथोपकथन। यदि वह जान-दार और जोरदार नहीं रहा, तो नाटच-कला सम्बन्धी सारी साव-धानियों के बावजूद नाटक फीका-फीका रह जायगा।

अपनी भाषा और शैली पर मुझे अनायास प्रशंसा मिल चुकी है। कथोपकथन का सम्बन्ध इनसे अधिक है। यदि भाषा में प्रवाह

और शैली में बाँकपन नहीं रहा, तो कथोपकथन में जान आ नहीं सकती। खुरदरे वाक्य, बोझिल शैली और लम्बे-लम्बे संलाप कथोपकथन की हत्या ही कर डालते हैं। मैंने सदा ही इन दुर्गुणों से बचने की कोशिश की है।

कथोपकथन में कहीं, कोई ऐसा वाक्य या वाक्यांश हो, जो सारे नाटक में भिन्न-भिन्न लोगों के मुँह से भिन्न-भिन्न प्रसंगों में आवे, किन्तु वह किसी खास बात की ओर ही इशारा करे, तो यह तारतम्य, समूचे शरीर में व्याप्त प्राण की तरह, उसे सचमुच प्राणवान बना डालता है!

पहले दृश्य में ही कुणाल के लिए दुर्बल, कोमल असहाय विशेषण का जो प्रयोग हुआ, वह नाटक के अन्त तक बार-बार आता है और यों सारे नाटक को एक सूत्र में बाँधता है। एक-सूत्रता नाटक की सबसे बड़ी खूबी समझी जाती है।

किन्तु, इस तरह के प्रयोग के लिए बहुत कौशल चाहिए, नहीं तो बार-बार का यह प्रयोग उसे भोंड़ा भी बना दे सकता है।

यों ही यदि कथोपकथन में आगत घटना की ओर भी संकेत हो जाय, तो नाटक सजीव हो उठता है!

कुणाल की आँखों की सुन्दरता की चर्चा हो रही है कि वह कंचनमाला के कक्ष में प्रवेश करता है। फिर सादगी-सादगी में बताता है, इन आँखों को छोटी माताजी बहुत पसंद करती हैं और चाहती हैं वह सदा इन्हें देखती रहें। किंतु, यह कैसे हो? तुम जो हो। फिर वह कह उठता है—

"कंचने, उस समय मुझे एक दिल्लगी सूझ गई। मैंने कहा, आर्ये, यदि आप इन आँखों से दूर नहीं रहना चाहतीं, तो मैं एक काम करूँ—आँखें निकाल कर आपके समर्पित करता हूँ, शरीर कंचन के पास रहेगा।"

इस पर कंचनमाला व्याकुल हो जाती है! और, उसकी व्याकुलता कैसी सार्थक सिद्ध होती है!

यदि स्वभावतः ही कुछ सूक्तियाँ कथोपकथन में आ जायँ, तो वह आभूषण के रत्नों की तरह उसकी शोभा को और भी चमका देती हैं।

"कभी सुन्दरतम वस्तु ही संसार में सर्वनाश का कारण बन जाती है।"

"घर छोड़ना, पति या पुत्र छोड़ना उतना कठिन नहीं है, जितना सच्चे कलाकार के लिए, कला का त्याग करना—सच्चे कलाकार के लिए कला उसके जीवन की साँस होती है।"

"हँसी और रुदन जुड़वें भाई-बहन हैं।"

"जवानी की राह फिसलन-भरी है, तो उसके पैरों में शक्ति और दृढ़ता भी है।"

"बुढ़ापा—जिन्दगी की लाश!"

"जितना ही आदमी धर्म की ओर प्रेरित हो, समझ, उसके हृदय में कहीं उतनी ही बड़ी अशांति है!"

"हर कहने में कुछ-न-कुछ मानी छिपा भी रहता ही है।"

"खंडहर बताता है, इमारत बुलन्द रही होगी।"

"जो मानव का अपमान करता है, वह राक्षस पाता ही है।"

"भिखारी के लिए नाम क्या, धाम क्या?"

"पवित्र से पवित्र धरोहरों की भी चोरी होती आई है।"

"क्या कला भी अंधी होती है?"

"ममता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है।"

"किसी भी महान यज्ञ में सुन्दरतम की बलि देकर ही पूर्णाहुति की जाती है।"

ये सब सूक्तियाँ इस नाटक के लिए शृंगार का काम करती होंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

किन्तु; सच कहता हूँ, ऐसी सूक्तियाँ प्रसंगवश आपसे आप आ गई हैं। जहाँ प्रयत्न करके सूक्तियाँ लाने की चेष्टा होगी, कथोपकथन का सारा शीराजा बिखर जायगा!

भाषा और शैली

भाषा के रूप को लेकर हिन्दी-संसार में कुछ दिनों से एक अंधेर-खाता चल रहा है।

एक जमाना था, जब हिन्दी को उर्दू से मिला-जुला कर एक नई भाषा गढ़ने की कोशिश की गई थी और उसका नाम रखा गया था——हिन्दुस्तानी!

अब हिन्दी में संस्कृत ठूँसठाँस कर एक नई भाषा गढ़ी जा रही है और इसके एक प्रबल समर्थक ने इसके लिए एक नया नाम भी पेश कर दिया है—भारती!

हिन्दुस्तानी और भारती की दुहरी पाट में बेचारी हिन्दी पिस रही है।

इन दो छोरों से बचने की मैंने हमेशा कोशिश की है। हमारा बिहार सदा मध्यम मार्ग का अनुयायी रहा है न?

और; इतिहास ने अब तो सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी भाषा का जन्म इन मध्यम मार्ग के अनुयायियों द्वारा इसी बिहार-भूमि में हुआ था।

अभी उस दिन पूना में था, तो एक विद्वान मराठी मित्र ने एक बड़े पते की बात कही।

उन्होंने कहा—दिल्ली और लखनऊ हिन्दी को उर्दू की ओर घसीट कर ले जाना चाहते हैं और काशी और प्रयाग संस्कृत की ओर! हिन्दी का स्वाभाविक रूप तो बिहार में ही देखने में आता है और इसके प्रमाण में उन्होंने पूज्य राजेन्द्र बाबू की आत्म-कथा से लेकर हमलोगों की रचनाओं तक के भी कुछ नाम गिनाये।

मैंने अपने मित्र के कथन में अपने प्यारे बिहार और उसके साहित्यकारों के प्रति एक महान उत्तरदायित्व का बोध किया।

हिन्दी का इतिहास बताता है, जनता की भाषा के रूप में ही हिन्दी का जन्म हुआ था और मेरी निश्चित आशंका है, ज्योंही वह जनभाषा के पद को छोड़कर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों और समूहों की भाषा बनेगी, संस्कृत की तरह उसकी भी मृत्यु होकर रहेगी।

एक दिन संस्कृत भी राजभाषा थी; अतः हमें इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि राजाश्रय ही हिन्दी को जीवित रख सकेगा।

जन-जीवन से निकटतम सम्पर्क ही किसी भाषा की वृद्धि और विकास का प्रधान कारण होता है।

फिर नाटक की भाषा तो ऐसी होनी ही चाहिए, जिसे जनता आसानी से समझ सके, नाटक का यथार्थ रसास्वादन कर सके।

क्योंकि नाटक दृश्य काव्य है, तो उसके दर्शकों में जनता को कैसे वाद दिया जा सकता है?

"नेत्रदान" में भी, अपनी अन्य रचनाओं की तरह, मैंने इस बात पर सदा ध्यान रखा है।

जो लोग समझते हैं कि उत्कृष्ट रचना के लिए क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करना अनिवार्य है, उनकी समझ-बूझ पर मुझे तरस आती है।

संसार के जितने बड़े साहित्य-स्रष्टा हुए हैं, उनकी भाषा ऐसी रही है कि साधारण जन भी उसका स्वाद ले सकें।

फिर, मुझे यह सदा याद रहा है कि मेरी रचनायें सबसे पहले मेरे बाल-बच्चे ही पढ़ा करते हैं। छपती तो हैं ये पीछे; मूल प्रति के रूप में ही वे उसे पढ़ने के लिए छीना-झपटी करने लगते हैं।

अतः भाषा में सरलता और भावों में शिष्टता का मुझे सदा स्मरण रहा है।

फिर एक बात और ! चूँकि मैं भाषा का आदि-स्रोत जनता को मानता हूँ, अतः जनता में प्रचलित शब्दों और मुहावरों को लेने में मुझे जरा भी झिझक नही रही है।

यह मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ कि बिहार की जनता की जिह्वा पर चढ़े और मँजे मँजायें कितने शब्दों और मुहावरों को मेरी रचनाओं द्वारा साहित्य में प्रवेश करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है !

"नेत्रदान" में भी ऐसे शब्दों और मुहावरों की कमी नहीं है।

मैं चाहता हूँ, यह मेरी हार्दिक कामना है, कि बिहार की अगली पीढ़ी के लोगों में यह प्रवृत्ति दिन-दिन बढ़े।

रही शैली की बात। शैली तो व्यक्तित्व का एक अंश होती है। व्यक्तित्व के विकास के साथ ही शैली का विकास होता है। होते-होते वह दिन भी आता है कि बिना नाम-मुहर के भी लाखों के बीच, व्यक्तित्व की ही तरह, शैली भी आप से आप पहचानी जा सकती है।

यह मेरा दूसरा सौभाग्य है कि मेरी शैली भी हिन्दी संसार में एक विशिष्ट स्थान बना सकी है।

छोटे-छोटे वाक्य, चलते-फिरते मुहावरे, साफ-सुथरे शब्द, यहाँ तक कि छोटे-छोटे पैराग्राफ को मैं उत्तम शैली के प्रमुख उपादान मानता हूँ।

शैली अभ्यास खोजती है। और व्यक्तित्व के निर्माण की तरह शैली का निर्माण भी प्रारम्भ में कुछ पथ-प्रदर्शन चाहता है।

यह धृष्टता मैं नहीं कर सकता कि मेरी शैली का अनुसरण किया जाय, सिर्फ यही कहूँगा कि यदि प्रारम्भ से ही ऐसी चेष्टा की जाय तो हर व्यक्ति अपने लिए उपयुक्त शैली का निर्माण कर सकता है।

मैं अपनी भावी पीढ़ी से यह भी आशा करता हूँ कि वह इस ओर भी सदा सचेष्ट रहेगी।

एकांकी

चलते-चलाते यह भी जान लेना है कि यह नाटक का छोटा रूप एकांकी है।

जिस तरह काव्य के बाद खंडकाव्य की ओर प्रवृत्ति बढ़ी और उपन्यास की जगह कहानियाँ ले रही हैं, उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में एकांकी भी अपने लिए स्थान बना रहा है।

समय और सुविधा, दोनों ही लोगों की प्रवृत्ति को छोटी चीजों की ओर खीच रहे हैं।

नाटक में कई अंक होते है, एक-एक अंक में कई दृश्य होते हैं—यद्यपि अब रंगमंच पर ध्यान देकर एक ही दृश्य में एक अंक समाप्त करने की चेष्टा की जाती है।

किन्तु, एकांकी में एक ही अंक होता है और उसी के अन्दर कई दृश्यों में उसे समाप्त किया जाता है।

जहाँ नाटक में कथा का फैलाव होता है, पात्रों की भरमार होती है, वहाँ एकांकी में किसी बड़ी घटना का एक ही पक्ष ले लेते हैं और उसे कुछ ही पात्रों द्वारा अभिव्यक्त करते हैं।

हिन्दी में धीरे-धीरे एकांकी नाटकों का चलन बढ़ता जा रहा है।

खास कर स्कूलों और कालेजों के लिए तो एकांकी बहुत ही उपयुक्त होता है, क्योंकि थोड़े से पात्र-पात्रियों और कम साधनों से ही इन्हें खेल लिया जा सकता है।

अध्ययन-अध्यापन में भी एकांकी में बहुत सुविधायें हैं।

कोमलमति किशोरों के मस्तिष्क में एकबारगी अनेक पात्रों के चरित भरने की चेष्टा उन्हें भ्रमजाल में डाल दे सकती है। एकांकी द्वारा पहले उनमें नाटक के प्रति रुचि पैदा की जाय, फिर उनके सामने पूरे नाटक रखे जायँ।

यों तो मैं मानता हूँ कि ऐसे नाटक भी हो सकते हैं, जो अनेक अंकों और दृश्यों के बावजूद किशोरों के लिए बहुत ही उपयुक्त हों और उन्हें भी कम साधनों के साथ खेला जा सकता हो।

'नेत्रदान' का जो विषय है, उसपर बड़े-बड़े काव्य, आख्यान,

नाटक लिखे जा सकते हैं—लिखे भी जायेंगे। किन्तु मैंने जान-बूझ कर इसे एकांकी में ही भरने की कोशिश की है।

गागर में सागर भरना आसान नहीं है, किन्तु यदि इसमें सफलता मिली, तो यह एक कमाल ही माना जा सकता है।

कमाल का मेरा दावा नहीं, किन्तु मुझे इसका सन्तोष अवश्य है कि 'नेत्रदान' ने इस करुण घटना को एक नये रूप में अवश्य प्रस्तुत किया है।

यह दीवाल पर की बड़ी और बहुरंगी चित्रकारी नहीं; किन्तु हाथी दाँत पर की एक छोटी-सी चमकती तस्वीर जरूर बन गई है।

अन्त में

मेरी आँखों के सामने दुनिया का जो नक्शा है, वह बड़ा ही सुन्दर और मोहक है।

गेहूँ से गुलाब की ओर—एक वाक्यांश में वह नक्शा यह है।

मेरा विश्वास है आज जो अन्नाभाव है, नंगापन है, गरीबी है, गंदगी है, अज्ञान है, अविचार है; स्वतन्त्र भारत में, हम सबके प्रयत्नों से, ये सब शीघ्र दूर होंगे।

और; इनके स्थान में सुख, ऐश्वर्य, स्वास्थ्य, स्वच्छता, ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य सबकी दिन-दिन वृद्धि होती जायगी।

यही दुनिया मेरी गुलाब की दुनिया होगी—जहाँ चारो ओर मस्ती होगी, आनन्द होगा, उल्लास होगा, हास्य होगा!

आज हमें फुर्सत कहाँ कि आनन्द भी मना सकें। किन्तु; उन दिनों हम अधिकाधिक इस ओर प्रवृत्त होंगे।

तब हम अधिक कविता चाहेंगे, संगीत चाहेंगे, नाटक चाहेंगे, नृत्य चाहेंगे।

जैसा शुरू में ही कह चुका हूँ, बिहार के लिए यह सौभाग्य की बात है कि उसका प्राचीन इतना महान और रंगीन है कि उसके बेटों और बेटियों को इन सबके लिए पात्र या पात्रियाँ चुनने में कठिनाई नहीं होगी।

हमारा प्राचीन इतिहास सदा भारतीय साहित्य को उत्तमोत्तम पात्र और पात्रियाँ देता रहा है। यह हमें भी देता रहेगा।

अभी हमारे इतिहास के कितने ही सुनहले पृष्ठ बंद ही पड़े

हैं। किन्तु; जिनपर रचनायें हो चुकी हैं, मुझे लगता है, हमें फिर से उनपर भी अपनी कलम या कूची का प्रयोग करना पड़ेगा !

दो उदाहरण लीजिये—सीता और चन्द्रगुप्त।

एक भवभूति को बाद दीजिये, तो क्या सीता की करुण कथा को उस गौरव के अनुरूप चित्रित किया जा सका है, जिसकी वह अधिकारिणी है !

और; क्या यह बात नहीं है कि चन्द्रगुप्त के नाम से आज तक चाणक्य की महत्ता का ही चित्रण होता रहा ?

मेरा विश्वास है, बिहार की आनवाली पीढ़ी अपने पूर्वजों की कीर्ति को उनके गौरव के अनुरूप ही नाना रूपों में ढालेगी।

'नेत्रदान' उस सुनहले भविष्य की ओर एक अंगुलि-निर्देश मात्र है !

यदि इसने ऐसी प्रेरणा हमारे किशोरों और किशोरियों में भरी, तो समझूँगा, मेरी मेहनत सफल हुई।

पात्र-पात्रियाँ

पात्र

कुणाल

सम्राट् अशोक का कनिष्ठ पुत्र

महेन्द्र

सम्राट् अशोक का ज्येष्ठ पुत्र

पात्रियाँ

संघमित्रा

सम्राट् अशोक की पुत्री

तिष्यरक्षिता

सिंहल-नरेश की पुत्री : अशोक की नई रानी

कंचनमाला

कुणाल की पत्नी

परिचारिका

पहला दृश्य

[सिंहल-द्वीप का एक संघाराम। रात काफी बीत चुकी है। भक्तों की भीड़ छँट गई है।

संघाराम के मध्य-भाग में स्थित भिक्षु महेन्द्र का विहार। महेन्द्र अपने आसन पर अर्द्धध्यानावस्थित अवस्था में बैठे हैं। उनसे थोड़ी दूर पर भिक्षुणी संघमित्रा बैठी है।

विहार के एक कोने में एक दीप-दंड पर शत-वर्तिका दीप जल रहा है। उसकी कुछ बत्तियाँ बुझ चुकी हैं। शेष की लौ भी धीरे-धीरे धीमी होती जा रही है।

महेन्द्र की पलकें जरा हिलती हैं। संघमित्रा उनसे पूछती है—]

संघमित्रा—कुछ सुना है भैया ?

महेन्द्र—(कुछ बोलते नहीं, आँखें कुछ खुलती-सी)

संघमित्रा—सुना है भैया, रक्षिता को......

महेन्द्र—(आँखें खोलते हुए) क्या ?

संघमित्रा—राजकुमारी रक्षिता को सिंहल-नरेश पाटलिपुत्र भेज रहे हैं।

महेन्द्र—(जैसे चौंककर) रक्षिता को ? पाटलिपुत्र ?

संघमित्रा—हाँ, भैया ! सिंहल-नरेश महाराज तिष्य, अपनी एक मात्र प्यारी पुत्री रक्षिता को, पिताजी की सेवा में, पाटलिपुत्र भेज रहे हैं।

महेन्द्र—क्या कह रही हो, मित्रे ?

संघमित्रा—हाँ, हाँ भैया, रक्षिता पाटलिपुत्र जाने वाली है। अभी संध्या समय उसकी एक परिचारिका संघाराम में आई थी—हमारी संध्या-अर्चना में सम्मिलत होने। अर्चना के बाद, उसने मुझे एकान्त में बताया—यद्यपि इसकी सूचना अभी जनसाधारण को नहीं दी गई है, किन्तु सिंहल-नरेश ने यह निश्चय कर लिया है और रक्षिता को यात्रा की तैयारी करने का आदेश भी दे दिया है।

महेन्द्र—(लम्बी साँस के साथ) हूँ!

संघमित्रा—(साश्चर्य) भैया, यह लम्बी साँस; यह हूँ! क्या आप को इस समाचार से प्रसन्नता नहीं हुई भैया! मैं तो, जब से यह खबर मिली, आनन्द-विह्वल हुई जा रही हूँ! अहा! रक्षिता पाटलिपुत्र जा रही है। पाटलिपुत्र—हमारी प्यारी राजधानी, जिसके चरणों को स्वयं गंगा-मैया, अपनी सारी सहायक नदियों से राजस्व लेने के बाद, दिन-रात पखारा करती हैं—जिसके नागरिक-नागरिकाओं के सारे शारीरिक और मानसिक कलुषों को धो-धोकर वह उन्हें शाश्वत जीवन और यौवन प्रदान करती है! अहा, हमारा पाटलिपुत्र! भैया, हमारे उस नगर में कितना जीवन है, यौवन है।

महेन्द्र—हाँ,जीवन है, योवन है! (फिर उसाँस लेते हैं)

संघमित्रा— (कल्पना के उछाह में उसाँस पर ध्यान न देती हुई) और, भैया, उस जीवन और यौवन में जब रक्षिता की कला का समावेश होगा! अहा! सिंहल की कला से पाटलिपुत्र और भी सुन्दर, सुखद और मुखर हो उठेगा, भैया! आपने देखा है न? रक्षिता—कैसी नाचती है, कैसी गाती है, कैसी बजाती है! और वह सुन्दर भी कितनी है, भैया?

महेन्द्र—पगली! कभी सुन्दरतम वस्तु ही संसार में सर्वनाश का कारण बन जाती है!

संघमित्रा— (चौंकती हुई) सर्वनाश.........सुन्दरतम वस्तु..........भैया, आप यह क्या कह रहे हैं?

महेन्द्र—कोई विशेष बात नहीं— संसार का एक प्रकटतम तथ्यमात्र! सोचो न—कहीं रक्षिता के ये गुण ही पाटलिपुत्र के लिए अमंगल सिद्ध हो गये तो?

संघमित्रा—(भयत्रस्त-सी) अमंगल! रक्षिता के ये गुण अमंगल! उफ़, मैं तो सोच रही थी कि अच्छा ही हुआ कि जब पिताजी

ने मुझे यहाँ भेजा, तो महाराज तिष्य अपनी पुत्री को पाटलिपुत्र भेजें ! शिष्टाचार का नियम भी तो.........

महेन्द्र—(बीच में ही बात काटकर) शिष्टाचार का नियम। मित्रे, क्या तुम इतना भी नही देख पाती कि तुम्हारे यहाँ आने और रक्षिता के वहाँ भेजे जाने में क्या अन्तर है? तुम यहां आई थी तथागत के शान्ति-धर्म का प्रचार करने; भिक्षुणी बनकर ! किन्तु रक्षिता क्यों भेजी जा रही है; किस रूप में भेजी जा रही है? वह भिक्षुणी बनाकर नही भेजी जा रही, यह तो स्पष्ट ही है।

संघमित्रा—हाँ, यह बात तो है भैया ! तो भैया, क्या आपको इसकी खबर पहले से थी ?

महेन्द्र—थी ! महाराज तिष्य ने मुझसे इस बारे में राय ली थी। मैंने उदासीनता प्रकट की। इस उदासीनता को उन्होंने मेरा संकोच मान लिया। किन्तु, मित्रे, तब से मैंने जितना ही सोचा है, मुझे चिन्ता ही चिन्ता हो रही है । रक्षिता वहाँ भिक्षुणी बनाकर नही भेजी जा रही है । वह युवती है, सुन्दरी है, कला की आचार्या है। भले ही वह सम्राट् की सेविका कहकर भेजी जा रही हो; किन्तु, यदि उसमें महत्वकांक्षा जगे.......(रुक जाते हैं)

संघमित्रा—महत्त्वकांक्षा जगे ? (चौंकती-सी) और, वह सम्राज्ञी बनना चाहे ! क्यों भैया ? (साश्चर्य) ओहो, रक्षिता हमारी माताजी की सौत बनेगी ? सौत..........

महेन्द्र—हमारी माताजी की सौत ! ह-ह-ह (उपेक्षा की हँसी) मित्रे, रक्षिता क्या खाकर उनकी सौत बन सकेगी ? हाँ, सम्राज्ञी वह बन सकती है। जिस पद को पैरों से ठुकराकर माताजी विदिशा जा बैठी हैं, रक्षिता उस जूठी पत्तल को पाटलिपुत्र में चाट सकती है। इसके लिए माताजी को तनिक भी दुःख नहीं होगा; और न यह मेरे, तुम्हारे या किसी और के लिए चिन्ता का विषय है।

संघमित्रा—तो और किस बात की चिन्ता हो सकती है, भैया ?

महेन्द्र—पिताजी वृद्ध हैं,—दिन रात धर्म-कार्यों में रत; शासन-कार्यों में व्यस्त ! वह घरेलू मामलों में न ध्यान देते है, और न देंगे। इधर क्या रक्षिता सम्राज्ञी बनकर ही सन्तुष्ट हो जायगी ? वह युवती है, सुन्दरी है, कला की आचार्या है ! कला ! सौन्दर्य ! यौवन !—तीन-तीन अमोघ अस्त्र! कुछ भी अनर्थ हो सकता है, मित्रे!

संघमित्रा—कला, सौन्दर्य, यौवन !—हाँ, कुछ भी अनर्थ हो सकता है, भैया ! (भयभीत-सी होती है)

महेन्द्र—किन्तु, इस प्रसंग में पिताजी को नहीं लाना; और न में साम्राज्य के लिए ही कोई संकट देख रहा हूँ। पिताजी सांसारिकता से बहुत ऊँचे उठ चुके हैं और मौर्य-साम्राज्य की नींव अब शेष-नाग की पीठ तक जा चुकी है। मुझे कुछ चिन्ता है, तो एक दूसरे ही कोमल, दुर्बल, असहाय प्राणी के लिए !

संघमित्रा—दुर्बल ? कोमल ? असहाय ? (आश्चर्य में) वह कौन प्राणी है, भैया ?

महेन्द्र—तुम भूल गईं उसे ?

संघमित्रा—(स्मरण की चेष्टा में) दुर्बल, कोमल..........

महेन्द्र—कुणाल !

संघमित्रा—(जैसे चिल्ला पड़ती हो) कुणाल भैया ! दुर्बल..... कोमल......असहाय ! हाँ कुणाल भैया कोमल हैं, दुर्बल हैं, असहाय हैं— उन्हें माताजी ने छोड़ दिया, हमने छोड़ दिया—हाँ, हाँ, दुर्बल, कोमल, असहाय ! क्या रक्षिता उनपर प्रहार करेगी भैया ?

महेन्द्र—सिंह के शिकार मे लौटा हुआ शिकारी रास्ते में हिरन पाकर उसे नहीं छोड़ता, मित्रे ! दुर्बल, कोमल, असहाय सदैव दया ही नहीं उत्पन्न करते, हिंस्र प्रवृति को भी उद्दीप्त करते हैं।

संघमित्रा—ओह, भैया, भैया, इसे रोकिये, रोकिये ! कुणाल भैया को बचाइये, बचाइये !

महेन्द्र—(गम्भीर होकर) मित्रे, हम एक अजीब युग से गुजर रहे हैं। बहुत-सी असम्भव घटनायें, हमारी-तुम्हारी आँखों के सामने, घट चुकीं। क्या हम-तुम उन्हें रोक सके ? उलटे हमीं उनके प्रवाह में बह गये। शायद घटनाओं का वही स्रोत बेचारी रक्षिता को घसीट कर पाटलिपुत्र ले जा रहा है ! रह-रहकर चिन्तायें आ घेरती हैं, किन्तु इन बातों में ज्यादा सिर खपाना क्या हमारे भिक्षु-जीवन के लिए उपयुक्त है ? हम अपने कर्तव्य-पथ पर बढ़ते चलें, देखें, युग-प्रवाह हमें क्या-क्या दिखाता है !

संघमित्रा—उफ्, कुणाल भैया ! दुर्बल, कोमल, असहाय ....ओह ! ओह ! (मुँह ढँकर सिसकियाँ लेती है)

महेन्द्र—मित्रे, चिल्लाने से, रोने-धोने से कुछ नहीं होने-जाने

का। कलिंग में हमने जो हत्यायें कीं, रक्त बहाया; अभी शायद उस का पूरा प्रायश्चित नहीं हो पाया है! पिताजी चेष्टा में लगे हैं; हम-तुम अपने को तपा रहे हैं......किन्तु!.........किन्तु!........ किन्तु, छोड़ो इन बातों को। जाओ, अपने विहार में जाओ, सोओ। रात काफी बीत चुकी है। शतवर्त्तिका की सभी बतियाँ बुझ चुकीं, सिर्फ एक बाकी है; उसे भी बुझाती जाओ...............

[संघमित्रा आँसू पोछती हुई उठती है। दीपक की ओर बढ़ती है। उसकी आँखों से अचानक आँसुओं की धारा फूट पड़ती है। जब वह झुक कर दीपक बुझा रही है, आँसू की एक बूंद उसकी लौ पर गिरती है—दीपक बुझ जाता है— वह चीख उठती है—घोर अन्धकार!]

दूसरा दृश्य

[पाटलिपुत्र का राजप्रासाद। तिष्यरक्षिता का विलास-कक्ष। संगीत के साधन-उपसाधन इधर-उधर सजा कर रखे गये हैं। बीच में रक्षिता बैठी है—शृंगार-प्रसाधनों से मंडित। सामने कुणाल बैठा है। रक्षिता के मुख-मण्डल पर हार्दिक उथल-पुथल की छाया। कुणाल के चेहरे पर सादगी और सौम्यता खेल रही है]

कुणाल—तो, भैया वहाँ क्या करते हैं आर्ये?

रक्षिता—आपके भैया! कुमार, अह, वह क्या मनुष्य हैं? नहीं, नहीं वह तो देवता हे। सारा सिंहल उन्हें देवता की तरह पूजता है। और क्यों न पूजे? क्या उनका व्यवहार साधारण भिक्षु-सा होता है? वह तो एक साथ ही भिक्षु, चिकित्सक, सेवक—क्या-क्या नहीं हैं? जहाँ कहीं अज्ञान है, पीड़ा है, दुःख है, शोक है, वहाँ भिक्षु महेन्द्र उपस्थित! अभी उस साल हमारे देश में महामारी फैली—अपने को अपना नहीं पूछता था! किन्तु, आपके भैया!—अहा! कहीं दवा दे रहे; कहीं परिचर्या कर रहे!—गन्दगियों को अपने हाथ से धोने और शवों को ढोकर उनका अन्तिम संस्कार करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता था। आप जुटे थे; भिक्षुओं को जुटाया था। सारा सिंहल उनके धन्य-धन्य से गूँज उठा!

कुणाल—मेरे भैया ऐसे ही हैं आर्ये! वह जिस ओर मुड़ेंगे, कमाल कर दिखायेंगे। भैया! (भावनाविभोर होकर प्रणाम करता हुआ) प्रणाम भैया! और मेरी मित्रा—आपलोगों की संघमित्रा——वह क्या करती रहती है, आर्ये?

रक्षिता—देवी संघमित्रा, सारे सिंहल की आराध्या बन चुकी हैं। उनके शील और सेवा पर सारा सिंहल मुग्ध है। सब कहते हैं, कैसा होगा वह देश, जिसमें देवी संघमित्रा जैसी नारियाँ उत्पन्न होती हैं?

कुणाल—आह, मेरी नन्हीं बहन! (लम्बी साँस लेता है)

रक्षिता—कुमार, संघमित्रा जैसी बहन पर क्या 'आह' करने की आवश्यकता है? ऐसी बहन तो संसार में सबको मिले——जो कुल को उज्ज्वल करे, देश को उज्ज्वल करे, विदेश को उज्ज्वलता दे! देवी संघमित्रा को देखकर ही तो मुझे आपके देश में आने की प्रेरणा मिली! उनकी स्मृति से ही मेरा सिर झुक जाता है, कुमार! (हाथ जोड़कर प्रणाम करती है)

कुणाल—आह, मित्रा ने क्या-क्या नहीं छोड़ा? खिलौने-सा पुत्र; देवता-सा पति; स्वर्ग-सा घर! किन्तु, यह तो सब कोई जानते हैं। आर्ये, मेरी समझ में मित्रा का सबसे बड़ा त्याग था, अपनी कला का सदा के लिए परित्याग कर देना! घर छोड़ना, पति या पुत्र छोड़ना उतना कठिन नहीं है, जितना सच्चे कलाकार के लिए कला का त्याग करना। सच्चे कलाकार के लिए, उसकी कला जीवन की साँस होती है। आर्ये, सिंहल ने मेरी बहन का सिर्फ ढाँचा-मात्र पाया है, अपने प्राण को वह यहीं गंगा-मैया को समर्पित कर गई! उफ्, उस दिन अपने सारे वाद्य-यन्त्रों और संगीत-साधनोंको किस प्रकार उसने निर्ममता से गंगा के जल में डाल दिया——एक-एक कर उन्हें उठाती, चूमती, सिर से लगाती और फिर काँपते हाथों से.....(आँखों में आँसू आ जाते हैं, गला रुँध जाता है)

रक्षिता—(उसकी आँखें भी छलछला आती हैं) हाँ, कुमार, कलाकार के लिए सबसे बड़ा त्याग है कला का परित्याग! इतना बड़ा त्याग कर ही तो देवी संघमित्रा ने अपने को इतिहास के लिए अमर बना लिया है! देवी संघमित्रा कभी गाती, बजाती और नाचती भी होंगी, इसका अनुमान तो वहाँ मुझे प्रायः होता था। साधारणतः चलते-फिरते समय भी, मैं उनके पदों में एक सूक्ष्म प्रकार

की समगति पाती थी; उनकी मामूली बातचीत में भी अद्भुत स्वर-संधान का अभ्यास मिलता था; और उनकी उँगलियाँ, जहाँ भी ताल और लय मिले, वहाँ सहज ही नृत्यशील हो उठती थीं! सचमुच, कला सच्चे कलाकार के लिए जीवन की साँस होती है, कुमार!

कुणाल—आप ही इसे अच्छी तरह समझ सकेंगी, क्योंकि आप भी कलाकार हैं न? (संगीत-साधनों पर दृष्टि डालते हुए) आप अपना देश छोड़ आईं, किन्तु, क्या इन्हें छोड़ सकी?

रक्षिता—आह, इन्हें छोड़ पाती! (उसाँस लेती है)

कुणाल—क्यों? इनसे तो कुछ मन ही बहलता होगा!

रक्षिता—कुमार, कला अपने लिए वातावरण चाहती है! यहाँ तो. . . . .

कुणाल—हाँ, हाँ, भैया कहा करते थे, यह राजप्रासाद नहीं, बौद्ध-विहार हो चला है! जब से मित्रा गई, यह तो पूरा बौद्ध-विहार हो गया है! मैंने भी गाना-बजाना छोड़ दिया है, आर्ये!

रक्षिता—छोड़ चुके होंगे! देवी संघमित्रा ने छोड़ दिया...आपने...

कुणाल—नहीं, नहीं आर्ये! कहाँ मित्रा, कहाँ मैं! वह महाप्राण थी और मैं.....दुर्बल....। आह, जब कभी बादल गरजते हैं, पिकी कूकती है, भौंरे गूँजते हैं, कलियाँ चटखती हैं—हृदय आकुल हो उठता है! कण्ठ में एक सुरसुरी, अँगुलियों में एक तरह की झिन-झिनी अनुभव करने लगता हूँ! कहाँ मित्रा; कहाँ मैं! वह महाप्राण; मैं दुर्बल. . . . .

रक्षिता—सभी कलाकार दुर्बल और कोमल होते हैं, कुमार!

कुणाल—दुर्बल और कोमल! हाँ, हाँ, आपको यह वातावरण खलता होगा।

रक्षिता—इसे तो मैंने स्वयं अपनाया है, फिर मैं क्या शिकायत करूँ? क्यों करूँ? किन्तु......(आँखें भर आती हैं)

कुणाल—आपकी स्थिति का कुछ अनुभव कर सकता हूँ, देवी! देश से दूर—स्वजन-परिजन से दूर. . . . .

रक्षिता—(व्याकुल होती है) कुमार—कुमार! यह बात मत बढ़ाइये। मैं इसे भुलाने की कोशिश में हूँ कुमार! उफ्, कभी-कभी ऐसा लगता है, कलेजा मुँह को आ रहा हो! यह एकान्त,

यह गला दबोचनेवाला सन्नाटा....आह! .... (आँखों की अश्रुधारा आँचल से पोंछती है)

कुणाल—तो आर्ये, एक निवेदन ! क्यों न मैं कभी-कभी आ जाया करूँ और संगीत-साधना में आपका कुछ साथ दूँ ? कला हमारी ढाल, हमारी रक्षक भी तो है !

रक्षिता—(कुछ प्रसन्न मुद्रा में) कुमार, कुमार ! हम कलाकार एक दूसरे के हृदय के कितने निकट होते हैं ! आपने तो जैसे मेरी बात ही छीन ली। किन्तु, कुमार......छोड़िये ! उसे भुलाने ही दीजिये ! जिस घाव को भरना है, उसे फिर कुरेदने से. . .(अचानक रुक जाती और उर्ध्व में देखने लगती है)

कुणाल—देवि ! एक बात कहूँ। इसमें मेरा स्वार्थ भी है ! आपके निकट जब-जब आता हूँ, मालूम होता है, अपने भाई-बहन के निकट पहुँच गया ! लगता है, भैया ने, मित्रा ने आपको अपना प्रतीक बनाकर यहाँ भेजा है ! आर्ये, आप कल्पना नहीं कर सकती कि भैया मुझे कितना मानते थे ! और मित्रा. ....वह मुझसे कभी दूर होती थी, आर्ये ! मालूम होता था, जैसे हम जुड़वें भाई-बहन हों—— बचपन में एक साथ खाया, सोये; जवानी में एक साथ गाया, रोये !

रक्षिता—रोये ?

कुणाल—(हँसकर) हाँ, हाँ आर्ये, हम कभी-कभी साथ-साथ रो भी लेते थे। हँसी और रुदन भी जुड़वें भाई-बहन हैं न आर्ये ! क्यों ? (मुस्कुराता है)

रक्षिता—(उदास होकर) भगवान किसी को रुदन न दें।

कुणाल—(उसी तरह मस्ती में)किन्तु, उससे बचा कौन है आर्ये ! देख रहा हूँ, वह रह-रहकर आपकी आँखों में भी झाँक जाता है। वह. . . . .वह. .वह ! (उँगली से रक्षिता की डबडबाई आँखों की ओर इंगित करता हुआ मुस्कुराता है)

रक्षिता—(गहरी साँस लेती हुई) ओह, कुमार ! इसकी चर्चा मत कीजिये कुमार ! (हाथों से आँखें ढाँप लेती है)

तीसरा दृश्य

[कंचनमाला का कक्ष। वह विषण्ण, विह्वल-सी बैठी है। रह-रहकर उसांसे लेती है। परिचारिका आती है। धीरे-धीरे वह कंचन-माला के निकट पहुँचती है]

परिचारिका—देवि, इधर आप बहुत उदास. .

कंचन—(बीच ही में बात काटकर) कुमार कहाँ हैं?

परिचारिका—छोटी सम्राज्ञी के कक्ष में होंगे भद्रे! हाँ, हाँ, वहीं हैं! सुनिये न, वह संगीत-ध्वनि. . . . (संगीत की झंकार सुनाई पड़ती है)

कंचन—यह दिन-रात का संगीत!

परिचारिका—अच्छा है, भद्रे, अच्छा है! मंत्रों की बुद-बुदाहट से कान पक गये थे—अच्छा हुआ छोटी सम्राज्ञी ने फिर से इस घर में संगीत-नृत्य की प्रतिष्ठा की। आपको भी तो संगीत बहुत प्रिय था भद्रे! आप भी इसमें क्यों नहीं सम्मिलित होतीं? देवि! आपका और कुमार का सम्मिलित गीत-नृत्य देखे-सुने तो कितने दिन हो गये!

कंचन—परिचारिके, पिछली बातों को मत छेड़। गया हुआ आदमी लौट भी आये, जो दिन गये—गये!

परिचारिका—(गम्भीर होकर) अन्धी नहीं हूँ भद्रे! सब कुछ देख रही हूँ। हाँ, बात कुछ सीमा से बाहर जा रही है! तो आप कुमार से क्यों नहीं कहतीं कि मर्यादा का अतिक्रमण. . . .

कंचन—क्योंकि मैं कुमार को जानती हूँ। कुमार कलाकार है, कलाकार बीच में रुक नहीं सकता! कलाकार को सबसे अधिक आनन्द मिलता है सीमा का अतिक्रमण करने से। कलाकार—सीमा का शत्रु! (कुछ रुक-कर, सोचकर) शायद यह उसके लिए आवश्यक भी हो! यदि वह ऐसा न करे, तो कला की अभिवृद्धि ही रुक जाय—वह जहाँ-की-तहाँ खड़ी रहे, या चक्कर काटे! एक नई धुन; एक नई गत; एक नई रेखा; एक नया रंग; एक नई उक्ति; एक नई उपमा—इसके लिए कलाकार की आत्मा छटपटाती रहती है। सिंहल की इस युवती ने कुमार के सामने कला का एक नया सागर लहरा

दिया है—रंग नया, तरंगें नई। कुमार उन तरंगों से खेल रहे हैं—क्या उन्हें इससे रोका भी जा सकता है? (दीर्घ उच्छ्वास लेती है)

परिचारिका—किन्तु, राजभवन में तरह-तरह की बातें. . . . .

कंचन—वे सारी बातें झूठी होंगी, परिचारिके! मैं कुमार को जानती हूँ। वह कला की उस सीमा तक पहुँच चुके हैं, जहाँ वासनाओं की छाया भी पहुँच नहीं सकती। उज्ज्वलता ही जहाँ का रंग होता है, पवित्रता ही जहाँ की गन्ध होती है! कुमार. . . नहीं, नहीं। कुमार की ओर से मुझे तनिक भी आशंका नहीं है परिचारिके! तो भी, न जाने क्यों, मुझे बार-बार लगता है, जैसे यह कुछ अच्छा नहीं हो रहा। लगता है, क्षितिज के किसी अदृश्य छोर पर कहीं आँधी पल रही है! उफ्!

परिचारिका—देवि, क्षमा कीजिये तो मैं कहूँ।

कंचन—बोल. . . .

परिचारिका—(कंचनमाला की ओर देखती रह जाती है)

कंचन—बोल, बोलती क्यों नहीं?

परिचारिका—भद्रे, नई सम्राज्ञी को जब-जब देखती हूँ, मुझे बार-बार उस काली सर्पिणी की याद आ जाती है, जो उस रात अचानक प्रासाद के प्रांगण में निकल आई थी—वैसा ही रंग, वैसी ही चमक, वैसा ही चपल सारा शरीर, जैसे भीतर के जहर से काँप रहा हो! वही गर्दन, वही दृष्टि—जैसे कहीं किसी का मर्म ढूँढ़ा जा रहा हो। (व्याकुल होकर) देवि, देवि, कुमार को वहाँ जाने से रोकिये!

कंचन—(गम्भीरता से) जानती हूँ, सखि, वह आग से खिलवाड़ कर रहे हैं। किन्तु, उस जिद्दी हठी बच्चे को रोक रखना क्या इतना आसान है? क्या करूँ, समझ में नहीं आता। चिन्ता खाये जा रही है। समझाती हूँ, तो कहते हैं,—तुम स्त्रियाँ बड़ी ईर्ष्यालु होती हो! स्त्रियाँ ईर्ष्यालु! किन्तु, भूल जाते हैं कि स्त्रियाँ ईर्ष्यालु होती हैं तो क्यों? क्योंकि वह अपनी जाति के सबल तत्व को जानती हैं और जानती हैं पुरुष-हृदय के उस दुर्बल स्थान को, जहाँ प्रहार किये जाने पर, यह भारी भरकम जानवर औंधे मुँह गिर पड़ता है! सोचो न, स्त्रियों की आँखों के एक बूँद पानी ने ही क्या-क्या न किया-कराया है!

परिचारिका—बहुत सही कह गईं भद्रे ! फिर जवानी की राह —फिसलन-भरी !

कंचन—(क्रोध की मुद्रा में) जवानी को बहुत बदनाम किया गया है परिचारिके ! जवानी की राह फिसलनभरी है, तो उसके पैरों में शक्ति और दृढ़ता भी है ! मुझे तो बुढ़ापे से डर लगता है !

परिचारिका—बुढ़ापे से !

कंचन—हाँ, बुढ़ापे से ! जो भोग नहीं सकता; किन्तु छोड़ भी नहीं सकता ! जिसकी अशक्तता जलन की धूनी रमाये रहती है ! जो अपने को भुलाने के लिए तरह-तरह का उपचार खोजता है; किन्तु पाता नहीं । बुढ़ापा जिन्दगी की लाश...........

परिचारिका—देवि, देवि, आप किधर लक्ष्य कर रही हैं ? क्या आपको सम्राट् से. . . . .

कंचन—हाँ, मुझे सम्राट् से भय है ! भय है, स्वयं सम्राट् शायद यह पसन्द न करें कि कुमार और सिंहल-कुमारी इस प्रकार दिन-रात एक साथ रहा करें ।

परिचारिका—ओह, आप यह क्या कह रही हैं ? सम्राट् को तो धर्म-चर्चा. . . . .

कंचन—परिचारिके, इस प्रसंग पर हमें कुछ कहने का अधिकार नहीं है ! लेकिन एक बात याद रख–जितना ही आदमी धर्म की ओर प्रेरित हो; समझ, उसके हृदय में कहीं उतनी ही अशान्ति है ! और, उस अशान्ति से जलते हृदय में, जिस दिन निराश किशोरी का भग्न हृदय, प्रतिहिंसा से उद्वेलित होकर, नया ईंधन डालेगा, उस दिन उसकी लपट से कौन किसकी रक्षा कर सकेगा ?

परिचारिका—निराश किशोरी—भग्न हृदय !

कंचन—हाँ, मेरा विश्वास है, एक-न-एक दिन सिंहल-कुमारी को अनुभव करना पड़ेगा कि मेरे कुमार उस धातु के नहीं हैं जिसकी कल्पना उन्होंने कर रखी है । फिर क्या होगा ? उफ् ! मालूम होता है, अशोक-परिवार पर ही किसी कुग्रह की शनि-दृष्टि पड़ गई है ! माताजी कहाँ गईं; जेठजी कहाँ गये; छोटी दीदी कहाँ गईं ? सबके सब चले

गये और मेरे जिम्मे एक अजीब जीव सौंप गये—दुर्बल, कोमल. . . .
(उसाँसें लेती है)

(दूर से किसी के आने की कुछ आहट)

परिचारिका—(उस ओर चकित दृष्टि से देखती, अचानक खिल पड़ती और कह उठती है) अहा ! वह देखिये; कुमार आ रहे हैं (दूर से कुमार आते दिखाई पड़ते हैं) ओहो, हमारे कुमार कितने सुन्दर हे, भद्रे ! सुन्दर, सुडौल, छरहरा बदन और उसपर वे आँखें—सदा अधखुलीं, अधमुँदी ! मानो एक नाल पर दो अधखिले कमल ! हाँ, हाँ, एक नाल पर दो अधखिले कमल ! वही आकार, वही रंग, वही मादकता, वही मोहकता! क्या संसार में कोई ऐसा हृदय है, जो इन आँखों पर मुग्ध न हो !

(कुणाल का प्रवेश)

कुणाल—किन आँखों की बातें हो रही है ? (परिचारिका को देखकर) ओ, तुम ! अच्छा, परिचारिके, जाओ, जरा मेरे लिए थोड़ा पेय का तो प्रबन्ध करो ! (अचानक कह उठता है) अह, छोटी माताजी थका डालती है ! (परिचारिका घूरती है; उस ओर घूम-कर) अरी, तुम गई नही ! (परिचारिका जाती है) हाँ, हाँ सच कह रहा हूँ; कंचने, छोटी माताजी थका डालती है ! यह गाइये, वह गाइये; यह बजाइये, वह बजाइये! एक दिन कहने लगीं—शायद आप नृत्य भी जानते होंगे ! बोलो, मैं उनसे क्या कहता ?

कंचन—तो क्या आपको कोई जवाब नहीं सूझा ?

कुणाल—अरे, किस-किस बात का जवाब सूझे ! वह अजीब नारी हैं कंचने ! कब क्या बोल जायँगी, कुछ ठिकाना है ? अभी उस दिन की बात है, बड़ी देर तक मेरा मुँह निहारती रहीं, फिर कह उठीं—कुमार, आपकी ये आँखें कितनी सुन्दर हैं ! यहाँ भी तो शायद इन आँखों की ही चर्चा हो रही थी ! क्या मेरी आँखें सचमुच बड़ी सुन्दर हैं, कंचने ?

कंचन—जब नई माताजी कह रही हैं. . . .

कुणाल—कहा न तुम्हें कंचने, यह छोटी माताजी अजीब नारी हैं। जब उनसे यही पूछा—तो, उनकी आँखों में आँसू छलछला आये और बोलीं—कुमार, आपको मालूम नहीं, ये आँखें कैसी हैं; एक बार इन आँखों को देखकर इनसे अलग रहना. . . . . .

कंचन—(उसाँसें लेती हुई) हूँ. . . . . . !

कुणाल—किन्तु, मैंने उन्हें बीच में ही टोक दिया, कंचने ! और कहा—आर्ये, इसका मतलब तो यह हुआ कि मैं आपके ही पास बैठा रहूँ। क्या यह सम्भव है ? आदमी सदा एक ही जगह कैसे बैठा रह सकता है ? और वह कंचनमाला जो है ! जानती हो कंचन, तुम्हारा नाम सुनते ही वह बोल उठीं—देवी कंचनमाला ! कितनी सौभाग्यशालिनी हैं वह !

कंचन—(व्यंग्य में) हाँ, मैं बड़ी सौभाग्यशालिनी हूँ !

कुणाल—और, कंचने, उस समय मुझे एक दिल्लगी सूझ गई। मैंने कहा—आर्ये, यदि आप इन आँखों से दूर नहीं रह सकतीं; तो मैं एक काम करूँ—आँखें निकालकर आपको समर्पित कर देता हूँ, शरीर कंचन के पास रहेगा !

कंचन—(व्याकुल होकर) कुमार, कुमार ! ओहो, यह क्या बोल रहे हैं आप ?

कुणाल—छोटी माताजी भी इसी तरह व्याकुल हो उठी थीं, कंचने ! झट उन्होंने अपने हाथों से मेरा मुँह बन्द कर दिया और जानती हो, भावना-विभोर होकर बार-बार मेरी आँखों को चूमने लगीं। सच कहता हूँ, जब वह आँखों को चूम रही थीं, तो मुझे अपनी माताजी की याद आ गई ! आह ! वह भी यों ही मेरी आँखें चूमा करती थीं, और कहा करती थीं—कहीं मेरे बेटे की इन आँखों को किसी चुड़ैल की आँख न लग जाय !

कंचन—उनकी आशंका निराधार नहीं थी, कुमार !

कुणाल—कंचने ! माताजी ! (लम्बी उसाँस के साथ) आह, माताजी कहाँ चली गईं ? क्यों चली गईं ? क्या माताजी को हमारी याद नहीं आती होगी, कंचने ! उफ्, यह—यह कैसी बात हो गई—माताजी विदिशा में, भैया और मित्रा सिंहल में. . . . .

कंचन—(दृढ़ स्वर में) शायद हमें भी पाटलिपुत्र छोड़ना पड़े कुमार !

कुणाल—यह क्या कह रही हो कंचने ? हम पाटलिपुत्र छोड़ देंगे, तो छोटी माताजी का क्या होगा ? एक दिन उन्होंने कहा भी था—कुमार, आप नहीं होते, तो जाने मेरी यहाँ क्या गति हुई रहती ? और, यह कहकर ऐसा मुँह बना लिया कि तुम्हारी याद आ गई !

कंचन—मेरी ?

कुणाल—अरी पगली, तुम कभी भुलाई जा सकती हो! तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी भक्ति, तुम्हारा भोलापन! लेकिन एक बात। भोलेपन में छोटी माताजी तुम्हें भी मात दे सकती हैं। एकदम बच्ची; कुछ समझती नहीं। एक दिन कहने लगीं—कुमार, आप मुझे 'आर्ये' नहीं कहा कीजिये; यह माता का सम्बोधन........सचमुच उनका कहना सही था, कंचने! उम्र में मुझसे भी छोटी, शायद तुमसे भी। उन्हें 'आर्ये' कहते मुझे भी जाने कैसा लगता है! मैंने कहा—बात तो जँचती है, किन्तु फिर क्या कह कर पुकारूँ आपको ?

कंचन—और आप दोनों चेष्टा के बाद भी कोई नया सम्बोधन नहीं पा सके ?

कुणाल—अभी तक तो हम नहीं पा सके हैं कंचने; तुम्हीं बता दो न! और हाँ, हाँ, इसी सिलसिले में वह यह भी कहने लगीं—मुझे जो आप 'आप-आप' कहकर पुकारते हैं, यह भी अच्छा नहीं लगता। और उसी साँस में यह भी पूछ बैठी—क्या देवी कंचन-माला को आप 'आप' ही कहकर सम्बोधित करते हैं ? और, ज्योंही मेरे मुँह से निकला—वह तो पत्नी है और आप माता! तो फिर क्या हुआ, जानती हो ? वह एकबारगी मेरी गोद में सिर धरकर रो उठीं—उफ्, हिचकियाँ, आँसुओं की अविरल धारा! और सच कहूँ, तो मेरी आँखों में भी आँसू छलछला आये कंचने! (कंचन-माला काँप उठती है; उसकी आँखों में भी आँसू छलछला आते हैं) अरे, यह तुम्हारी आँखें भी. . . . . .

कंचन—(रुँधे गले से) अब इस राजभवन को हम छोड़ें, कुमार! ओह, ओह. . . . . . .

कुणाल—यों छोड़ना चाहो, तो सुयोग भी है। अभी उस दिन महामात्य से मालूम हुआ कि उत्तर-पश्चिम सीमा पर कुछ उपद्रव हो रहा है और पिताजी चाहते हैं कि यदि मैं कुछ दिनों तक उस ओर जाकर रहूँ, तो शायद मामला सुलझ जाय।

कंचन—हाँ, मामला सुलझ जाय! (लम्बी उसाँसें लेती है)

कुणाल—क्यों कंचने, तुम्हारे इस कहने में कुछ और भी मानी है क्या ?

कंचन—मेरे कुमार, हर कहने में कुछ-न-कुछ मानी छिपा रहता ही है। किन्तु मेरे भोले, मेरे भावुक! अच्छा है, तुम इनसे परे हो। उपद्रव—सीमा पर! किस सीमा पर? सम्राट्! व्यर्थ में स्त्रियाँ बदनाम की जाती हैं कि उनमें ईर्ष्या की मात्रा अधिक होती है। हर कमजोर में ईर्ष्या होती है। हूँ! उपद्रव! सीमा पर! कैसा उपद्रव? किस सीमा पर? (कुणाल से लिपटती हुई) हाँ, हाँ, कुमार हम यहाँ से चलें; रास्ते में ही विदिशा में माता जी के दर्शन भी कर लेंगे! चलें. . .चलें, (कंचन-माला कुमार से लिपट जाती है)

चौथा दृश्य

[तिष्यरक्षिता अपने विलास-कक्ष में। उसके चारों ओर वाद्य, संगीत और नृत्य के साधन बिखरे पड़े हैं। वह दर्पण के सामने बैठी है; उतरा हुआ चेहरा; बिखरे बाल; गीली आँखें, बड़ी देर तक दर्पण में अपने को देखती है; फिर अपने प्रतिबिम्ब से बोल उठती है—]

रक्षिते! यही है तू! यही गति होनी थी तेरी! कहाँ पैदा हुई, कहाँ रहने आई! अब मर, मर, रक्षिते!

(थोड़ी देर आँखें मूँद लेती है)

मरेगी रक्षिते? हाँ, हाँ, जीना चाहती है; किन्तु सिवा मृत्यु के कौन चारा है तेरे लिए? यह उपेक्षित जीवन, अपमानित जीवन, लांछित जीवन! क्या इस जीवन से मृत्यु अधिक दुःखद, भयप्रद और वीभत्स होगी? तुझे मरना चाहिये, मरने को तैयार होना चाहिये, रक्षिते!

(गला सहसा रुँध जाता है)

पिताजी, पिताजी,, यह आपने क्या किया? मुझे कहाँ भेज दिया पिताजी! अजीब यह देश है, अजीब यहाँ के लोग हैं! समझ में नहीं आता, क्या कहते हैं, क्या चाहते हैं?

(क्रोध की मुद्रा में)

नहीं, जानबूझकर यहाँ मेरी उपेक्षा की गई है! रक्षिते, पगली,

अपने को धोखे में मत रख। जानबूझकर तेरी उपेक्षा की गई है ! हाँ, जान-बूझकर उपेक्षा की गई है; किन्तु इस ढंग से कि तू धोखे में रहे ! उँह, इस सारे भवन में ढोंग ही ढोंग भरा है। धर्म का ढोंग, प्रेम का ढोंग, कला का ढोंग !—ढोंग ! ढोंग ! ढोंग !

(मुस्कुराती हुई)

बूढ़े सम्राट् ! अह, क्या कहने हे ! दिन भर इस चिन्ता में कि इस देश में धर्मदूत भेजो, उस देश में धर्मदूत भेजो; यहाँ स्तूप खड़ा कराओ, वहाँ स्तूप खड़ा कराओ। स्तूप खड़ा कराओ, उनपर अच्छे-अच्छे उपदेश लिखवाओ। और उनका आरम्भ करो इस वाक्य से—'देवानाम् प्रिय, प्रियदर्शी अशोक !' 'देवानाम् प्रिय' तो समझी, किन्तु, यह 'प्रियदर्शी' क्या बला है बूढ़े सम्राट् ? क्या आप अपने को सुन्दर भी समझते हैं ! बूढ़ा ! (खिलखिला पड़ती है) नहीं, नहीं रक्षिते, हँस मत ! सम्राट् कभी सुन्दर भी रहे होंगे; जरूर रहे होंगे—खंडहर बताता है, इमारत बुलन्द रही होगी ! किन्तु कैसा करुण ! खंडहर समझ रहा, वह इमारत है। बूढ़े सम्राट् ! तुम पर क्रोध नहीं, करुणा ही आती है ! किन्तु, किन्तु....

(अचानक भौंहें चढ़ जाती हैं)

किन्तु कुमार, तुम ! तुम !! सम्राट् दुर्बलताओं के साथ भी महान हैं, किन्तु तुम ? ओह, कैसा नाटक दिखाया तुमने ? जैसे भोले हो, जैसे बच्चे हो, जैसे कुछ समझते ही नहीं हो तुम !

नहीं, नहीं, तुम्हें घमंड है कुमार, अपने रूप का, अपनी आँखों का, उन आँखों का ! आँखों का ?

(उत्तेजना कम हो जाती है, गला रुँध जाता है)

किन्तु, रक्षिते ! सत्य से दूर मत भाग ! वैसी आँखें संसार में कहीं देखी नहीं गई होंगी ! वे आँखें, मादक आँखें ! मोहक आँखें ! कुमार, कुमार ! वे आँखें तुम्हें कहाँ से मिलीं ?

(फूटकर रो पड़ती है; फिर सम्हलती है)

नहीं, वह तो चला गया ! कहाँ चला गया ? क्यों चला गया ? कंचने ! यह सारी खुराफात तुम्हारी है ! तुम कुमार को ले भागी हो। मुझसे छीनकर तुम कुमार को ले भागी हो ! तुम मुझसे डर गई। डर गई ! जब-जब मैं तुम्हारे सामने हुई, देखा, तुम मुझे देखते ही काँप उठती रही ! क्यों काँपती रही ?

क्यों, क्यों ? (कुछ सोचती हुई) हाँ, हाँ, मैं सिंहल से आई हूँ न ! सिंहल में राक्षसी बसती हैं, तुम्हें डर था, तुम्हारे कुमार को......

(दर्पण में घूरती हुई)

किन्तु रक्षिते ! तू क्या सचमुच राक्षसी है ? राक्षसी का चेहरा ऐसा ही होता है ? राक्षसी के बाल ऐसे ही होते हैं ? राक्षसी के अधर ऐसे ही होते हैं ? और, राक्षसी की आँखें ! ये आँखें ! (अचानक कुणाल की आँखों को याद आ जाती है) और, वे आँखें– —कुमार, कुमार !

(फिर आँखें मूँद लेती है)

पिताजी, पिताजी! मुझे आपने कहाँ भेज दिया, पिताजी! किन लोगों के बीच में भेज दिया! यहीं भेजना था, तो किसी संघाराम में भेजा होता, भिक्षुणी बनाकर भेजा होता! इस राजभवन में क्या भेज दिया—किन लोगों के बीच में भेज दिया? सिंहल—अभिशापित देश! तुम्हें ये लोग राक्षसपुरी समझते हैं, तुम्हारी बेटियों को राक्षसी समझते हैं! राक्षसी! राक्षसी! कंचने, क्या मैं राक्षसी हूँ? कुमार, क्या मै राक्षसी हूँ?

(अचानक उठकर खड़ी होती है)

राक्षसी हूँ, तो सम्हल, कंचने! कुमार को लेकर कहाँ भागी? कहाँ भागी, कहाँ जायगी?

यह राक्षसी जो तुम्हारे पीछे लगी है कंचने! कुमार कहाँ जाओगे, यह राक्षसी जो तुम्हारे पीछे पड़ी है! वे आँखें! वे आँखें! तुम्हें उन आँखों पर घमंड है कुमार! कंचने, तुम उन आँखों को बचाने के लिए भाग गई हो! और कुमार, उन आँखों के बल पर तुमने मुझे अपमानित किया, लांछित किया? उन आँखों के बल पर!

(मुट्ठी बाँधती हुई)

तो, तो.....जिन आँखों के बल पर...जिन आँखों के बल पर.......हाँ, हाँ, जिन आँखों के बल पर......

(अचानक मुट्ठी ढीली पड़ जाती है—बेचैन हो उठती है)

आह, वे आँखें—आह, वे मादक, मोहक आँखें! वे आँखें, वे आँखें....

(फिर सम्हलती और मुट्ठी बाँधती हुई)

किंतु, तुम उन्हें देख न सकोगी कंचने! तुम उन्हें बचा नहीं

सकोगी कंचने! उनपर राक्षसी की नजर पड़ गई है! राक्षसी! राक्षसी! राक्षसी!!

(एक क्षण रुककर,)

कुमार याद है, तुमने कहा था, कहिये, तो ये आँखें निकालकर आपको दे दूँ! तुमने व्यंग किया था कुमार! तुमने मेरी अभि-लाषा का उपहास किया था, कुमार! तो, तो......

(गम्भीर होकर दर्पण के सामने फुसफुसाती हुई)

चुप रक्षिते! चुप रह! चुप रह! कोई सुन न ले, कोई जान न ले। वे आँखें—वे आँखें! इन हथेलियों पर! आँखें हथेलियों पर....। चेहरे पर आँखें,—कितनी सुन्दर! (हँस पड़ती है) जब वे इन हथेलियों पर होंगी—(अचानक विषण्ण होती हुई) उँह, उँह——उफ्, उफ्! (फिर सम्हलती सी) लेकिन, यह दुर्बलता कैसी? रक्षिते, तू राक्षसी है न! वे तुम्हें राक्षसी समझते हे न? फिर क्यों यह कोमल भावना? मानवी रक्षिता का जिसने अपमान किया, वह रक्षिता की राक्षसी का प्रकोप सहे! जो मानव का अपमान करता है, वह राक्षस पाता ही है—सम्हलो, सम्हलो, कुणाल!

(उत्तेजना में दर्पण के सामने से हट कर टहलती हुई)

कंचने! हाँ, हाँ, इन्हें अपने रंग पर घमंड है, सोने के ऐसे दमकते रंग पर—तभी तो नाम रखा है—कंचनमाला, कंचनमाला! और रक्षिते! तुम काली हो न? तुम्हारे बाल काले है न? तुम्हारी आँख काली हें न? आँखें! (कुणाल की आँखें याद आ जाती हैं) उफ्,! उफ्! नहीं, नही! (पूरी दृढ़ता से) हाँ, हाँ, वे आँखें अब इन काली हथेलियों पर! इन काली हथेलियों पर! हाँ, हाँ, वे दोनों आँखें, इन दोनों हथेलियों पर! चेहरे पर आँखें—कितनी सुन्दर! किन्तु हथेलियों पर—काली हथेलियों पर! हा....हा.....हा.... हा....हा.....हा.....हा.....

(अट्टाहास करती हुई जाती है)

पाचवाँ दृश्य

[अंधा होकर कुणाल अपनी पत्नी के साथ भिखारी के रूप में चल पड़ता है।

आगे-आगे कंचनमाला, पीछे-पीछे उसका कंधा पकड़े, कुणाल। चलते-चलते, भूलते-भटकते वह पाटलिपुत्र के कहीं आसपास पहुँच जाता है;]

कुणाल—कंचने, हम कहाँ पर है कंचने?

कंचन—हमने नाम-धाम कहना और पूछना छोड़ दिया है न?

कुणाल—यह तो अच्छा ही किया है हमने। भिखारी के लिए नाम क्या, धाम क्या? चले चलो, बढ़े चलो—कुछ मिल जाय, खा लो; जहाँ थक जाओ, सो लो। किंतु कंचने, कुछ खास बात है कि पूछ रहा हूँ—हम कहाँ पर हैं?

कंचन—क्या खास बात अनुभव कर रहे है आप?

कुणाल—जानती है पगली, अन्धे की ज्ञानेन्द्रियाँ बड़ी तीव्र हो जाती हैं! अभी-अभी हवा का एक झोंका आया और शरीर से स्पर्श किया, तो मालूम हुआ, जैसे कोई परिचित आकर गले मिल रहा हो! क्या निकट में कोई तालाब है? और उसमें कमल फूले हैं? पुरइन पर बूंदे किस तरह चमक रही होंगी कंचने? या— या बगल में कहीं नदी है? गंगा तो नहीं? कंचने, यों तो गंगा हर जगह की शीतल, पवित्र! किंतु, पाटलिपुत्र के निकट की गंगा.......... .... अहा! कंचने, कहीं हम पाटलिपुत्र के निकट.............

कंचन—कुमार, कुमार, पाटलिपुत्र का नाम न लीजिये, पुरानी बातों की चर्चा मत कीजिये—यह अच्छी बात है कि हम उन्हें भूल गये!

कुणाल—भूल तो गये ही हैं और भूलकर अच्छा ही किया है हमने। किंतु, न जाने क्या बात है कंचने, कि आज इतनी उत्सुकता जगी है! मालूम होता है कि कहीं पुरानी जगह में आ गया हूँ! वही हवा; वही गंध; वही स्वर-लहरी—जरा ध्यान से तो सुन! वह कोयल किसी घनी अमराई में बोल रही है या नहीं? यों तो कोयल जिस डाल पर बोल लेती है, उसकी बोली

भली लगती है—किंतु, विस्तृत, सघन अमराई की बौराई कुंज में उसकी बोली कुछ और ही होती है— जैसे स्वर के साथ गंध घुल गई हो,—जैसे, काकली मलयानिल पर तैरती हुई आती हो!

कंचन—कुमार, छोड़िये उन बातों को! मेरा मन कैसा तो हो जाता है!

कुणाल—हाँ, हाँ, तुम्हारा मन बहुत कोमल है—मुझसे भी कोमल! जानती हो, कंचने, मैं यह जानता था, इसीलिए उस दिन जब पाटलिपुत्र से वह राजदूत आया और उसने सम्राट् का आज्ञा-पत्र दिया, तो मैंने झट निर्णय कर लिया कि मुझे यह काम तुरत कर लेना चाहिये—नहीं तो तुम्हें जरा भी पता चलता, तो क्या यह मेरे लिए सम्भव होता?

कंचन—उफ्,........छोड़िये उन बातों को!

कुणाल—मेरी भोली! तुम्हारे इस भोलेपन के कारण ही तो उस दिन मुझे अधिक डर हुआ था। तुरत मैंने राजदूत से कहा—आँखें चाहिये? किस चीज में लोगे? क्या उन्हें लेने के लिए पात्र लाये हो? और कंचने, तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा, उसके पास पात्र भी था और अस्त्र भी! ओहो, जिसे ये आँखें चाहिये थीं, उसकी आत्मा कितनी कोमल होगी, कंचने! हाँ, जो करना है, वह जल्द कर लिया जाय और अच्छी तरह कर लिया जाय! कैसा सुन्दर था वह पात्र और किस तरह चम-चम कर रही थी वह छुरी! छुरी!—उसे देखकर एक बार तो मैं काँप उठा—किंतु, फिर सम्हला और झट उसे दाहिनी आँख.........

कंचन—उफ्, उफ्, यह चर्चा बंद कीजिये, कुमार!

कुणाल—(हँसकर) पगली!.....जो होना था, हो चुका; फिर तुम व्याकुल क्यों होती हो? अच्छा, एक बात। कंचने, बताओ तो, मैंने पहले दाहिनी आँख ही क्यों निकाली?

कंचन—उफ्, उफ्,..............

कुणाल—उफ्, उफ्! लेकिन मैं तुमसे सोलह आने सच कह रहा हूँ, कंचने, मैंने जरा भी उफ् नहीं की! छुरी की नोंक भौं के नीचे घुसेड़ दी—और उसे इस तरह घुमा दिया कि वह आँख एकबारगी निकलकर उस पात्र में आ रही! ओहो, सचमुच मेरी आँखें बड़ी खूबसूरत थीं, कंचने! मैंने उसे देखा—खून से लथपथ,

फिर भी कितना साफ कोआ; और बीच की वह पुतली—मालूम होता था, जैसे वह मुझसे पूछ रही हो—कुमार, मेरा क्या कसूर था कि मुझे यों....

कंचन—कुमार, कुमार!

कुणाल—और वह राजदूत भी चिल्ला उठा था, कुमार! कुमार! लेकिन, मैंने सोचा, तनिक भी विचलित होता हूँ, विलम्ब करता हूँ, तो फिर मुझसे यह काम पूरा नहीं होने का। मैंने छुरी की नोक बाईं आँख में भी उसी तरह घुसेड़ दी—लेकिन, आह! मैं उस बेचारी आँख को देख भी न सका! बेचारी बाईं आँख—न जाने वह कहाँ गिरी; पात्र में या पृथ्वी पर!

कंचन—ओह, ओह! (कुमार मे लिपट जाती है)

कुणाल—(उसकी पीठ सहलाता हुआ) कंचने, कंचने! एक बात बता दो कंचने! कंचने, तुमने देखा था, वह कहाँ गिरी थी? कहीं जमीन पर न गिर गई हो! बेचारी बाईं आँख!

कंचन—ओह, ओह, कुमार, कुमार! (फूट-फूटकर रो पड़ती है)

कुणाल—हाँ, हाँ, वह राजदूत भी इतने जोरों से चीख उठा था कि राजभवन में हल्ला मच गया, और मैंने थोड़ी देर के बाद ही तो तुम्हें इसी तरह चिल्लाते सुना था—"कुमार, कुमार, ओह, ओह!" उफ्, तुम कितनी रोई थी! (कंचन के सिर पर हाथ फेरते हुए) कंचने, कंचने, किंतु अब क्यों रो रही हो? पगली, वह स्वप्न था! सारा स्वप्न! संसार को दार्शनिकों ने जो स्वप्न कहा है, वह कितना सत्य है कंचने! किंतु, एक बात है मेरी रानी! बार-बार मन में प्रश्न उठा करता है—यह क्या हुआ? पिताजी ने यह क्या किया? एक बार मन में आया था, कोई षड्यंत्र तो नहीं—इसीलिए उस राजाज्ञा को कई बार अच्छी तरह देखा था! किंतु, नहीं, पिताजी की ही तो मुहर थी!

कंचन—पिताजी की ही मुहर थी, क्या इसका अर्थ सदा यह होगा कि आज्ञा भी पिताजी की होगी?

कुणाल—जरूर, जरूर। पिताजी के अतिरिक्त कौन दूसरा उसपर उनकी मुहर लगा सकता है? सम्राट् की मुहर—संसार में सबसे पवित्र धरोहर!

कंचन—पवित्र से पवित्र धरोहरों की भी चोरी होती आई है, कुमार!

कुणाल—अरे, तू क्या बोल गई कंचने? चोरी!—किसने चोरी की होगी? नहीं, नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। वह मुहर सदा पिताजी के पास ही रहती है!

कंचन—जैसे पिताजी के पास कोई नहीं रहता......
......रहती।

कुणाल—रहता..........रहती.........तो क्या तुम्हें छोटी माताजी..............

कंचन—उन्हें माता कहकर इस पवित्र शब्द का अपमान न कीजिये कुमार! सत्य नहीं छिपता। पहले मैं भी भ्रम में थी; पिताजी के बारे में भी संदेह उग आया था। शायद, उसी का यह प्रायश्चित कर रही हूँ! किंतु, आज वह सत्य तो घाट-बाट की चर्चा बन चुका है। मैं यह बात आप से जान-बूझकर छिपाये हुई थी कुमार! सब की जिह्वा पर यह चर्चा है—साम्राज्य की एक-एक प्रजा यह सब जान गई है।

कुणाल—सच? क्या सचमुच ऐसी बात है, कंचने?

कंचन—जाने दीजिये कुमार! हम सब कुछ भूल गये, इसे भी भूल जायँ। जिसने भिखारी का जीवन वरण कर लिया है, वह अब साम्राज्य और सम्राज्ञी आदि की बातें भला क्यों सोचे?

कुणाल—(कहता जाता है) क्या सच? क्या सचमुच तुमने ऐसी चर्चा सुनी है? अरे, अरे, उफ्,! (और सोचने लगता है)

कंचन—आप यह क्या सोचने लगे?

कुणाल—कुछ नहीं, कुछ नहीं। (कुछ रुककर) कंचने, मेरी कंचने! मेरी दुलारी कंचने! एक बात मस्तिष्क में कौंध गई! तुमने सुना है न कंचने, प्रेम अन्धा होता है?

कंचन—हूँ!

कुणाल—और, क्या कला भी अन्धी होती है? ...ह....ह
.....ह.... (हँसता है)

छठा दृश्य

[सिंहल-द्वीप का संघाराम। दोपहर का सन्नाटा। भिक्षु महेन्द्र व्यग्रता से टहल रहे हैं। संघमित्रा आती है—वह खड़ी है; किंतु महेन्द्र टहलते जा रहे हैं। कुछ देर के बाद संघमित्रा पुकारती है—]

संघमित्रा—भैया!

(महेन्द्र टहलते जा रहे हैं)

संघमित्रा—भैया!

(महेन्द्र फिर भी टहल ही रहे हैं)

संघमित्रा—भैया, मैं!

महेन्द्र—(रुककर) ओ मित्रे!

संघमित्रा—भैया, यह.......

महेन्द्र—हाँ, यह उद्विग्नता! नहीं, नहीं, यह भिक्षु के उपयुक्त नहीं। कहीं पर कुछ हो, कुछ हो जाय, हमें तो हमेशा शांत रहना है! सम्यक् समाधि, सम्यक् समाधि!

संघमित्रा—इधर दो-तीन दिनों से आपको बहुत ही आकुल देख रही हूँ भैया! ज्योंही आप एकान्त में हुए कि व्याकुलता....

महेन्द्र—ओहो, इतनी बारीकी से देखा करती हो तुम मुझे!

संघमित्रा—यहाँ और कौन है, जिसे अपने से बढ़कर देखूँ? भैया ममता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है न!

महेन्द्र—सही कह रही हो मित्रे! ममता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है। नहीं तो रक्षिता कुछ करे, कुणाल का कुछ हो जाय, हमें क्या लेना-देना है इन बातों से! (घूमने लगता है)

संघमित्रा—(आतुर होकर) रक्षिता? कुणाल? भैया, क्या आखिर कुछ होकर ही रहा?

महेन्द्र—हाँ, मेरी आशंका सोलह आने सच साबित हुई मेरी बहन! आह कुणाल! कुणाल! (आँखों में आँसू आ जाते हैं)

संघमित्रा—भैया! आपकी आँखों में ये आँसू!

महेन्द्र—हाँ, जिन्दगी में शायद पहली बार ये आँसू निकले हैं मित्रे! कम-से-कम जब से होश हुआ, याद नहीं, कभी रोया होऊँ!

करुणा का स्रोत न जाने कब से अवरुद्ध था; बहुत दिनों पर फूटा है! और, जब फूटा है........! आह, बहने दो, बहने दो! बहने दो मेरी नन्ही बहन! (आँसू झर-झरकर गिरने लगते हैं)

संघमित्रा—(व्याकुल होकर) भैया, क्या बात है भैया? कुणाल भैया को क्या हुआ? क्या हुआ कुणाल भैया को? (निकट जाकर) बोलते क्यों नहीं? कुणाल भैया को क्या हुआ? उफ्, ओह! (फूट पड़ती है)

महेन्द्र—(अपने आँसुओं को रोकते हुए) मित्रे, नहीं, नहीं। हम दोनों में से एक को तो होश में रहना ही है! हा कुणाल! (गला रुँध जाता है) कुणाल...........

संघमित्रा—कुणाल भैया! कुणाल भैया! उन्हें क्या हुआ भैया! वह कहाँ हैं भैया? भैया, भैया! (लिपट जाती है)

महेन्द्र—कुणाल भैया को क्या हुआ? हाय रे कुणाल! वज्र गिरा भी, तो कमल-नाल पर! हम, तुम, पिताजी, माताजी...... सब सस्ते निकल गये! सस्ते निकल गये, निकल गये; और सबसे बड़ा दान देना पड़ा उसे, जो हम सबमें सबसे दुर्बल था!

संघमित्रा—दान? क्या दान देना पड़ा कुणाल भैया को? बताइये भैया—बताइये, नहीं तो, मेरी छाती फट जायगी—ओह, ओह! (कलेजे को दोनों हाथों से पकड़ती है)

महेन्द्र—(संघमित्रा को सम्हालते हुए) मित्रे! मित्रे! ठीक नहीं, यह ठीक नहीं, हम सबको कुछ-न-कुछ देना पड़ा है—कुणाल जरा पीछे पड़ गया था; इसीलिए उसे सबसे बड़ा दान देना पड़ा!

संघमित्रा—(खीझकर) दान! दान! दान! क्या दान? बताइये; नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी भैया, पागल........पागल.... ....पागल (विक्षिप्त-सी चिल्लाने लगती है)

महेन्द्र—शांत बहन, शांत! तुम इस तरह कर रही हो? सोचो, कंचन कैसे होगी! बेचारी......उफ्—अन्धे की लाठी!

संघमित्रा—अन्धे की लाठी! कौन अन्धा हुआ भैया? कुणाल भैया.........अन्धा! अन्धा! कौन अन्धा?

महेन्द्र—(बात काटकर) हाँ, तुम्हारा कुणाल भैया अन्धा हो गया है!

संघमित्रा—ओह, ओह! (मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है। महेन्द्र उसे सम्हालते हैं, बैठ जाते हैं, अपनी जाँघों पर उसका सिर रखे, मस्तक पर हाथ फेरते हुए कहते हैं)

महेन्द्र—अन्धा! नहीं नहीं, कहने में भूल हो गई! कुणाल अन्धा नहीं,। कुणाल ने नेत्र-दान दिया है! नेत्र-दान! मित्रे, नेत्र-दान! प्राण-दान से भी बड़ा, महान्! सर्वोच्च दान—पवित्र दान! यह दान कुणाल ही दे सकता था मित्रे!

संघमित्रा—(महेन्द्र की गोद में सिर रखकर हिचकियों पर हिचकियाँ लेती है—रह-रहकर फूट पड़ती है)

महेन्द्र—(उसका सिर ऊपर उठाते हुए) जो होना था, सो हुआ मित्रे! सारी बातें बड़े स्वाभाविक ढंग से हुईं। रक्षिता बेचारी अपने पर जब्त न रख सकी। कुणाल अपनी रक्षा न कर सका। कंचन ने उसे बचाना चाहा; किंतु बात उलटी हो गई। आह, कुणाल——दुर्बल, कोमल, असहाय.............

संघमित्रा—(जैसे अचानक चौंककर, गुस्से में आकर) और यह सब पिताजी के रहते!

महेन्द्र—पगली, तुम इन बड़े लोगों को नहीं जानती। ये अपनी धुन में इतने मस्त रहते हैं कि इनकी नाक की सीध में भी क्या हो रहा है, नहीं जानते। सब से बड़ी बात तो यह होती है कि इनके अपने लोगों को ही सब से अधिक कष्ट सहना और उठाना पड़ता है। शायद, यह भी उचित ही है। इतिहास के कोने में इन्हें जो अनायास थोड़ा-सा स्थान मिल जाता है, उसकी कीमत तो चुकानी ही चाहिये। हम-तुम, सब चुका रहे हैं। किन्तु, कुणाल.....

संघमित्रा—भैया, जरा विस्तार से कहिये भैया, ब्योरेवार बताइये भैया!

महेन्द्र—विस्तार से सुनोगी! सुन लोगी। घबराओ नहीं, तुम सुनोगी, संसार सुनेगा। कुणाल के इस नेत्रदान ने, महादान ने इतिहास में एक ऐसी घटना की सृष्टि की है कि युग-युग तक लोग इसे सुनना चाहेंगे, सुनेंगे। इस घटना पर आख्यान बनेंगे, काव्य बनेंगे, नाटक बनेंगे। मित्रे, आह! सचमुच कितनी बड़ी बात हो गई! नेत्र-दान! ....

संघमित्रा—हाय रे यह नेत्र-दान! नेत्र! और कुणाल भैया

के नेत्र ! कुणाल भैया की आँखें—वे कितनी सुन्दर थीं भैया ! क्या रक्षिता की कुदृष्टि उनपर पड़ी ?

महेन्द्र—'कु' या 'सु'———ये तो मानव अपनी मनोभावना के अनुसार विशेषण लगाता है, मेरी नन्ही बहन ! हम-तुम इसपर व्यर्थ क्यों सिर खपायें ? जानती हो, किसी भी महान यज्ञ में सुन्दर-तम की बलि देकर ही पूर्णाहुति की जाती है ? पिताजी ने जो महानतम धर्म-यज्ञ प्रारम्भ किया था; इस बलि के बाद, वह अब पूर्ण हो गया !

संघमित्रा—हाय रे वह यज्ञ, आह री यह बलि !

महेन्द्र—मित्रे, यज्ञ और बलि दोनों में गठबन्धन है । जहाँ यज्ञ, वहाँ बलि । और निरीह मूक पशुओं की जगह, चेतन, उद्‌बुद्ध मानवों की बलि कहीं सुन्दर है, श्रेयस्कर है । और उसमें भी कुणाल ऐसे शुद्ध और शुभ्र मानव की सुन्दरतम आँखें पाकर तो बलि भी धन्य हो उठी होगी मित्रे ! उठो मित्रे ! ऐसे भाई को पाकर हम भी अपने को धन्य-धन्य समझें ।

संघमित्रा—भैया, भैया ! ओह ! कुणाल भैया. . . .

(फिर फूट पड़ती है)

महेन्द्र—मित्रे, कलिंग का प्रायश्चित्त अब पूरा हो गया । हमने जो असंख्य गर्दनें काटकर रक्त बहाया उसका मूल्य हमें आँखों के रक्त से चुकाना पड़ा—सुन्दरतम आँखों के रक्त से ! शुद्ध, शुभ्र, कोमल, निर्मल मानव की सुन्दरतम आँखों के पवित्रतम रक्त से । इतिहास का यह सबसे बड़ा पाठ. . . .

संघमित्रा—हाय रे यह पाठ ! आह रे कलिंग ! कलिंग ! कलिंग !

(आँखें मूँद लेती है)

महेन्द्र—मित्रे, कलिंग पर नाराज मत हो । कलिंग स्थान नहीं, एक प्रतीक है;—कलिंग प्रतीक है युद्ध का, हत्या का, मानवता के संहार का ! युग-युग से कलिंग होते रहे हैं, और अभी शायद. . . . .

संघमित्रा—क्या फिर कलिंग होंगे भैया ? क्या फिर कोई कुणाल बनेगा भैया ? कुणाल भैया ! कुणाल भैया ! भैया, भैया, भग-वान फिर कहीं कलिंग न बनायें. . . . .

महेन्द्र—फिर कलिंग न बने, बहुत ठीक ! लेकिन कलिंग न बने, इसके लिए हमें एक नया संसार बनाना होगा, मित्रे ! उठो, चलो, हम एक ऐसा संसार बनायें, जहाँ कलिंग न हो, युद्ध न हो, हत्या न हो, संहार न हो । कलिंग, अशोक, संघमित्रा, रक्षिता, कुणाल,——ये सब एक ही घटना-श्रृंखला की कड़ियां हैं मित्रे ! कुणाल ने नेत्र-दान देकर हमारे, और संसार के नेत्र खोलने की चेष्टा की है । यदि इतने पर भी हम न चेतें, तो संसार की रक्षा कोई भगवान भी नहीं कर सकता, मित्रे ! उठो, चलो——आँसू पोछो, प्रयत्न में लगो । यदि एक-एक व्यक्ति अपने कर्तव्य को समझे, उस में जुट जाय, तो फिर नया संसार बसकर रहेगा——बसकर, बसकर, बसकर रहेगा !

[पटाक्षेप]

गाँव के देवता

[रेडियो रूपक]

गाँव के देवता

पोखन ठाकुर

(दूर से झांझ-करताल के शब्द सुनाइ पड़ते हैं—शब्द धीरे-धीरे धीमे होते जाते हैं और पृष्ठभूमि में बातें होती हैं)

गिरिजा—भैया, भैया, ब्रह्म-बाबा के गीत शुरु हो गये! चलो भैया, हम तमाशा देखें—चलो!

शंकर—हाँ, हाँ, गीरू, अभी चला। लेकिन, खाली हाथ चलोगी ब्रह्मबाबा के स्थान में! जाओ, तुम माँ से अक्षत-सुपारी माँग लाओ; मैं अभी बाड़ी में से कुछ फूल तोड़ लाता हूँ!

गिरिजा—लेकिन देर न करना भैया! कहीं ऐसा न हो कि हम यहीं रहें और वहाँ ब्रह्मबाबा आवें और चले जावें!

शंकर—आवें और चले जावें! तुम निरी पगली है गीरू! अरी, ब्रह्मबाबा न आते हैं, न जाते हैं! वह तो हमेशा उस पीपल के पेड़ पर रहकर हमलोगों की रक्षा करते हैं! जब हमारे गाँव में हैजा-प्लेग आता है, वह दूर भगाते हैं उसे! जब वर्षा के अभाव में हमारा खेत सूखता है; वह पानी बरसा देते हैं....

गिरिजा—और, भैया, उस दिन जब तुम बीमार पड़े थे ब्रह्म-बाबा ने ही तो तुम्हें अच्छा किया—दीदी कह रही थी!

शंकर—और उस दिन जब तुम मेले में खो गई थीं, किसने तुम्हें माँ के पास ला दिया। वह जो बूढ़ा साधू था न—दीदी कहती थीं, ब्रह्मबाबा ही उस रूप में आये थे। हम पर जब कोई संकट आता है, ब्रह्मबाबा हमारी सहायता के लिए नाना रूप धर कर दौड़ पड़ते हैं।

गिरिजा—उस साधु ने मुझे मिठाइयाँ खिलाई थीं भैया! उसका चेहरा कैसा दिप था!

शंकर—देवता के चेहरे वैसे ही दिपते होते हैं, गीरू!

(झांझ-करताल के शब्द फिर तेज हो जाते हैं और ज़ोर से डाक देकर कोई बोल उठता है—"हे! हे! दुहाई पोखन ठाकुर ब्रह्म की!")

शंकर—तो क्या हमारे ब्रह्म बाबा कोई आदमी थे चाचाजी?

माधोसिंह—हाँ आदमी ही थे! और हमीं लोग के पुरखों में से थे। तभी तो हम पर इतनी कृपा रखते हैं वह!

शंकर—आदमी थे?

गिरिजा—क्या सचमुच वह आदमी ही थे चाचाजी?

माधोसिंह—हाँ, हाँ वह आदमी थे! हाड़-माँस के आदमी। हमी लोगों की तरह जमीन पर चलनेवाले आदमी—दो पैर के, दो हाथ के। किन्तु, आदमी होकर वह आदमी से कुछ पृथक थे; तभी वह देवता हो गये!

शंकर—आदमी से देवता हो गये?

गिरिजा—अरे?

माधोसिंह—अचरज की बात है; किन्तु सही बात यही है बेटी! यह जो हमारा गाँव है, वह पहले जंगल था। हमारे पुरखे पच्छिम से आये गायों का एक बड़ा झुंड लिये! यहाँ अच्छी चरागाह थी; यह छोटी-सी नदी थी। बस गये यहाँ। तब तक गाँव छोटा ही था—कि पोखन-ठाकुर का अवतार हुआ!

शंकर—अवतार!! अवतार तो भगवान के होते हैं चाचा जी!

माधोसिंह—हर बड़े आदमी में देवत्व का अंश होता है, बेटा! पोखन ठाकुर बचपन से ही कुछ अजब स्वभाव के थे। बड़े सूधे; बड़े सरल! गायों को ले जाकर दिन भर जंगल में चराया करते; गायें चरतीं और आप पेड़ पर चढ़कर बंशी बजाया करते!

गिरिजा—चाचाजी, तभी दीदी कहती थीं; ब्रह्मबावा अब भी कभी-कभी आधी रात को बंशी बजाया करते हैं, वह बंशी बजाते हैं।

(बंशी का स्वर सुनाई पड़ता है)

शंकर—(डर के स्वर में) चाचा जी यह बंशी......

माधोसिंह—हां, हां, बड़ी रात हो गई न! किन्तु इस बंशी से डरो मत बच्चो! यह बंशी हमारी रक्षा की बंशी है! मालूम होता है; हमारी आज की पूजा मे ब्रह्मबाबा बहुत प्रसन्न हुए हैं!

गिरिजा—चाचाजी! मुझे भी डर?........

माधोसिंह—तू तो पूरी डरपोक है गिरिजा! नजदीक आ; या माँ के पास जा! शंकर, तुम और सुनना चाहते हो?

शंकर—डर तो मैं भी गया था। चाचाजी! लेकिन, किस्सा सुना ही दीजिये! बड़ी विचित्र कहानी.....

माधोसिंह—हां, हां देवताओं की कहानियाँ विचित्र होती ही हैं! तो, हमारे पोखनबाबा धीरे-धीरे जवान हुए! देवताओं की तरह का ही शरीर था उनका। पांच-पांच हाथ के गभरू जवान! सांड़ ऐसी ऊँची गरदन, भैंसें के पुट्ठे ऐसी चौड़ी छाती; जामुन के पेड़ में धक्के दे देते; तो सारे पके जामुन ज़मीन पर पथार लग जाते थे।

गिरिजा—आह, तब मैं नहीं हुई। नहीं तो ब्रह्मबाबा से जामुन गिरवा कर खूब खाती।

शंकर—तुझे तो हमेशा भूख लगी रहती है गिरिजा। हाँ, तो चाचाजी, ·............

माधोसिंह—पोखन बाबा बड़े हुए तो लोगों ने शादी की चर्चा चलाई; लेकिन उन्होंने नाहीं कर दी! उन्हें अब कुश्ती लड़ने, मुगदर भाँजने और खेत नापने से ही फुर्सत कहाँ थी? गाँव के ग्वरे के इन सारे खतों को उन्हीं ने ही पहले पहल पैदावार के लायक

बनाया था शंकर! लेकिन, गाय से उनका प्रेम अन्त तक न छूटा! दोपहर तक ये सारे काम होते, दोपहर से शाम तक गायें चराते! एक दिन संध्या समय वह गायें लिये आ रहे थे कि एक अजीब गुर्राहट सुनाई दी.......

(बाघ की गुर्राहट की आवाज़—फिर दूर पर हल्ला—आदमियों—और पशुओं के भागने के शब्द—लोग चिल्लाते हैं "बाघ—बाघ")

एक व्यक्ति—क्या कहा? पोखन ठाकुर बाघ से लड़ रहे हैं!

दूसरा व्यक्ति—पोखन ठाकुर बाघ से लड़ रहे हैं!

तीसरा व्यक्ति—बाघ से लड़ रहे हैं, पोखन ठाकुर.....

(बाघ की गुर्राहट: धम-धम की आवाज़)

माधोसिंह—और थोड़ी देर के बाद लोग वहाँ पहुँचे तो देखते हैं; बाघ का सिर भुर्ता-भुर्ता हो गया है और पोखन ठाकुर लहू-लुहान खड़े मुस्कुरा रहे हैं।

शंकर—अब तो सचमुच डर लग रहा है चाचाजी।

माधोसिंह—लेकिन देवता की कहानी अधूरी नहीं छोड़ी जाती है, बच्चो! पोखन-बाबा का उससे भी बड़ा करतब तो तब देखा गया जब हमारे इस गाँव की सीमा को लेकर झगड़ा ठन गया।

शंकर—गाँव की सीमा?

माधोसिंह—हाँ जी। गाँव की सीमा! जब यह गाँव बस चुका, तो पीछे से बगल के जंगल में एक और बस्ती बसी। उस बस्ती और हमारे गाँव के बीच में क्या सीमा रहे, इसको लेकर तकरार मची। पंच ने फैसला दिया, तो भी उन लोगों ने नहीं माना। एक दिन वे लोग सीमा पर आ डटे—भाले, गँड़ासे और लाठियों से लैस होकर! उनकी तायदाद बड़ी थी। हम लोगों के पुरखे डर गए कि पोखन-बाबा का ब्रह्म जागा—उन्होंने अपनी लाठी निकाली और.....

पोखन बाबा की माँ—बेटा, बेटा, अकेले मत जाओ, बेटा। सुना है, उन्होंने कितने पहलवान बुलाए हैं।

पोखन बाबा—माँ, चुप रहो। यह हो नहीं सकता कि कोई सीमा पर चढ़ आवे और हम घर में बैठे रहें। और पहलवान! पहलवान ही अपनी माँ का दूध नहीं पीते हैं, अम्मा।

गांव का एक बुजुर्ग—रहने दो पोखन, अभी हम टाल जायें। हम भी तैयारी कर लेंगे, तो......

पोखन बाबा—नहीं नहीं। जब दुश्मन ने चुनौती दे दी, तो रुकना कायरता है। आपलोग मेरे पीछे आवें, मैं चला......

माँ—बेटा, बेटा। मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी, बेटा!

माधोसिंह—कहते हैं, माँने उनकी बाँह पकड़ ली। माँ को बाँह से टाँगे हुए पोखन बाबा आगे बढ़े। बेटे की इस रुद्रमूर्ति के सामने माँ को हार माननी पड़ी।

(माँ के रोने की आवाज़)

पोखन—पहला वार तुम करो।

एक पहलवान—पोखन, आज नहीं बचोगे, लौट जाओ। माँ को निपूती मत बनाओ।

पोखन—तुम अपनी जोरू को विधवा मत बनाओ। जाओ उसकी चूड़ी पहनकर उस बेचारी के सिन्दूर की रक्षा करो।

पहलवान—बढ़ के बोल रहे हो पोखन।

पोखन—बढ़ के वार करो या भागो।

(लाठियों का खटाखट)

शंकर—उफ़! बड़ी लड़ाई हुई होगी चाचाजी।

गिरिजा—हमारे पोखनबाबा क्या वहीं मारे गए चाचाजी?

माधोसिंह—नहीं। दुश्मनों के वारों को उन्होंने बचा लिया और फिर वार-पर-वार करने लगे—एक गिरा, दूसरा गिरा, फिर तो भगदड़ मच गई। हमारी सीमा रह गई! हमारी इज्ज़त रह गई। हम उन्हीं की दी हुई ज़मीन को आज तक भोग रहे हैं। प्रणाम है पोखन बाबा।

गिरिजा—प्रणाम है, ब्रह्मबाबा।

शंकर—प्रणाम है, पोखन बाबा।

माधोसिंह—किन्तु, जैसी शानदार थी हमारे पोखन बाबा की जिन्दगी, उससे भी शानदार तो हुई उनकी मृत्यु।

गिरिजा—किस तरह उनकी मृत्यु हुई चाचाजी।

माधोसिंह—उसे मृत्यु कहना भी अपराध होगा गीरू। वह मृत्यु नहीं शहादत थी—शहादत। एक दिन आधीरात को गाँव में आग लगी। जाड़े की रात थी। सभी गायें गोठों में बँधी थीं। लोग तो भगे, किन्तु बेचारी गायें! वे खूँटों में बँधी छटपट कर रही थीं; रँभा रही थीं, चिल्ला रही थीं।

एक स्वर—हाय, हाय, गायें जल रही हैं।

दूसरा स्वर—उफ़, उफ़, कौन भीतर जाकर उन्हें खोले।

तीसरा स्वर--इन लपटों में कौन कूद सकेगा?

माधोसिंह—लपटों में कौन कूदेगा? वह देखो पोखन बाबा। पोखनबाबा ने बदन से उतार कर कपड़े फेंक दिए। कमर में सिर्फ लँगोट, और शरीर को कँबल से लपेट कर, एक हाथ में बंधन काटने का हँसुआ लिए हुए, लपटों में कूद पड़े।

(हाय–हाय– -हा–हा- हा- हा–की आवाज़)

माधोसिंह—उसके बाद लोगों ने देखा, एक-एक गाय बंधन कट जाने पर गोठ से निकल कर भागी आ रही है। एक-एक कर सारी गायें निकलीं–किंतु!

(हाय–हाय! हाय–हाय की आवाज़)

शंकर—क्या पोखन बाबा जल मरे?

गिरिजा——चाचाजी, चाचाजी! पोखनदादा को क्या हुआ चाचाजी?

माधोसिंह—वह शहीद हो गए—अमर शहीद। जब आगबुझी, लोगों ने देखा उनकी अधजली लाश एक खूँटे के निकट है। उनका यह बलिदान उनकी यह वीरता! हमारे पुरखों ने उनकी स्मृति में यह पीपल का पेड़ रोपा। वह प्रायः उन्हें दिखाई पड़ते थे। हमलोग पापी हो गए हैं, इसलिए हम उनके दर्शन नहीं कर पाते। किन्तु जब कभी संकट आता है......

(झांझ और करताल के शब्द)

गिरिजा—भैया भैया, ब्रह्म बाबा के गीत शुरू हो गए। चलो भैया, हम तमाशा देखें।

शंकर—चाचाजी ने उस दिन जो कहानी कही थी उसके बाद भी इसे तमाशा समझती हो गीरू। चलो अपने गाँव के अमर शहीद

के नाम पर हम श्रद्धांजलि अर्पित करें। अमर शहीद के नाम पर। गाँव के त्राता के नाम पर!

गिरिजा—ठीक भैया, ठीक। मैं अभी अक्षत-रोली, चंदन, आरती लाई। आप फुलवाड़ी से फूल लेते आवें।

(झांझ-करताल के शब्द फिर एकबार तेज होकर विलीन हो जाते हैं)

बिकू बाबू

(चार-पाँच आदमियों की एक ही साथ आवाज़—"ॐ विष्णवे स्वाहा, नमोश्री विष्णवे; ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, नमो श्री ब्रह्मणे"—इस मंत्र को पढ़कर जैसे वे आहुतियाँ दे रहे हों!)

शंकर—उमा, उमा, जल्दी कर उमा! देख, देख, आहुति शुरू हो गई। क्या प्रसाद नहीं पायगी?

उमा—हाँ, हाँ, आज पूर्णिमा न है भैया? हर पूर्णिमा को यह अच्छा प्रसाद मिल जाया करता है हमें—खड़े दूध की खीर!

शंकर—खीर की कल्पना से ही तेरी जीभ पानी-पानी हो गई।

उमा—भैया, खीर है ही ऐसी चीज़। उस पर भी बिकू-बाबू पर चढ़ी हुई खीर!—नया-नया मिट्टी का बर्तन—बकेन-भैंस का गाढ़ा-गाढ़ा दूध। बासमती का चावल—जूही-सा उजला, चंदन-सा महमह। फिर गोयठे की मीठी-मीठी आग में पकी यह खीर—कितनी मीठी, कैसी सुगन्ध-सनी, कितनी स्वाद-भरी। भैया, बिकू-बाबू के प्रसाद की यह खीर खाने को जीभ पर पानी न आए, तो समझिए, वह जीभ ही नहीं! क्या आप नहीं ललचते हैं भैया, इस खीर के लिए?

शंकर—देख, देवता के प्रसाद पर यों लार न टपकाया कर! पहले उन्हें चढ़ा लेने दे—रस देवता पायेंगे, हम तो सीठी पाते हैं।

उमा—और सीठी जब इतनी मीठी है, तो.....

शंकर—फिर कहता हूँ, देवता के प्रसाद पर यों मत लार टपकाया कर.........समझी?

उमा—आपने कहा तो मैंने मान लिया! दुहाई बिकू-बाबू की; कसूर हुआ हो तो माफ करना! अच्छा, भैया एक बात। क्या बिकू बाबू भी पोखन ठाकुर की तरह कोई आदमी ही थे?

शंकर—अच्छी याद दिलाई तूने, आज शाम को चाचाजी से पूछेंगे। किन्तु, सुनो उमी, मालूम होता है, अब होम समाप्त हो रहा है, चलो जल्दी चलें।

(चार-पाँच आदमियों की एक ही साथ आवाज—ॐ विष्णवे स्वाहा, नमोश्री विष्णवे आदि)

× × × ×

चाचा—हाँ, बिकू-बाबू भी आदमी ही थे हमारे बाबा पोखन ठाकुर की तरह। पोखन ठाकुर तो हमारे गाँव के थे, किन्तु बिकू-बाबू तो हमारे खान्दान के—हमारे अपने खास पुरखे।

शंकर—वह कब हुए थे, चाचाजी?

चाचा—हमलोगों की सातवीं पीढ़ी में—वह हमारे बाबा के बाबा के बाबा के बाबूजी के बड़े भाई थे!

उमा—उनकी अपनी औलाद से हममें से कौन है चाचाजी?

चाचा—उनकी अपनी औलाद कोई थी ही नहीं! एक बात देखोगी बिटिया, हमारे गाँव के जितने देवता हैं, वे, प्रायः सब-के-सब, ब्रह्मचारी रहे हैं—कोई अपना बाल-बच्चा बाबू कहनेवाला नहीं था, इसीलिए गाँव-भर के बच्चे उन्हें बाबू कहते थे और कब न चल बसे, आज तक वह बाबू कहला रहे हैं—अब सारे गाँव के बाबू हैं वह!

शंकर—शादी नहीं की थी? क्यों नहीं की थी? क्या वह साधु हो गए थे?

चाचा—साधु का मतलब अगर घर छोड़कर वैरागी या सन्यासी बन जाने से है, तो उन्होंने घर कभी नहीं छोड़ा। किन्तु घर रहकर भी वह साधु थे! बड़े सूधे-सादे, बड़ा नेक स्वभाव। घर-गृहस्थी से जो समय बचता, उसे पूजा-पाठ में लगाते। कभी किसी को दुर्वचन न कहा; कभी किसी ने उन्हें क्रोध में नहीं देखा। शान्त, निरीह! तुम्हें सुनकर अचरज होगा, बड़े-बड़े बिगड़ैले भैंसे उनकी बोली सुनकर ही खड़े हो जाते थे। अच्छा, कभी तुमने भैंस की लड़ाई देखी है शंकर!

उमा—भैंस की लड़ाई ? बड़ी भयानक होती होगी चाचाजी ! क्यों भैया, आपने कभी देखा है ?

शंकर—नहीं रे ! कैसी लड़ाई होती है चाचाजी !

चाचा—सचमुच बड़ी भयानक, बड़ी भयानक ! ये भैंसे पालतू तो हो गए हैं, लेकिन अभी इनके मन से जंगलीपन नहीं गया। जंगल में तो ये बाघों से भी भिड जाते हैं और उसे टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं—जंगली भैंसों से भयानक जानवर शायद ही कोई दूसरा हो !

शंकर—अरे रे, चाचाजी, वे बाघ से भिड़ जाते हैं ?

चाचा—हाँ, रे ! भैंसों का यह भयानक रूप तब देखने को मिलता है जब दो भैंसे लड़ जाते हैं। एक दूसरे को कोसों तक खदेड़ता है और तबतक चैन नहीं लेता है जब तक एक दूसरे की अँतड़ियाँ न निकाल दे।

उमा—उफ़, उफ़, चाचाजी, चाचाजी, सुनकर ही डर लगता है !

चाचा—एक बार ऐसे ही दो भैंसों में लड़ाई हो रही थी। दोनों लड़ रहे थे—उनकी सींगों की ठक, ठक—उनके नथुनों से निकली राक्षस ऐसी साँसें—उनकी उठापटक—लोग दूर पर खड़े देख रहे थे कि इतने में लोगों ने देखा, एक भैंसा शायद हार कर भागा लोगों की तरफ—अपनी जान बचाने को लोगों में हाहाकार मच गया, भगदड़ मच गई ! "भागो, भागो"—"बापरे, दैया रे" का शोर मचा था। सब भगे। किन्तु बिकू-बाबू खड़े रहे !

उमा—खड़े रहे !

शंकर—खड़े रह गये !

चाचा—हाँ, खड़े रह गए। अगला भैंसा काफी आगे था, वह बिकू-बाबू को सामने देख कर कुछ कतरिया गया और उनके पीछे आकर खड़ा होगया—जैसे उसे शरणस्थली मिल गई हो। पिछला भैंसा बेतहाश आ रहा था। ज्यों ही निकट आया, लोगों में हाहाकार मच गया। किन्तु, बिकू-बाबू खड़े हैं, मुस्कुराते हुए।

उनके मुँह से निकला—"रुको ! रुको महेसर !!"

"रुको, रुको महेसर !" यह क्या, भैंसे के अगले पैर अचानक ऐसे रुके कि मालूम हुआ, पीछे से वह उलट जायगा। फिर वह सम्हल कर खड़ा हुआ। अब दोनों तरफ दो भैंसे हैं और बीच में बिकू-बाबू !

भैंसों की नाक से जोरों की साँसें चल रही हैं—जैसे दो भाथियाँ चल रही हों। दोनों भैंसे एक दूसरे को देख रहे हैं—एक मानो कह रहा हो; अब छिप कहाँ रहे हो? दूसरा कह रहा हो—अब तो मैं शरण में आ गया, तुम करोगे क्या?

अब बिकू-बाबू आगे बढ़े और चढ़ाई करने वाले भैंस के निकट पहुँचकर उसकी गरदन सहलाते हुए कहने लगे—"महेसर, महेसर, यह क्या महेसर? भगे हुए पर वार कर रहे हो? छीः, छीः, छीः! यह तो तुम्हारी आदत नहीं थी!" और वह भैंसे को यों ही सहलाते ए अपने घर ले आए। तब से वह भैंसा अपने ही गाँव में रहा। हाँ, जब बिकू-बाबू चल बसे, वह भी कहाँ चला गया, लोगों को पता न लगा!

शंकर—चाचाजी, चाचाजी; इस कहानी पर तो विश्वास नहीं होता!

चाचा—बड़े आदमियों की ज़िन्दगी में ऐसी चीज़ें होती हैं, जो हम साधारण आदमियों के दिमाग़ में नहीं आतीं! सुना नहीं, एक बार गाँधीजी की देह पर से एक मणिधर नाग ससर कर चला गया था!

उमा—शायद इसीलिए ऐसे बड़े आदमियों को हम देवता कहने लगते हैं, चाचा?

चाचा—हाँ, हाँ, बहुत सही कह रही बेटी! अब तुम लोग जाओ, मुझे खेत में काम करने जाना है। फिर कभी उनकी बातें सुनाऊँगा।

शंकर—अच्छा चाचाजी!

उमा—हाँ, सुनाइयेगा ज़रूर चाचाजी!

× × × ×

उमा—चाचाजी, बिकू-बाब के बारे में और कुछ बताइये न?

चाचा—अच्छा, लेकिन शंकर कहाँ है? उसे भी बुलाओ न?

उमा—भैया, भैया! चाचाजी बुला रहे हैं, भैया! बिकू-बाबू की कहानी सुनिए!

चाचा—अभी आया, उमा!

शंकर—हाँ, तो कहिए चाचाजी! हमारे बिकू-बाबू!

चाचा—कहा था न? बिकू-बाबू बड़े सरल, बहुत सूधे आदमी; बिल्कुल ही निरीह थे। कभी किसी पर हाथ न उठाया—कभी किसी जीव की हत्या न की। उनके सामने कोई साँप को भी नहीं मार सकता था। और, बड़े अचरज की बात—बड़े-बड़े विषधर उनके सामने फन झुका देते थे। कहते हैं, एक बार हमारे उस दलान से एक बड़ा पुराना गेहुँअन निकला—इतना पुराना कि वह काला पड़ गया था; उसकी दुम पूरी-की-पूरी झड़ गई थी।

"साँप, साँप"! "साँप, साँप"!

इस चिल्लाहट को सुन कर बिकू-बाबू दालान से बाहर हुए। देखते हैं, वह साँप गड़ँली मारे, फन काढ़े बैठा है और लोग उसे घेरे हुए हैं। रह-रह कर वह फुफकारें मार रहा है। उसकी फुफकार से ही भगदड़ मच जाती। किन्तु वह निश्चिन्त बैठा है, मानो वह खेलवाड़ कर रहा हो। लेकिन, शायद वह भूल गया था कि उससे भी खेलवाड़ करनेवाला कोई इस दुनिया में है। बिकू-बाबू आए।

बोले—"ओहो, तुम? नगेसर! अरे, यह क्या नगेसर!"

बिकू-बाबू कहते हुए उस विषधर के निकट! वह जोरों से फुफकारा! बिकू-बाबू अट्टहास कर उठे—हा हा हा हा!

"नगेसर, अरे तू मुझसे दिल्लगी करने चला है। किन्तु तेरा रग-रग पहचानता हूँ नगेसर! चल, चल, तुझे तेरी जगह पर पहुँचा आऊँ!"

अब नागराज का फण नत है और बिकू-बाबू उसके निकट पहुँचकर उसकी गरदन पकड़ लेते हैं! वह लटक रहा है, जैसे वह काले लत्ते का बना गुड़िया-साँप हो!

उमा—चाचाजी, चाचाजी! यह तो अजीब बात मालूम पड़ती है—सचमुच वह अलौकिक पुरुष थे!

चाचा—उमा, वह खूँखार जीवों के बारे में, कहते थे—"ये लोग हमारे पूर्व जन्म के साथी हैं। बेचारों ने गलतियाँ की थीं, इससे इन योनियों में इन्हें जन्म लेना पड़ा है। इसलिए हमें सदा सुकर्म ही करना चाहिए। बुरे करम इसी जन्म में ही नहीं, अगले जन्मों तक हमें रगेद मारते हैं, उमा।

× × × ×

(चार-पाँच आदियों द्वारा किए गए फिर हवन और आहुतियों के मंत्र सुनाई पड़ते हैं—"ॐ विष्णवे स्वाहा, नमोश्री विष्णवे! ॐ श्री ब्रह्मणे स्वाहा, नमो श्री ब्रह्मणे!")

उमा—भैया, भैया, पूर्णिमा आई—फिर खड़े दूध की खीर!

शंकर—और फिर चाचाजी से बिकू-बाबू की कहानी!

उमा—हाँ, हाँ! चाचाजी, बिकू-बाव के बारे में कुछ और बताइये चाचाजी!

चाचा—बिकू-बाबू को डर तो छू नहीं गया था। दया और करुणा भी उनमें कूट-कूट भरी थी। गाँव में कोई बीमार पड़े उसकी सेवा में हाजिर! उसके पास जाने, उसे दवा देते, उसकी शुश्रूषा करते—अरे, यदि कोई उसके घर में नहीं हुआ, तो उसकी गंदगी साफ करने में नहीं हिचकते!

शंकर—अपने हाथों से ही उनकी गंदगी साफ कर देते!

चाचा—हाँ, रे! और बीमार आदमी चमार ही क्यों न हो। एक बार बिकू-बाबू रात में कहीं से आ रहे थे कि उन्होंने पुकार सुनी—

"आह! पानी! आह पानी! पानी! पानी!" वह झटपट घर के भीतर घुसे। देखा रघुआ चमार बीमार होकर पड़ा है।

"क्या है रघु? ओह, तुम्हें यह क्या हुआ है?"

"पानी! पानी! हाय, पानी!"

बिकू-बाबू दौड़ते हुए घर पहुँचे, पानी लाए, उसे पिलाया। उसे हैजा हो गया था, लोगों ने मना किया, छूत लग जायगी, वहाँ मत रहो—

"बिकू-बाबू, बिकू-बाबू; हैजा है हैजा! भगवती माई से खेलवाड़ मत कीजिए"

"भगवती माई से खेलवाड़! बच्चा माँ से न खेलवाड़ करेगा, तो करेगा किससे? किन्तु यह हैजा भगवती माई नहीं है, यह गंदगी की चुड़ैल का करतब है! सफाई से रहो, फिर यह चुड़ैल पास न फटके!"

और वही हुआ। बिकू-बाबू ने रघुआ को चंगा कर ही लिया— यद्यपि इसके लिए उन्हें कई रातों जागना पड़ा।

उमा—ओहो, कितने दयावान थे हमारे बिन्दू-बाबू !

चाचा—उनकी करुणा की हद तो तब हो गई, जब गाँव में एक आदमी को कुष्ठ हो गया, तो उसकी जिन्दगी भर-सेवा करते रहे।

शंकर—कुष्ट, कोढ़ ! चाचाजी, चाचाजी, कोढ़ियों को तो देखते ही मेरी आत्मा काँप उठती है...........

चाचा—किसकी नहीं काँपती है, शंकर ! किन्तु बिकू-बाबू के नजदीक तो वह सब से प्यारा, जो दूसरों के लिए सबसे घिनावन ! उस कोढ़ी के घाव धोते, पीव पोछते, उस पर चंदन लेप करते और जब वह मरा तो अपने कंधों पर उसे नदी घाट तक ले आये।

उमा—ओह, ओह, चाचाजी ! बिकू-बाबू सचमुच देवता थे !

शंकर—चाचाजी, मैं कहूँ ! जब वह जीवित थे, तभी देवता हो गए थे—मरके तो देवता बहुत लोग होते हैं !

चाचा—बहुत सही कहा तुमने बेटा। और वह मरे भी देवता ही की तरह शंकर ! बूढ़े हो चले थे, किन्तु काफी चलते-फिरते ! एक दिन घर में जाकर कहा—मेरे लिए खीर बनाओ। यहीं खड़े दूध की खीर। खीर बनी। खूब सराह-सराह कर खाया। खाकर जरा लेटे, फिर खेतों की ओर गए और खलिहान में पहुँचते-पहुँचते लोगों से कहा—

मैं जा रहा हूँ—आज पूर्णिमा है न ?

लोग चिल्ला पड़े—

'हाँ, हाँ, पूर्णिमा है—आसिन की पूर्णिमा ! किन्तु यह क्या कह रहे हैं आप ?"

"जो कह रहा हूँ, सही कह रहा हूँ ! जरा पुआल डाल दो और उस पर कुश की चटाई ! मैं चला।"

कुश की चटाई डाली गई। बिकू-बाबू उत्तर दिशा सिर करके लेट गए। उनकी आँखें झिपने लगीं। लोग रोने लगे।

एक—बिकू-बाबू, बिकू-बाबू ! आपके बिना यह गाँव सूना हो जायगा, बिकू-बाबू !

दूसरा—बिकू-बाबू, बिकू-बाबू! आपके बिना हम ग़रीबों की ओर कौन ध्यान देगा बिकू-बाबू!

एक बुढ़िया तो उनके चरणों से लिपट गई—"बिकू-बाबू, हम आपको जाने नहीं देंगे बिकू-बाबू! मेरे बच्चे को आपने ही बचाया था? अब मुझे भी साथ लेते चलिए!"

लेकिन रोने-धोने से कहीं जानेवाला रुकता है। बिकू-बाबू ने एक बार आँखें खोलीं! बोल न सके—हाँ, हाथों को इस तरह उठाया, मानो लोगों को अभय दे रहे हों!

शंकर—तो इसी से पूर्णिमा को यह हवन होता है उनके नाम पर, 'क्यों चाचाजी!'

उमा—और, चूँकि खीर खाकर अन्तिम प्रस्थान किया था, इसके लिए खीर का प्रसाद चढ़ता है!

चाचा—बहुत ही सही कहा तुम लोगों ने! यह हवन, यह प्रसाद, सारे गाँव को, विशेषतः हमारे वंश को अनेकों संकटों से बचाता आया है!

(धीमे स्वर में हवन के मंत्र की आवाज़)

शंकर—शायद हवन पूरा हो गया चाचाजी!

उमा—तब चलो भैया, हम प्रसाद......

शंकर—खीर, खीर, खीर! तुम्हारा ध्यान तो सिर्फ खीर पर रहता है उमा!

चाचा—हाँ, हाँ, बेटी; सिर्फ प्रसाद पर ही ध्यान नहीं रखना। बिकू-बाबू के जीवन से हमें शिक्षा भी लेनी है। हम लोग यदि उनके पथ पर चलें, तो हममें से हर आदमी देवी-देवता बन जा सकते हैं। प्रणाम करो उन्हें बेटी!

उमा—प्रणाम बिकू-बाबू!

शंकर—प्रणाम बिकू-बाबू!

—::o::—

नया समाज

[एकांकी]

नया समाज

पहला दृश्य

पर्दा उठते ही एक करुण दृश्यावली आँखों को नम कर देती है। मंच की एक ओर से एक बूढ़ा किसान दुबला-पतला, अस्थिकंकाल, कमर में सिर्फ लंगोटी लगाये, कंधे पर कुदाल रखे, रंग-मंच पर आता है। उसकी बगल में नंगधड़ंग एक छोटा-सा बच्चा है। एक मुस्तंडा आदमी हाथ में लाठी लिये उसके पीछे है। वह किसान को धक्के देता है, घूँसों से पीटता है। बच्चा चीखता है। बच्चे को झटका देकर मंच की बगल में फेंक देता है। बच्चे का चित्कार सुनाई पड़ता है। बूढ़ा किसान उस मुस्तंडे की ओर चिनगारियाँ भरी आँखों से देखता है। मुस्तंडा आदमी उसके सिर पर एक लाठी जमाता है। सिर को हाथों से पकड़े आह! ओह! करता वह मंच की बगल से निकल जाता है। मुस्तंडा आदमी मूँछों पर ताव देता मंच की दूसरी ओर से बाहर होता है।

मंच की दूसरी ओर से एक फटी हाफकमीज पहने एक नौजवान मजदूर रुखा-सूखा चेहरा लिये मंच पर आता है। उसकी आँखें धँसी हैं: उसकी कमर झुकी है। उसके पीछे खाकी कोट-पैंट लगाये मिल का जमादार है। अपनी छड़ी से खोदता, ठेलता वह उस मजदूर को लिये जा रहा है। उसके पीछे मजदूर की नवयुवती पत्नी है, फटी-चिटी साड़ी पहने। उसके हाथ में टूटी टोकरी है। वह लड़खड़ाती थहराती, उसांसें लेती, उनके पीछे-पीछे जाती है। तीनों मंच की पहली ओर से निकल जाते हैं।

मंच की पहली ओर से एक पढ़ा-लिखा बेकार नौजवान आता है। कोट-पैंट-टाई सब हैं, किन्तु सब गंदे, जगह-जगह पैबंद। उसके पीछे उसकी पत्नी है—तीन बच्चों को साथ लिये। पत्नी और बच्चों के पहनावे भी गंदे और अबतर। सबसे पीछे एक बुढ़िया और एक बुड्ढा। इन दोनों की आँखों से आँसू आ रहे हैं। पढ़ा-लिखा बेकार नौजवान करुण दृष्टि से कभी दर्शकों की ओर कभी बाल-बच्चों की ओर, तो कभी अपने वृद्ध माँ-बाप की ओर देखता है। सबके सब धीरे-धीरे मंच की दूसरी ओर से निकल जाते हैं।

मंच की दूसरी ओर से जमींदार का एक नौजवान बेटा, एक बूढ़ा मिल-मालिक, एक चोर-बाजार का व्यापारी और उनके पीछे उनके कारिंदे और कर्मचारी आते हैं। सब-के-सब बने-ठने। सबके हाथ में शराब की बोतलें। सभी पीते हैं, ठहाके लगाते हैं, गुनगुनाते हैं, शोर करते हैं और इसी प्रकार रंग और मौज में शराबोर हैं कि पर्दा गिरता है।

दूसरा दृश्य

कैलाश का बँगला। एक सजा-सजाया कमरा। कैलाश और विनय बातें कर रहे हैं। कैलाश गाँव के ज़मींदार का पढ़ा-लिखा बेटा: विनय उसी गाँव के एक गरीब किसान का बेटा—शिक्षित, नये विचारों में पला, पगा।

विनय—यही है तुम्हारा समाज—आज का समाज। जिसमें अन्न-दाता किसान भूखों मरता है, जहाँ वैभवदाता मजदूर धक्के खाते फिरते हैं; जहाँ पढ़े-लिखे लोग या तो परेशान हैं या सारे अनैतिक कार्य किया करते हैं; जहाँ माताएँ और बहनें अर्द्धनग्न घूमा करती हैं और जहाँ देश के भावी नेता वे सुकुमार बच्चे बिललाते चलते हैं। और एक मुट्ठी लोग उनके सीने पर बैठ कर मौज उड़ा रहे हैं! कैलाश, कैलाश, यह समाज़ चल नहीं सकता, चल नहीं सकता।

कैलाश—फिर तुम्हारा लेक्चर शुरू हुआ। अरे यार, छोड़ो इन झमेलों को। खाओ-पीओ, कुछ मीठी गप करो।

विनय—खाओ-पीओ; कुछ मीठी गप करो! कैलाश, तुम खाने-पीने की बात इसलिए करते हो कि तुम्हारे पास इसकी प्रचुरता है किन्तु देश में ऐसे कितने सौभाग्यशाली हैं, जो अच्छी तरह खा-पी सकें। और, जिनके पेट में भूख का राक्षस खाँव-खाँव करता है, उनके दिमाग में मीठी गप आ नहीं सकती है, कैलाश।

कैलाश—फिर तुममें हीन भावना आई विनय। हमेशा यह क्या सोचा करते हो कि तुम गरीब हो? अरे यार, युनिवर्सिटी के सबसे अच्छे लड़के हो तुम; एम० ए० हुए कि प्रोफेसर, अफसर जो चाहो बन जाओ। फिर तो मौज-ही-मौज!

विनय—मौज-ही-मौज! मालूम होता है जैसे दुनिया में मौज के सिवा कुछ है ही नहीं!

कैलाश—यार, है क्यों नहीं? किन्तु और चीजें छाँछ हैं, और मौज है मक्खन! अपना सिद्धान्त है—मक्खन खाओ; छाँछ को फेंको।

विनय—और मक्खन सबके सामने धरा पड़ा है न? कैलाश, जब-जब तुमसे बातें करता हूँ, इच्छा होती है, इतना बल पाऊँ कि इस समाज को जल्द-से-जल्द चूर-चूर कर डालूँ और उसकी जगह पर एक ऐसा समाज बनाऊँ जहाँ कैलाश की तरह के पढ़े-लिखे समझदार लड़कों को इस तरह बुद्धिहीन नहीं बन जाना पड़े। कैलाश, आज के समाज में कोई मौज कर नहीं सकता!

कैलाश—वाह यार, वाह! कैसी अनोखी सूझ है तुम्हारी। आज के समाज में कोई मौज कर नहीं सकता? तो हम लोग यह क्या कर रहे हैं?

विनय—जिसे तुम मक्खन समझते हो, वह प्राणनाशक कीटाणुओं का लोंदा है—हाँ प्राणनाशक कीटाणुओं का लोंदा जो तुम्हारी जीवनी शक्ति खाया करता है! तुम मौज नहीं करते मौज के नाम पर आत्मघात कर रहे हो! तुम देख नहीं रहे, सर्वनाश तुम्हारे सामने खड़ा है! (गंभीर बन जाता है)

कैलाश—सर्वनाश! विनय, विनय, मैं बार-बार कहता हूँ मुझे ऐसे शब्दों से मत डराया करो। सचमुच जब तुम भवों पर त्योरी डालकर, चेहरे को गम्भीर बनाकर, एक अजीब संजीदा आवाज में कहते हो—'सर्वनाश तुम्हारे सामने खड़ा है'; तो सच कहता हूँ मालूम होता है, कोई राक्षस सामने खड़ा हो गया! उफ!

विनय—हाँ, वह राक्षस ही है कैलाश! राक्षस से भी भयानक! वह आ रहा है, वह आ रहा है हमारे समाज से उन सब को बीन लेने, चुन लेने को जो हमारे समाज में राक्षस हैं—

कैलाश—विनय, लेकिन मैं उनलोगों में नहीं। देखो, मैं किसी धड़ से भी राक्षस लगता हूँ?

विनय—(मुस्कुराते हुए) कैलाश, सवाल व्यक्ति का नहीं है, सवाल है प्रणाली का। जहाँ मेहनत करनेवाले, उत्पादन करनेवाले भूखों मरें, नंगे रहें, और बैठे-ठाले लोग मौज उड़ावें; जहाँ जन्मते ही कोई अपने को परम पवित्र और अन्य लोगों को अछूत समझने की गुस्ताखी करें, जहाँ नारियों को अपना सौंदर्य और यौवन बेचने को मजबूर होना पड़े, जहाँ कुत्तों-बिल्लियों को दूध पिलाया जाय और आदमी के बच्चे दाने-दाने को बिललाते फिरें—कैलाश, जहां गरीबी, गुलामी, अनैतिकता और अत्याचार का बोलबाला हो; उस समाज की भित्ति में ही राक्षसता है और वह राक्षस का ही शिकार होगा!

कैलाश—उफ, उफ! फिर वही राक्षस। अरे यार, बारबार आरजू करता हूँ, छोड़ो इन बातों को। कुछ मीठी बात करो—आशा, आशा!

(भीतर से आवाज—"हाँ, भैया!")

जरा चाय भेजो आशा! (फिर विनय से) विनय, घबराओ मत, अब थोड़े दिनों में तुम भी कोई अच्छी जगह पर पहुँच जाओगे, फिर तो........

विनय—फिर तो मैं भी मौज किया करूँगा, क्यों?

कैलाश—और क्या?

विनय—कैलाश, फिर कहता हूँ, सवाल व्यक्तिगत सुखदुख का नहीं है और सच पूछो तो —यह युग ही नहीं है जिसमें कोई समझदार और ईमानदार आदमी सुख से रहने की बातें भी सोच सके। जब घर में आग लगी हो, क्या कोई चैन से खुर्राटे ले सकता है? आह! (उदास मुद्रा)

(चाय लेती हुई आशा आती है)

कैलाश—फिर बैताल पीपल की डाल से जा लटका! अरे यार, छोड़ो इन बातों को। पीओ चाय। आशा, जरा मन से चाय बनाना! हाँ!

(आशा चाय बनाकर देती है)

कैलाश—(चाय पीते हुए) कैसी अच्छी चीज़ है यह चाय! विनय, क्या चाय से भी कोई अच्छी चीज़ है दुनिया में? बताओ—

विनय—क्या सबसे अच्छी चीज़ तुम्हें यही मालूम पड़ती है, कैलाश!

कैलाश—नहीं, नहीं: गलती हो गई—इससे भी अच्छी चीज़ हैं!—(खीसें निपोड़ कर हँसता है)

विनय—जिन अच्छी चीज़ों को तुम देख रहे या कल्पना कर रहे हो, उससे भी अच्छी चीज़ें दुनिया में हैं, कैलाश! किन्तु, हमारा यह वर्त्तमान समाज उनकी ओर हमारा ध्यान कहाँ जाने देता है! अभी तो हम पत्तियों और फूलों पर, बाहरी रंग और गंध पर ही लट्टू हैं—अभी तो क्षणिक वस्तुओं के ही फेरे में बँधे हैं! यह समाज बदलने दो, फिर ऐसी अच्छी से अच्छी चीज़ें ऊपर आयेंगी, जिनकी कल्पना भी हम नही कर पाते। वह समाज, नया समाज! काश, उसकी कल्पना तुम कर पाते कैलाश!

कैलाश—तुम्हीं उस कल्पना की दुनिया के पीछे दौड़ते रहो, विनय, अपने को तो जो सामने है............

विनय—उफ, उसकी कल्पना तुम कर पाते कैलाश! (कल्पना करते-करते खिल उठता है।)

आशा—कैसा होगा वह समाज विनय बाबू, जिसकी कल्पना ही आपको तन्मय कर रही है!

कैलाश—आशा, तुम इन बातों में न पड़ो। यह पागल है, पागल; तुम्हें भी पागल बना देगा। इसका पागलपन संक्रामक है, मुश्किल से अपने को मैं बचा पाता हूँ! चलो, जाओ यहां से, हटो.......

(आशा करुण दृष्टि से विनय की ओर देखती है, किन्तु विनय जब तक कुछ बोले, कैलाश गुस्से में कहता जाता है)

आशा; हटो, जाओ!

(आशा जाती है)

विनय—तुमने उन्हें भगा दिया। तुम उन्हें भगाओ, या खुद भागो; इस राक्षस की चपेट से बच नहीं सकते। देखो, कैलाश, वह

सर्वनाश तुम्हारे ऐसे लोगों को निगलने के लिए खड़ा है—देखो, देखो, वह, वह. . . . .

(विनय उँगलियों से ऊपर की ओर दिखाता है—कैलाश काँपने लगता है)

तीसरा दृश्य

गाँव के चौराहे पर कुछ किशोर-किशोरियाँ गाते हुए जा रहे हैं—

बदल दो,
बदल दो इस समाज को
बदल दो!
जहाँ न प्रेम-प्रीति है,
अनीति ही अनीति है,
कुटेव है, कुरीति है,
उलट दो,
उलट दो उस समाज को,
उलट दो!

जहाँ मनुष्य खून पी रहा
हाँ,
जहाँ मनुष्य खून पी रहा;
जहाँ मनुष्य मर के जी रहा,
न जी रहा, न मर रहा,
बिलख रहा, कहर रहा,
मगर न कोई देखने वाला;
उजाला कहाँ काला ही काला,
उलट दो,
उलट दो तख्तो ताज को,
उलट दो!
यह चीख, यह पुकार
यह दानवी ललकार

सुनो, सुनो,
सुनो, सुनो,
इन्हें हमें हटाना है,
नया जगत बसाना है
बसाना है
बसाना है
नया समाज लाना है—
बदल दो,
बदल दो इस समाज को
बदल दो!

चौथा दृश्य

विनय की झोपड़ी। वह एक पुस्तक पढ़ रहा है कि गाँव का किसान बूढ़ा गरभू लाठी ठेकते उसके सामने आता है। कैलाश पुस्तक रख देता है। उसी समय दूसरी ओर से रहमान आता है, चीनी-मिल का एक मजदूर। तीनों में बातें होती हैं—

गरभू—विनय भैया, विनय भैया; तुम हमलोगों के लिए अवतार हो, भैया! आह, इस जालिम जमीन्दार ने. . . .

रहमान—विनय दादा, विनय दादा, सचमुच आप हमलोगों के लिए पैगम्बर बनकर आये हैं! दादा! यह कारखाना? कौन कहता है, इसमें ऊख पेरी जाती है—इसमें तो पेरी जा रही है इन्सानियत!

गरभू—ये जमीन्दार जमाने से हमें बेगार में, तरह-तरह के अबवाब में, जुल्म में, पीसते रहे, अब ये हमारी जमीन छीन रहे हैं यह कहकर कि बड़े पैमाने पर खेती करेंगे! यह ट्रैक्टर हमारे खेतों पर नहीं चलता है भैया; हमारी छाती पर चलता है, छाती पर! उफ़!

रहमान—ढोंग की हद हो गई विनय दादा! कैलाश बाबू ने पहले कहा—हम ट्रैक्टर से खेती करेंगे कि जमीन की पैदावार बढ़े। और कारखाना खोला यह कह कर कि देश में उद्योग-धंधे फैलाने हैं! किन्तु कैसा तमाशा? पैदावार बढ़ाने के पहले किसानों के मुँह

से अन्न छीना जा रहा है। उद्योगधंधे बढ़ाने के नाम पर मजदूरों का खून चूसा जा रहा है—हड्डियाँ पीसी जा रही हैं!

गरभू—विनय भैया, विनय भैया; यदि जमीन छिन गयी, फिर हम करेंगे क्या? जीयेंगे कैसे? यह हमारी पुश्तैनी जमीन—जिसमें हमारे पुरखों की हड्डियाँ गली हैं, जिसे जरखेज बनाने के लिए हमने खून को पसीना बना दिया, उसे ही वे हम से छीन रहे हैं! उफ़! हमें बचाओ—भैया। हम तुम्हारे पैर पड़ते हैं! (पैर पकड़ना चाहता है)

विनय—(मना करता हुआ) यह क्या कर रहे हैं गरभू बाबा! ओह, क्या आज तक आपने नहीं देखा कि आपकी दुर्गत इसीलिए होती रही कि आप अपने दुश्मनों को बाबू भैया कहते रहे, उनके पैर पड़ते रहे। झुके हुए सर पर पैर पड़ते ही हैं; गरभू बाबा। यदि आप इज्जत से जीना चाहते हैं, तो सीना तान कर खड़ा होइये........ और अकड़ कर कहिए, यह जमीन हमारी है—इसे हम जोतेंगे! फिर देखिये, कौन आपके सामने आता है? हाँ, सीना तानकर, जरा इस तरह (बताता है)

किसान—भैया, हमारी तो कमर तोड़ दी गई है, भैया! हम कैसे खड़े हों—

विनय—जिन्होंने आपकी कमर तोड़ी है, उनकी कमर भी टूट चुकी है गरभू बाबा। उनके दिन भी लद गये हैं। जिन विदेशियों ने उन्हें बनाया; वे चले गये; फिर ये क्या खाकर बचेंगे? हाँ, अपने को बचाने के लिए ये तरह-तरह के तिकड़म कर रहे हैं। किन्तु कोई ताकत इन्हें बचा नहीं सकती! आप सब मिलजुलकर, सीना तान कर, खड़े तो हों!

रहमान—इनका मायाजाल बड़ा लम्बा है विनय दादा! देखिए न, ये अब नये रूप धारण कर रहे हैं—!

विनय—हाँ, रहमान, देख रहा हूँ, ये एक ही छलाँग में सामंतशाही से पूँजीवाद के दौरे में मौज मारना चाह रहे हैं। लेकिन ये भूल गये हैं कि गरीब हल्का-फुल्का होता है, उनसे भी लम्बी छलाँग ले सकता है! जब तक यह पूँजीवाद तक पहुँच भी न सकेंगे, ये गरीब समाजवाद तक पहुँच चुके होंगे! जमीन किसानों की; कारखाने मजदूरों के—अब इस नारे को कोई रोक नहीं सकता! तुम अपना संगठन तो करो!

रहमान—हमने अपना संगठन शुरु कर दिया है भैया, जिस दिन आपका हुक्म होगा, कारखाने की चिमनी बुत के रहेगी !

विनय—हमें कारखाने की चिमनी बुतानी नहीं है; बल्कि उसे और जोरों से जलाना है, चलाना है। लेकिन यह नहीं हो सकता है कि जो उपजावे, वह मजदूर तो भूखों मरे और मुट्ठीभर पूँजी-पति संसार के सारे सुख-ऐश्वर्य का भोग करे। हमें इस समाज को ही बदल देना है, रहमान !

गरभू—समाज को बदलना है ? विनय भैया, हमारे बाप-पुरखे....

विनय—(मुस्कुराते हुए) समझा, समझा, गरभू बाबा ! किन्तु सोचना यह है कि हमारे बाप-पुरखे भी हमारी ही तरह के आदमी थे। जिस तरह हम गलतियाँ किया करते हैं, उन्होंने भी गलतियाँ की होंगी। देखिए, उनकी गलतियों से ही तो विदेशी हमारे देश में आये थे, और आई थी उनके साथ ही यह जमीन्दारी। यह शोषण और लूट भी तो उन्हीं के सूधेपन के चलते जारी हुए। सपूत वह है जो बाप-दादों की गलतियाँ दुरुस्त करे। हमें इस समाज को हटाना है, नया समाज बनाना है।

[भीतर से आवाज—

इन्हें हमें हटाना है,
नया जगत बसाना है,
बसाना है,
बसाना है,
नया समाज लाना है,
बदल दो,
बदल दो इस समाज को
बदल दो।]

रहमान—अहा, कैसा सुन्दर; कैसा जोशीला ! (मजदूर) हाँ, हाँ, जरा तुम भी गाओ बूढ़े बाबा, जरा तुम भी सुर मिलाओ। जानते हो, ये गाने तराने नहीं हैं, ये हमारे गोले-बारूद हैं, बाबा ! इनके सुनते ही दुश्मनों के होश गुम हो जाते हैं। जरा गोले-बारूद चलाना सीखो बाबा !

गरभू—इस बुढ़ापे में ?

विनय—कौन कहता है आप बूढ़े हैं? आप ही तो कहते थे; साठा, तो पाठा!

गरभू—अच्छा, तो एकबार हमारा करतब देख लेना विनय भैया! (तनकर खड़ा होता, मूँछ पर ताव देता)

विनय—क्यों रहमान!

रहमान—रहमान से कुछ मत पूछिये विनय दादा! उसने तो तय कर लिया है, इस समाज को वह बदलकर रहेगा, या इस कोशिश में अपनी जान दे देगा।

विनय—तो तुम दोनों मिलकर उस सुर में सुर मिलाओ। पुराना समाज तभी हटेगा, नया समाज तभी बनेगा, जब मजदूर और किसान एक हो जायेंगे, एक साथ लड़ेंगे, एक साथ गायेंगे।

मजदूर—और, जब आपके ऐसा नेता उन्हें मिलें, जिसने अपने सारे भविष्य पर लात मारकर गरीबों के उद्धार का ही बीड़ा उठाया हो! उफ़, जब आपके साथी धन जोड़ने में, मौज उड़ाने में लगे हैं; आप दिन-रात भूखे-प्यासे गाँव-गाँव, गली-गली चक्कर काटा करते हैं!

गरभू—विनय भैया! भगवान तुम्हें मेरी आयु दें। (आंखों में आँसू)

विनय—गरभू बाबा, मजा लम्बी जिन्दगी पाने में नहीं है; मजा है जिन्दगी को किसी अच्छे काम में मशाल की तरह जलाने में—वह जलती रहे, बलती रहे, रोशनी देती रहे, प्रकाश फैलाती रहे... . . . .

पाँचवाँ दृश्य

कैलाश का बंगला। कैलाश अपनी बहन आशा से बातें कर रहा है—

कैलाश—आशा, आशा, सुना है तुमने आशा? उस विनय ने......

आशा—विनय बाबू ने? कहाँ हैं विनय बाबू, भैया?

कैलाश—कहाँ है? वह आग लगाता फिर रहा है, आग!

आशा—आग ? विनय बाबू ?

कैलाश—हाँ, हाँ आग लगा रहा है ? शैतान की तरह आग लगा रहा है जिसमें मैं जलूँगा, तुम जलोगी, सारा समाज जलेगा, वह ख़ुद भी जलेगा, आशा, ख़ुद भी।

आशा—यह आप क्या कह रहे हैं भैया ?

कैलाश—जो अपनी आँखों से देख रहा हूँ। वह मेरी सारी ज़मीन्दारी में किसानों को भड़का रहा है, उनसे ख़ुराफ़ाते करवा रहा है। गाँव-गाँव में उसने किसान सभायें बनवाई हैं। बेगार, अबवाव की कौन सी बात; मालगुजारी भी नहीं मिल रही है, मालगुजारी। वह किसानों को ऐसा ख़ूँखार बना रहा है कि मेरे ट्रैक्टर धरे रह जायेंगे। और तो और, मैंने जो चीनी मिल खोली है, उसे भी सत्यानाश में मिलाने पर तुला है वह शैतान. . . . . .

आशा—वह तो बहुत ही सीधे-सूधे हैं भैया। आप उन्हें शैतान...

कैलाश—ऐसे लोगों के चेहरे ऐसे ही धोखे देनेवाले होते हैं आशा ! तमाशा तो यह है कि वह सारे देश में आग लगाता फिर रहा है, फिर भी अपने को देशभक्त. . . . . .

आशा—अगस्त क्रान्ति में तो उन्होंने बहुत कुछ किया था भैया !

कैलाश—तभी तो उसका दिमाग़ और फिर गया है। लेकिन आशा, थाने को लूटना, डाकघर में आग लगाना या कचहरी पर झंडे उड़ाना ही देशभक्ति नहीं है। मैं तो कहूँगा, घड़ी भरके जोश में आकर गोलियों के सामने छाती खोल देना भी देशभक्ति की कसौटी नहीं है। परिस्थिति के अनुसार देशभक्ति की कल्पना भी बदलती है।

आशा—देशभक्ति ? बदलती है ?

कैलाश—हाँ, बदलती है। आज की बदली हुई परिस्थिति में एकमात्र देशभक्ति है पैदावार बढ़ाना। सुना नहीं, पं० नेहरू ने कहा है—(Produce or perish) पैदावार बढ़ाओ, नहीं तो नाश में मिल जाओगे। सरदार पटेल भी यही कहते फिर रहे थे। आशा, आज देश संकट काल से गुजर रहा है; इसलिए जो कोई भी पैदावार बढ़ाने में अड़चन डालता है, वह देशद्रोही है।

आशा—देशद्रोही ?

कैलाश—हाँ, हाँ, देशद्रोही और मैं यह डंके की चोट कह सकता हूँ कि तुम्हारा वह विनय भी देशद्रोही है, देशद्रोही है, देशद्रोही है!

आशा—विनय बाबू और देशद्रोही. . . . . .उफ़, उफ़. . . . .

(विनय का अचानक प्रवेश)

विनय—और यह देशद्रोही तुम्हारे सामने खड़ा है, कैलाश! क्या सजा देते हो इसे?

कैलाश—तुम यहाँ? कैसे?

विनय—तुमसे मिलने आया था। बाहर खड़ा तुम्हारे नौकर की इन्तजार में था कि इजाजत लेकर भीतर आऊँ। किन्तु, जब अपने ऊपर फतवा काट देते सुना, तो सोचा, अपराधी हूँ ही—चलूँ, सजा ले लूँ।

कैलाश—विनय, तो यह बात तुम्हारे मुँह पर भी कहूँगा कि तुम देशद्रोही का काम कर रहे हो। देश जब इस संकट में है, तब पैदावार. . . . . .

विनय—पैदावार, पैदावार मत चिल्लाया करो कैलाश! पैदावार बढ़े, यह कौन नहीं चाहता है—किसान नहीं चाहेगा? मजदूर नहीं चाहेगा? उससे बढ़कर पैदावार करनेवाला है कौन, उसका महत्व समझनेवाला है कौन? किन्तु, कैलाश, पैदावार के साथ कुछ सवाल लगे हुए हैं, सवाल! पैदावार क्यों? पैदावार कैसे? और पैदावार किसके लिए?

कैलाश—तुम हर बात में सवाल ही ढूँढ़ते हो।

विनय—इसीलिए हम उसके तथ्य पर भी पहुँच पाते हैं—जिन ढूँढा तिन पाइयाँ! तुमलोग हर चीज पर पर्दा डालते रहे हो आज भी पर्दा डाल रहे हो। किन्तु, अब यह नहीं चलने की। जिस पैदावार के पहले किसानों के मुँह का अन्न छिन जाय, जिस पैदावार के पहले मजदूरों की हड्डियाँ तोड़ दी जायँ—वह पैदावार नहीं है, कैलाश! पैदावार का मानी है, जनता के लिए सुख-ऐश्वर्य के सामान मुहय्या करना। जो पैदावार शुरू होने के पहले ही मेहनत करनेवालों को सत्यानाश में मिला दे वह पैदावार नहीं, कोई राक्षस है राक्षस! उस राक्षस को मार डालना होगा!

कैलाश—फिर वही राक्षस।

विनय—हाँ, राक्षस, राक्षस, राक्षस ! मैं देख रहा हूं, कैलाश, आज हर जमीन्दार, हर पूँजीपति, हर मालदार देशभक्त बन गया है—किन्तु तुम्हारी देशभक्ति की परीक्षा—बार बार हो चुकी है। तुम अब लोगों को धोखा नहीं दे सकते। कैलाश, कैलाश, शुतुरमुर्ग की तरह बालू के नीचे सिर मत छुपाओ। परिस्थिति का सामना करो—देखो, वह सर्वनाश !

कैलाश—ओह, आशा, तुम भीतर जाओ। जाओ।

(आशा जाती है)

विनय—तुम फिर उन्हें भीतर भेज रहे हो। किन्तु हवा को क्या भीतर जाने से रोक सकोगे? ये दीवारें ढहेंगी, हेंगी, कैलाश–

कैलाश—विनय, मेरे प्यारे विनय, उत्तेजित मत हो। आशा को हटाया, क्योंकि तुमसे कुछ निवेदन करना है। (आजिजी में) मेरे भाई, मैं पूछता हूं, तुम मुझ पर ही क्यों फट पड़े हो? बहुत सी जमीन्दारियाँ हैं, बहुत-सी मिलें हैं। तुम मुझे छोड़ दो, भाई! मैं तुम्हें हाथ जोड़ता हूँ......

विनय--तो, तुम मुझे भी धोखा देना सिखा रहे हो? मैं उन किसानों और मजदूरों को धोखा दूं, जिन्होंने मुझ पर विश्वास किया, जिन्होंने मेरे हाथों में अपना भविष्य सौंप रखा है--कैलाश, यह नीचता है!

कैलाश—ओह! तुम फिर नहीं सुनते! अच्छा दूसरी बात! तुम चाहते हो न कि पैदावार बढ़े?

विनय--हाँ!

कैलाश—तुम चाहते हो न कि किसानों और मजदूरों का हित हो? उनकी उन्नति हो?

विनय—हाँ, हाँ!

कैलाश—तब लो; यह सारी जमीन्दारी और कारखाना तुम्हें सुपुर्द करता हूँ। तुम्हीं इसका इन्तजाम करो--तुम मैनेजर बनो...

विनय—जबान सम्हालो कैलाश, जबान! ओहो, अब तुम मुझे घूस देने चले हो? क्या तुमने मुझे इतना नीच समझ लिया है? ओहो! अब तुमसे कोई बात करना भी नीचता होगी, मैं चला कैलश...

(विनय चल देता है)

कैलाश—विनय, विनय.....ओह, आशा, आशा !

(आशा आती है)

आशा—भैया, भैया ! विनय बाबू क्यों भाग गये भैया...

कैलाश—वह मेरे मुंह पर तमाचा मार कर चला गया है। उस पर इस समय लीडरी का भूत सवार है आशा ! लीडरी का भूत !

(मैनेजर का प्रवेश)

मैनेजर—तो थोड़ी झाड़-फूँक कर देने से सब ठीक हो जायगा। नमस्कार सरकार ! बेटी, आशा बेटी, जरा मेरे लिए नाश्ते का तो कोई इन्तजाम करना बेटी ! जा, भीतर जा। इन मामलों में तुम्हें नहीं पड़ना चाहिए बेटी ! जा मेरी बिटिया !

(आशा जाती है)

तो सरकार ने देख न ली इनकी शोखी। इनकी सारी शोखी हवा हो जाय, यदि.........

कैलाश—यदि क्या मैनेजर साहब ?

मैनेजर—यदि सरकार की आज्ञा हो और क्या ?

कैलाश—क्या आज्ञा चाहिये ?

(मैनेजर कान में कुछ कहता है)

कैलाश—नहीं, नहीं, यहाँ तक नहीं जाना चाहिये।

मैनेजर—यहाँ तक नहीं जाइये, तो जैसा विनयबाबू कहा करते हैं—सर्वनाश मुँह बाये खड़ा है, उसके मुँह में जाना होगा सरकार !

कैलाश—मैनेजर साहब, मैनेजर साहब, ओह, ओह ! उसकी चर्चा मत कीजिये।

मैनेजर—हजूर, वह सामने खड़ा है ! या तो आज्ञा दीजिए, या........

कैलाश—उफ़ मैं क्या करूँ, क्या करूँ ?

मैनेजर—आपको कुछ करना नहीं है, सरकार, कुछ करना नहीं है। आपकी आज्ञा; बस ! बोलिए सरकार !

कैलाश—मैनेजर, मैनेजर, जो चाहो करो। हाँ, हाँ, जो चाहो करो—सब्र की हद होती है, इसने मुझे तंग कर रखा है— अब चखे उसका फल।

मैनेजर—तो सलाम हुजूर !

(मैनेजर जाता है—आशा आती है)

आशा—भैया, भैया, मैनेजर यह क्या आज्ञा माँग रहे थे भैया? आपने क्या आज्ञा दी है भैया!

कैलाश—आशा, भीतर जाओ, भीतर जाओ—जाओ-

आशा—(गंभीरता से जैसे कुछ निश्चय कर चुकी हो) हाँ, मै जाती हूँ, भैया.......

छठा दृश्य

एक खेत। घायल, लहूलहान विनय पड़ा हुआ कराह रहा है।

विनय—आह ! आह ! आह !

आशा—कौन ? विनय बाबू ? विनय बाबू ? आह, आह !

(उन्हें सम्हाल कर बैठाती है) हाय, यह क्या किया ?

विनय—आह ! (आँखें खोलते हुए) कौन ? आशा ?

आशा—ओह, मुझे देर हो गई विनय बाबू ! देर हो गई, तब तक दुष्टों ने अपना काम कर लिया ! कोई है, कोई है !

(रहमान का प्रवेश)

रहमान—अरे, यह क्या हुआ ? क्या हुआ ?

विनय—पानी, पानी !

आशा—आप जल्द पानी लाइये, जाइये, जल्दी कीजिये। आह !

(रहमान जाता है)

आशा—ओह, यह क्या हुआ ? मैनेजर, दुष्ट मैनेजर ! तुमने यह क्या किया ? भैया, भैया, आपने यह क्या कराया ? ओह ! ओह ! (फूट कर रोती है)•

विनय—पानी ! पानी !

(रहमान पानी लेकर आता है)

आशा—पानी है विनय बाबू, पानी !

(विनय के मुँह में पानी देती है—वह पीता है—उसके चेहरे पर पानी का छींटा)

आशा—ओह, यह क्या हुआ विनय बाबू !

रहमान—यह क्या हुआ, विनय दादा !

विनय—हुआ वही, जो होना था। संघर्ष के साथ यह सब लगा हुआ है, रहमान ! कोई घायल होता है, कोई गिरता है, कोई जेल में मरता है, कोई खेत पर मरता है ! संघर्ष के साथ यह सब लगा हुआ है——

आशा—दुष्ट मैनेजर ! भैया-भैया ! ओह !

विनय—आशा, बात व्यक्ति की नहीं है आशा ! सवाल है प्रणाली का, प्रणाली का। आज के समाज में ही यह सब निहित है आशा—शोषण, उत्पीड़न; अन्याय, अत्याचार, खून, हत्या ! सिर्फ लाठी और हाथ नहीं देखो; देखो उस राक्षस को, जो उसके पीछे छिपा है ! आह !

रहमान—(गुस्से में) हम इसका बदला लेंगे !

विनय—बदला लोगे ? जरूर बदला लेना, रहमान, जरूर ! जो बदला नहीं ले, वह आदमी नहीं है, रहमान ! लेकिन आदमी का बदला आदमी की तरह का होना चाहिये शैतान या हैवान की तरह का नहीं ! आह !

रहमान—आह! आप यह क्या कह रहे हैं मेरे सरदार !

विनय—बदला लो आदमी से नहीं, उस प्रणाली से, उस समाज से जिसके चलते आदमी इन्सान से हैवान, मनुष्य से पशु बन जाता है ! उस प्रणाली को, उस समाज को बदलो, मेरे भाई ! आह ! ज़रा पानी !

(आशा पानी पिलाती है—देखती है, खून बंद नहीं हो रहा है)

आशा—ओह, यह खून बहा ही जा रहा है ! (रहमान से) जाइये, किसी डाक्टर को बुलाइये—डाक्टर को......

विनय—खून ! उसे बंद मत करो आशा ! उसे बंद करने की ज़रूरत नहीं है रहमान ! उसे बहने दो, बहने दो ! इसी खून में

स्नान कर नया समाज आयेगा! वह नया समाज—जहाँ सब आदमी बराबर होंगे; सब आदमी सुख-चैन से रहेंगे! जहाँ ग़रीबी नहीं होगी, मूर्खता नहीं होगी, अन्याय नहीं होगा, अत्याचार नहीं होगा। जहाँ सब हिलमिल कर रहेंगे; सब हिलमिल कर नाचेंगे, गायेंगे। ओह, वह ऐश्वर्य का समाज; आनन्द का समाज; सौंदर्य का समाज; संगीत का समाज! वह समाज! पृथ्वी पर स्वर्ग! आशा, आशा, देखो, वह स्वर्ग पृथ्वी पर उतर रहा है। देखो, देखो वह पृथ्वी पर बस रहा है, देखो, देखो........... (उठने की चेष्टा)

आशा——आह! आह!

विनय—तुम देख नहीं रही आशा—वह नया समाज! वह पृथ्वी पर स्वर्ग बस रहा है, आशा! पृथ्वी पर स्वर्ग—जहाँ ऐश्वर्य, आनन्द, सौन्दर्य, संगीत.......

(आँखें मुँद जाती हैं)

मजदूर—ओह ओह! क्या हमें छोड़ कर...

विनय—रहमान! प्यारे रहमान! आदमी के खान्दान की तरह विचारों का भी खान्दान होता है, रहमान! एक आदमी जाता है, हजारों का कुनबा छोड़ कर। विचार का सुनहला धागा भी कभी नहीं टूटता—उसे जोड़नेवाले, उसे लम्बा करनेवाले आते ही रहते हैं, आते ही रहते हैं। उस धागे को—विचारों के धागे को, सिद्धान्तों के धागे को—उस सुनहले धागे को—देखो, उसे जोड़ो, उसे लम्बा करो—वह संसार को छाने जा रहा है—वह संसार पर छाते जा रहा है—वह सुनहला धागा—जिसके सामने आदमी तिनका है, तुच्छ तिनका! तिनके का मोह और इन्क़लाबी करे? रहमान कहो—इन्क़लाब—

रहमान—जिन्दाबाद!

(गरभू का प्रवेश)

गरभू—विनय भैया, विनय भैया! यह क्या हुआ विनय भैया!

विनय—गरभू दादा, गरभू दादा—कुछ नहीं गरभू दादा—कहिये, इन्क़लाब! ...बोलिये, इन्क़लाब——

किसान—(धीमे) जिन्दाबाद!

विनय—जोर से.......जरा जोर से दादा!

आशा—आह! ओह! (रोती है)

विनय—आशा, इन्क़लाबो जब बिदा ले रहा हो, रोना नहीं चाहिये आशा! क्रान्ति अमर है, तो क्रान्तिकारी भी अमर है। बोलो तुम सब मिलकर बोलो—इन्क़लाब—

सब—जिन्दाबाद !

विनय—इन्क़लाब—

सब—जिन्दाबाद !

[पर्दा गिरता है—स्वर धीरे-धीरे धीमा होता जाता है]

विजेता

[नाटक]

भूमिका ?

(वि)

हाँ, इस नाटक के लिए एक भूमिका चाहिए, लम्बी भूमिका। किन्तु, इस प्रलोभन से मैं अपने को बचाऊँगा।

बारह वर्षों तक मेरे मस्तिष्क में चक्कर काटते रहने के बाद कहीं यह सूर्य का प्रकाश देख पाया है। अब भी मेरे सामने वह कापी है, जिसमें मैंने इसकी रूप-रेखा तैयार की। उसपर हज़ारीबाग़-सेन्ट्रल-जेल की सरकारी मुहर है और मैंने उसपर तारीख़ लिखी है, विजयादशमी १९४३।

'अम्बपाली' लिखने के बाद मैंने इसका शुभारम्भ जेल में ही किया था और जब दिल्ली के 'राष्ट्रीय नाटक महोत्सव' के लिए 'अम्बपाली' का रिहर्सल किया जा रहा था, मैंने इसे फिर से हाथ में लिया और पूरा किया।

किन्तु उस पुरानी रूपरेखा और इसके वर्त्तमान रूप में आकाश-पाताल का अन्तर है।

समूचा नाटक चार ही दृश्यों में समाप्त होता है, एक-एक अंक में सिर्फ एक-एक दृश्य। इसमें पात्र भी सिर्फ पाँच हैं। और बिना किसी प्रकार की काँट-छाँट किये इसे दो-ढाई घंटे में खेल लिया जा सकता है।

(जे)

चन्द्रगुप्त मौर्य पर कितने ही नाटक लिखे गये हैं। किन्तु मैंने आश्चर्य से पाया है, 'चन्द्रगुप्त' नाम देकर भी लोगों ने दरअसल 'चाणक्य' लिखा है। उनका मुख्यपात्र चाणक्य है, चन्द्रगुप्त तो उसके इशारे पर नाचता है।

विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' में जो परम्परा चलाई, वह अब तक ढोई जा रही है, यद्यपि इतिहास के आधुनिक अनुसंधानों ने उसकी कितनी ही बातों का खंडन कर दिया है।

कितने आश्चर्य की बात है कि इतिहास जहाँ चाणक्य के बारे में थोड़ा-सा उल्लेख करके चुप है, वहाँ साहित्य उसकी कूटनीतिज्ञता की प्रशंसा करते हुए नहीं अघाता।

यह प्रशंसा यहाँ तक बढ़ा दी गई कि चाणक्य एक धूर्त और नृशंस व्यक्ति-मात्र बन जाता है और चन्द्रगुप्त उसके हाथ की कठपुतली-मात्र !

कठपुतली भी कैसी ? शूद्र, वृषल आदि कह कर भारत के उस प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् को नीचे-से-नीचे गिराने की कोशिशें हुई हैं।

इस महान पुरुष को उस गड्ढे से निकालना चाहिये, ऐतिहासिक तथ्य और महत्व के अनुरूप ही उसे साहित्यिक रूप देना चाहिये, बारह वर्षों से मेरे मस्तिष्क में यह विचार चक्कर काट रहा था। उसी का फल यह नाटक है।

मैंने जो कुछ लिखा है, उसके आधार के लिए ऐतिहासिक प्रमाण देने लगूँ, तो वह इस नाटक से भी विशाल रूप धारण कर ले सकता है।

किन्तु, मैं इस प्रपंच से अपने को रोकूँगा। इतना ही कहूँगा, चन्द्रगुप्त का यह साहित्यिक रूप आधुनिकतम ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। हाँ, उनके प्रकटीकरण और विश्लेषण में मैंने थोड़ी स्वाधीनता ली है, जो हम साहित्यिकों का अधिकार है।

(ग)

अब हिन्दी के रंगमंच की ओर लोगों का ध्यान गया है। चारों ओर नाटक खेलने के लिए एक नया उत्साह पैदा हुआ है।

दो-दो तीन-तीन दर्जन दृश्यों का नाटक लिखने और खेलने का समय बीत चुका। आधुनिक रंगमंच पर अब इसके लिए गुंजायश कहाँ ? यों ही पाँच-पाँच घंटों तक नाट्गृह में बैठने की फुर्सत भी लोगों में नहीं रही।

पात्र-पात्रियों की बहुलता भी नाटक के खेलने में बाधक बन जाती है।

नाटक छोटे हों, जो दो-ढाई घंटे में खेल लिये जा सकें। उतने ही दृश्य हों, कि इन्टरवल के समय फिट कर लिये जायँ। पात्र-पात्रियों की संख्या ऐसी हो कि कुछेक प्रतिभाशील व्यक्तियों को ही लेकर अभिनय करा लिया जा सके।

युग की माँग यह है !

इस नाटक की जो रूपरेखा मैंने पहले तैयार की थी, युग की इस माँग को ध्यान में रख कर उसमें मुझे आमूल परिवर्तन करना पड़ा है। किन्तु युग की इस माँग की पूर्त्ति करना कितना कठिन है, पग-पग पर अनुभव करता रहा हूँ।

चाहे जैसा भी बन पड़ा हो, अपने ऐतिहासिक नाटकों की माला में यह अन्तिम मनका जोड़ कर अब सामाजिक नाटकों की ओर प्रवृत्त होने जा रहा हूँ।

युग की एक माँग यह भी है, जिसकी अवहेला नहीं की जा सकती !

पटना, ६
बसंतपंचमी, १९५५

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पात्र

चन्द्रगुप्त

चाणक्य

श्वेतकेतु



पात्रियाँ

माँ

चन्द्रा

विजेता

पहला अंक

स्थान : तक्षशिला के निकट का एक पहाड़ी प्रदेश

समय : प्रातःकाल

छोटी-सी पहाड़ी : नीचे घनघोर जंगल। इस घनघोर जंगल में एक छोटा-सा खुला स्थान।

उस खुले स्थान में एक युवक खड़ा है। सामने की पहाड़ी के पार्श्वभाग पर एक गोल चिह्न बना हुआ है जिसके इधर-उधर कितने भाले लटकते दीख पड़ते हैं। उसके दाहिनी ओर, पहाड़ी के सहारे, कई भाले खड़े किये गये हैं। वहीं एक धनुष और तीरों से भरा हुआ एक तरकस लटक रहे हैं।

युवक के हाथ में एक भाला है। वह उस भाले को लक्ष्य की ओर फेंकने जा रहा है।

कितना सुपुष्ट है उसका शरीर। कमर से घुटनों तक का कटि-पट। इस संक्षिप्त परिधान में उसका शरीर-वैभव कैसा निखरा पड़ता है!

गौर मुखमंडल। उन्नत ललाट। दोनों सघन भवें जैसे एक-दूसरी से मिलने को आतुर। होठों पर दृढ़ता। वृषभस्कंद: प्रशस्त वक्षस्थल। बाहों की, जाँघों की मांसपेशियाँ उभड़ी पड़ती हैं। सुदृढ़ अडिग्ग चरण।

उसके ललाट पर स्वेद-बिन्दु चमक रहें हैं। सारा बदन पसीना-पसीना हो रहा है।

लगता है, वह बहुत देर से लक्ष्य साध रहा है। पहाड़ी पर उस गोल-चिह्न के इर्द-गिर्द अंटके-लटके कई भाले इसके प्रमाण हैं।

हाथ के भाले को वह फेंकता है। खट-सा शब्द होता है। फिर बगल में पहाड़ी से उठँगाये दो भालों को क्रमशः फेंकता है। तीसरा भाला लक्ष्य-बध कर लेता है। वह अट्टहास कर उठता है!

उसी समय पहाड़ी की दूसरी ओर से शब्द सुनाई पड़ता है—"धन्य बेटे धन्य....."

इस शब्द के साथ एक वृद्ध पुरुष सामने आता दिखाई पड़ता है।

काला है उसका वर्ण। लम्बी है उसकी शिखा। आँखें लाल-लाल—जो उसके काले चेहरे पर दो जलते कोयले के अंगारों के समान दीखती हैं!

कटि में एक लटपटा वस्त्र और कंधे पर एक धूसर उत्तरीय। मोटी उजली जनेऊ काले शरीर पर स्पष्ट दीख रही है।

यह वृद्ध है चाणक्य और वह युवक है चन्द्रगुप्त। यह घटना तब की है, जब यवन-अधिपति संसार-विजेता सिकन्दर—अलक्षेन्द्र—भारत के एक भाग पर विजय प्राप्त कर लौट चुका है।

अनुश्रुति है, जब सिकन्दर—अलक्षेन्द्र—भारत आया था, उसका युद्ध-कौशल देखने को चन्द्रगुप्त उसके शिविर में जाया करता था और एक बार वह वहाँ गिरफ्तार भी किया जा चुका था।

भाला यवनों का सबसे प्रमुख अस्त्र था। घोड़ों पर चढ़कर, उन्हें दौड़ाते हुए, शत्रुओं पर जब वे क्षिप्र वेग से चढ़ दौड़ते, तो उनके भालों के प्रहार को शत्रु सम्हाल नहीं पाते।

चन्द्रगुप्त उन्हीं के इस अस्त्र का कुछ दिनों से अभ्यास कर रहा है। चाणक्य को सामने देख चन्द्रगुप्त सिर नवाता है, चाणक्य धीरे धीरे उसके निकट आता है और प्रसन्न मुद्रा में कहता है—

चाणक्य—धन्य बेटे धन्य! यवनों के इस अस्त्र पर भी तुमने निपुणता प्राप्त ही कर ली!

चन्द्रगुप्त—यवनों के नहीं, विजेताओं के अस्त्र पर कहिये गुरु-देव! अह, वे किस तरह झंझा के वेग से आये, जीर्णशीर्ण वृक्षों की तरह हमें धराशायी किया और फिर किस प्रकार हमें रौंदते, कुचलते झंझा की गति से ही वापस गये!

चाणक्य—तुम उन्हें भूल नहीं सके, बेटे!

चन्द्रगुप्त—न भूल सका और न भूल सकूँगा गुरुदेव! अब भी उनके मांसल पुट्ठे, उनके पैने भाले, उनका क्षिप्र वेग और उनके भीषण जयनाद मस्तिष्क में सांय-सांय मचाये रहते हैं। शक्ति, साहस और गति के अवतार से दीखते थे वे। और, सबसे बढ़कर उनका

वह नेता—अलक्षेन्द्र! गुरुदेव, उनकी आँखों में वह क्या था? जो उसके सामने गया, क्या बिना झुके रह सकता था?

चाणक्य—किन्तु, एक ऐसा भी था जो झुक नहीं सका!

चन्द्रगुप्त—आप राजा पुरु की बात कहते हैं?

चाणक्य—नहीं, एक ऐसे पुरुष की जो अपने को बार-बार भूल जाया करता है। जो दूसरों के पुट्ठे देखता है, किन्तु जो न अपनी विशाल भुजाओं को देखता है, न प्रशस्त वक्षस्थल को, जिन्हें देख कर अलक्षेन्द्र भी मोहित हो गया था।

(चन्द्रगुप्त समझ लेता है उसी की ओर लक्ष्य किया गया है, अतः व्यंग्य में बोलता है—)

चन्द्रगुप्त—कदाचित इसलिए उसे बंदी बना कर वह अपने देश ले जाना चाहता था—यह दिखाने को कि देखो, एक देश ऐसा भी है, जहां के लोग ऐसे हृष्ट-पुष्ट होते हुए भी पराजय स्वीकार करते हुए नहीं लजाते।

चाणक्य—किन्तु, क्या वह उसे बंदी रख सका?

चन्द्रगुप्त—एक व्यक्ति बंदीघर से निकल आया तो क्या हुआ गुरुदेव! सारे देश के हाथों में तो वह हथकड़ियाँ डाल ही गया है।

चाणक्य—तुम्हें अपमान बोध हो रहा है, चन्द्र!

चन्द्रगुप्त—जो अनुभव करता हूँ, वह केवल अपमान ही नहीं है गुरुदेव!

चाणक्य—आह! यदि सारे देश के युवक भी तुम्हारी ही तरह सोच पाते!

चन्द्रगुप्त—जो नहीं सोच सकते, उन्हें सोचने को बाध्य करना पड़ेगा गुरुदेव। मुझ में यह भावना कहाँ से आई? किसी ने दी ही तो है!

चाणक्य—मुझ पर यह यश मत थोपो, चन्द्र! मुझे उस दिन का स्मरण है, जब एक दीन ब्राह्मण अपने सपनों में पागल बना आर्यावर्त के कोने-कोने में घूम रहा था—गाँवों में ढूँढ़ता था, नगरों में ढूँढ़ता था, पगडंडियों पर ढूँढ़ता था, राजपथों पर ढूँढ़ता था—ढूँढ़ता था एक ऐसा नायक—लोकनायक—जो उसके सपनों को सत्य का आधार दे सके, उन्हें रूप दे सके, उनमें प्राण-प्रतिष्ठा कर सके! कि, अचानक उसे एक दिन एक बच्चा दिखाई पड़ा। हाँ, वह बच्चा ही था! वह एक बच्चा, अनेक बच्चों के बीच। अनेक चरवाहे बच्चों के बीच एक ऊँचे टीले पर खड़ा वह उन्हें आदेश

दे रहा था—देखो, वहाँ वह शत्रु का दुर्ग है, हमें उसपर चढ़ाई करनी है, उसपर अधिकार करना है! तुमलोग चार टुकड़ियों में बँटो—

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, गुरुदेव! वे तो बचपने की बातें थीं। उनकी याद दिला कर...

चाणक्य—हाँ, वे बचपने की बातें थीं! किन्तु बेटे, चन्द्र, बचपने की उन बातों में ही उस स्वप्नदर्शी ब्राह्मण ने जैसे उसी दिन अपने सपनों के लिए सत्य का आधार पा लिया। उसने देखा, उसका नायक, उसका भावी विजेता. उसके सामने खड़ा है। वह बड़ी देर तक एकटक उसे निहारता रहा—उसकी आँखें देखीं, जिनसे निर्भीकता झाँक रही थी; उसकी भुजायें देखीं, जिनसे वीरता उबली पड़ती थी; उसकी छाती देखी, जिसमें धड़कन की जगह साहस स्फुरित हो रहा था। वह ब्राह्मण भाव-विभोर हुआ! (भाव-विभोर होकर आँखें मूँद लेता है)

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव! गुरुदेव!

चाणक्य—हाँ, उस दिन भी उस ब्राह्मण ने इसी तरह भाव-विह्वल होकर आँखें मूँद ली थीं, और वह बच्चा आदेश दिये जा रहा था—एक टुकड़ी सामने से चढ़ाई करेगी; जब युद्ध घमासान हो जाय, दो टुकड़ियाँ एक ही साथ दायें–बायें से चढ़ दौड़ेंगी और चौथी टुकड़ी....... ! अब भी क्या वह ब्राह्मण वहाँ खड़ा रह सकता था? वह आगे बढ़ा, उन बच्चे के समक्ष उपस्थित हुआ—राजन्, एक दीन ब्राह्मण आपकी सेवा में उपस्थित है!

चन्द्रगुप्त—छोड़िये उन भूली-बिसरी बातों को गुरुदेव!

चाणक्य—नहीं, मुझे कहने दो बेटे! आज आवश्यकता है कि फिर उन बातों का स्मरण किया जाय। उस ब्राह्मण ने कहा—राजन्, एक दीन ब्राह्मण आपकी सेवा मे उपस्थित है। बच्चे ने कहा—ब्राह्मण हो, तो तुम्हें गायें चाहिये न? सामने गायें चर रही हैं, उनमें से जितनी चाहो, हँकालो! ब्राह्मण मुस्कुराया—यदि कोई मना करे, तो? बच्चा तमक उठा—चन्द्रगुप्त के राज्य में कौन ऐसा है, जो उसकी आज्ञा की ओर उँगली उठा सके!

(चन्द्रगुप्त लज्जावश दोनों हाथों से मुँह ढँक लेता है। चाणक्य उसके हाथ हटाता हुआ)

चाणक्य—चन्द्र! वही बच्चा तुम हो न? और, वही ब्राह्मण न मैं हूँ। कितने दिन बीत गये, सिंधु का कितना जल समुद्र में जा गिरा। किन्तु आह! बच्चा अब भी मिट्टी के उस टीले पर ही है..

चन्द्रगुप्त—और, उस ब्राह्मण की शिखा आज तक नहीं बँध सकी, गुरुदेव ! (उसाँसें लेता है)

चाणक्य—शिखा ! शिखा ! (अपनी लम्बी शिखा पर हाथ फेरता हुआ) यह अब शिखा ही नहीं है, चन्द्र ! अब यह प्रतिहिंसा की ज्योतिशिखा है ! देख नहीं रहे हो, यह बढ़ती जा रही है, बढ़ती जा रही है। अब यह इतनी बढ़ चुकी है कि यदि इसे शत्रु-शिविर में नहीं छुलाई गई, तो यह मुझे ही भस्मसात् कर देगी। बेटे, अब मगध चलो। अब तुम्हारी शिक्षा पूरी हो चुकी है और जो कमी थी, उसे यवनों की इस विजय के अनुभव ने पूरा कर दिया है।

चन्द्रगुप्त—मगध चलें ! और, यहाँ यवनों का साम्राज्य बना रहे ? गुरुदेव, मैं तो पहले इनका ही उच्छेद करना चाहता हूँ। अपने देश के शीर्ष भाग पर लगा यह काला धब्बा मुझे असह्य लगता है गुरुदेव ! और इनकी विजय का रहस्य भी मुझे मालूम हो चुका है। मैं इन्हीं के अस्त्र से इनको पराजित करूँगा। पहले हम बाहरी शत्रु को हटायें, फिर भीतरी शत्रु को देख लेंगे !

चाणक्य—नहीं बेटे, नहीं। जब तक भीतर शत्रु हैं, तब तक तुम बाहर के शत्रु को हरा नहीं सकते, हटा नहीं सकते। उस दिन उस झोपड़ी में वह बुढ़िया जो कह रही थी, उस बात की यथार्थता अब समझ में आ रही है।

चन्द्रगुप्त—किस बुढ़िया की बात, गुरुदेव ?

चाणक्य—हो सकता है, तुमने ध्यान नहीं दिया हो। हमलोग बहुत रात बीते लौट रहे थे। एक झोपड़ी के निकट पहुँचे, तो सुना, एक बुढ़िया कह रही थी—बेटा, तुम भी क्या चाणक्य-चन्द्रगुप्त हो कि रोटी के चारो ओर तोड़-तोड़ कर खा रहे हो, किन्तु बीच में हाथ नहीं डालते ! बीच में हाथ नहीं डालते ! चलो चन्द्र, बीच में हाथ डालो ! हमारे दूतों ने जो समाचार दिया है, पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करने का सुनहला अवसर आ गया है।

चन्द्रगुप्त—आह, पाटलिपुत्र ! वह किन राक्षसों के पंजे में फँसा है ! (उसके चेहरे पर विषाद की रेखायें खिंच आती हैं)

चाणक्य—पाटलिपुत्र का स्मरण ही तुम्हें अधीर बना डालता है चन्द्र!

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, जिसकी गलियों में बचपन बीता, जिसकी धूल में घुटनों के बल चल कर खड़ा होना सीखा, जिसकी छाया में आतप और शीत से समान रूप से रक्षा पाई, जिसके साथ कितनी

ही बाल-सुलभ कल्पनायें बँधी थीं, आज भी बँधी हैं; यदि उस नगरी की याद विह्वल बना दे, तो आश्चर्य की क्या बात है गुरुदेव?

चाणक्य—तो उसका उद्धार करो बेटे! और, सचमुच उसके लिए स्वर्ण-अवसर आ गया है। नन्द-वंश के अत्याचारों से प्रजा में हाहाकार मचा है। न किसी की सम्पत्ति सुरक्षित है, न किसी की प्रतिष्ठा। बहूबेटियों का सतीत्व तक सुरक्षित नहीं! राजभवन केलि-भवन बना है। जहाँ वीरों और विद्वानों का जमावड़ा था, वहाँ भाँटों और भाँड़ों का अखाड़ा है। बस, एक धक्के की आवश्यकता है चन्द्र, नन्दकुल का राज्य कटे वृक्ष की तरह आप ही अरग कर गिर पड़ेगा।

(इसी समय नेपथ्य से स्त्री-कंठ में पुकार सुनाई पड़ती है)

नेपथ्य से—चन्द्र, ओ चन्द्र!

चाणक्य—अरे, वह तुम्हारी माताजी आ गईं। मैं चलता हूँ; देखना, अभी इसकी चर्चा उनसे मत करना! हम फिर मिल कर एक पूरी योजना बना लेंगे। विश्वास रखो, हम अवश्य विजयी बनेंगे!

(चाणक्य जाता है)

चन्द्रगुप्त—हाँ, माँ! क्या है माँ! (कह कर टहलने लगता है और आप ही आप कहता है) कितना सन्देह! किसी पर विश्वास नहीं! माँ पर भी नहीं! उँह!

(माँ आती है: उसके मुख पर क्रोध की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है)

माँ—गुरुदेव क्या तेरे पास आये थे? अभी जाते हुए दीख पड़े, यद्यपि उन्होंने अपने को मुझसे छिपाना चाहा था।

चन्द्रगुप्त—हाँ, वहीं थे, यही आये थे माँ!

माँ—क्यों आये थे? फिर कोई नया मंत्र देने क्या? बेटे, मैं इस ब्राह्मण को देखते ही काँप उठती हूँ। यदि यह जानती, तो उस दिन इसके हाथ तुझे नहीं सौंपती। यह जादूगर है, जादूगर!

चन्द्रगुप्त—जादूगर! हाँ, लोग कहते हैं, सुनता हूँ, वह जादूगर है! किन्तु वह किसी के लिए जादूगर हो सकते हैं माँ, जो स्वयं किसी बड़े जादू से अभिभूत हो, उसपर उनका जादू क्या खाकर चलेगा?

माँ—तू यह क्या बोल रहा है, रे!

चन्द्रगुप्त—हाँ, हाँ, माँ! आज मैं तुमसे पूछ कर रहूँगा कि वह कौन-सा जादू है जिससे मैं अभिभूत हूँ? तुम उस जादू के बारे में जानती हो माँ, और मुझसे छिपाती आई हो, छिपा रही हो।

माँ—जादू! मैं छिपा रही?

चन्द्रगुप्त—हाँ जादू, और मुझ से छिपा रही हो! यह जादू नहीं तो क्या है माँ, जो न मुझे सोने देता है न बैठने देता है। सोता हूँ, तो कानों में कोई कहता होता है—उठ, तुझे बहुत कुछ करना है। जब बैठा रहता हूँ, वह झटका-सा देकर खड़ा कर देता है——बढ़, तुझे बड़ी यात्रा पूरी करनी है। और, जब खड़ा होता हूँ, तो जैसे पैरों में वह पंख बाँध देता है! पैरों में पंख—माँ, तुम नहीं मानोगी, किंतु, प्रायः ही मैं अपने को आकाश में उड़ता हुआ पाता हूँ और उड़ने-उड़ते इतना ऊँचा चला जाता हूँ, जब पृथ्वी गेंद-सी लगती है और उसके जीव-जन्तु कीड़े-मकोड़े की तरह। इच्छा होती है, इन सारे तुच्छ जीवों को पैरों तले मसल दूँ और इस गेंद को ऐसी ठोकर लगाऊँ कि यह नभमंडल, खमंडल से परे जाकर गिरे—गिरे और चूर-चूर हो जाय। माँ, यह क्या है? क्या यह जादू नही है? (उसकी मुखमुद्रा अद्‌भुत हो जाती है, वह व्याकुल होकर टहलने लगता है)

माँ—बेटे, बेटे! यों नही बेटे, यो नहीं...... ....

चन्द्रगुप्त—यों नहीं बेटे, यों नहीं। किन्तु यों कब तक जीया जा सकता है, माँ! तुम समझती हो, क्या मेरी शिराओं में यह रक्त दौड़ रहा है। नहीं माँ, नही। (हाथ बढ़ाता है) इसमें रक्त नहीं है, नहीं है। यह ऊष्णता, यह उत्तेजना, यह प्रवाह, यह गति—क्या ये रक्त के हो सकते हैं? देखो, अच्छी तरह देखो माँ, या कहो, तो मैं चीर कर दिखला दूँ (इधर-उधर देखता, तरकस से एक तीर उतारता और उसे नस में घुमेड़ने की चेष्टा करता हुआ) देख ले, देख ले, यह रक्त नहीं है।

माँ—(व्याकुल होती हुई) चन्द्र, चन्द्र!—यह तू क्या कर रहा हो बेटा? (तीर उसके हाथ से खींच कर फेंक देती है) आह!

चन्द्रगुप्त—आह! यह कैसा इन्द्रजाल है!—लगता है, इससे लिपटा हुआ हूँ, घिरा हुआ हूँ। न इसे तोड़ पाता हूँ, न इससे निकल पाता हूँ! तुम मुझे इससे निकाल सकती थीं, माँ, किन्तु जब-जब पूछता हूँ, तुम.....

माँ—पूछने की कोई बात नहीं है, बेटे!

चन्द्रगुप्त—पूछने की कोई बात नहीं है? क्या गुरुदेव की तरह तुम भी समझती हो कि मैं अभी बच्चा ही हूँ, कुछ समझता नहीं? मैं क्या यह नहीं अनुभव कर पाता कि कोई कारण है, जिसने तुम्हारा मुँह बंद कर रखा है? यों तुम नहीं बोलती, किन्तु कभी-कभी जब सोती रहती हो, अचानक बड़बड़ा उठती हो, चौंक पड़ती हो, थर-

थर काँपने लगती हो; जैसे कोई अघट घटना घट गई हो, या घटने ही वाली हो! यों ही प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान कर जब तुम सूर्य भगवान की ओर मुँह किये खड़ी होती हो, उनका ध्यान करते-करते, तुम्हारे होंठ क्या केवल मंत्र ही बुदबुदाते हैं—वे अचानक फड़कने क्यों लगते हैं माँ?

माँ—बेटे, बेटे! ये सब कुछ नहीं है बेटे! ये बुढ़ापे के चिन्ह हैं। नींद ठीक से नहीं आती, इन्द्रियाँ दुर्बल हो रही हैं, उनपर अधिकार नहीं रख पाती!

चन्द्रगुप्त—आह रे इन्द्रजाल! लोग समझते हैं, यह ब्राह्मण मुझे नचा रहा है। ऊपर से देखने पर ऐसा लगता भी है, किन्तु भीतर कौन-सी शक्ति मुझे नचा रही है, मैं कैसे बताऊँ? तुम बता सकती थी माँ, किन्तु जब-जब चर्चा चलाई, तुम कुछ ऐसी विह्वल हो उठती हो.........

माँ—जानेगा बेटे, जानेगा। समय आयगा, सब जान जायगा तू। माँ की जिह्वा बंद भी रहे, एक दिन तेरी शिराओं का यह रक्त बोल उठेगा और जब वह बोलेगा, तू अपने पर गद्गद हो उठेगा। चन्द्र, घटनाओं का एक चक्र होता है जिसे पूरा करना ही पड़ता है। यही देख न, हम कहाँ थे, कहाँ आ गये हैं? लगता है, हम एक अंधकार में भटक रहे हैं! वह ब्राह्मण कहता है, यह अंधकार कटेगा—किन्तु, वह तो न जाने कब से कह रहा है? और, इसी भूलभुलैया में वह हमें कहाँ-से-कहाँ ले आया? अब तो मैं उससे डरने लगी हूँ, बेटे! (उदास हो उठती है)

चन्द्रगुप्त—डरने की बात नहीं है माँ। अब क्यों उस ब्राह्मण की ओर देखती हो; देखो, अपने इस चन्द्र की ओर—अंधकार कटेगा, कट कर रहेगा, माँ। मेरी माँ, मेरी पूजनीया माँ!

(सहसा माँ को अँकवार में भर लेता है। माँ उसके कंधे पर सर रख कर आँसू गिराने लगती है। इसी समय चन्द्रा पहुँचती है, माँ-बेटे को इस स्थिति में देख कर सहम जाती है। चन्द्रगुप्त की दृष्टि उसपर पड़ती है, वह अँकवार ढीला कर बोल उठता है)

चन्द्रगुप्त—अरे, चन्द्रा!

(चन्द्रा लपकती हुई आती है और माँ से लिपट जाती है)

चन्द्रा—माँ, माँ, यह क्या माँ!?

माँ—(सम्हलती हुई) कुछ नहीं बेटी, कुछ नहीं। देख न इस चन्द्र को, इस निर्जन में, यहाँ, इस धूप में.......

चन्द्रा—मैं किस-किस को देखूँ माँ? इन्हें देखूँ, तुम्हें देखूँ या अपने को देखूँ। सबको देखती हूँ, पहले कुछ समझती नहीं थी, दुर्भाग्यवश, वह सुखद अज्ञान भी दूर हो चुका है! अब देखती हूँ और समझती भी हूँ। क्षमा करो माँ, तुम सदा भूत से अभिभूत हो, यह भविष्य में लीन हैं, किन्तु, मेरा तो सिर्फ वर्तमान है—चंचल, क्षणिक, नश्वरमान, वर्तमान। मेरी रसोई ठंढी हो रही है और इधर भाले चल रहे हैं—(लटकते हुए भालों की ओर देखती है)

माँ—हाँ, रे, बहुत देर हो गई! चन्द्र, तू जा, भोजन कर। मैं नदी से स्नान करके आ रही हूँ, आज मेरा व्रत है न?

चन्द्रगुप्त—माँ, तुम इससे व्रत क्यों नहीं कराती माँ?

माँ—सुनती है चन्द्रे! सदा तुझी पर यह धौंस जमाता रहता है। तू इसपर शासन क्यों नही रखती है प्यारी बेटी?

चन्द्रा—इनपर और शासन? माँ, गरुड़ को कभी पालतू बनाया जा सका!

माँ—गरुड़! बहुत ही सही कहा मेरी बेटी ने। आ, आ, ओ मेरे गरुड़, मैं तेरे डैने चूमूँ, तेरी चोंच चूमूँ। (उसके ललाट और भुजाओं पर चुम्बन देती है) जानें कब मेरा गरुड़ घोंसला बनाता है?

चन्द्रा—(मुँह बनाती हुई) गरुड़ घोंसला नहीं बनाता, माँ!

चन्द्र—वह क्यों घोंसला बनाये? क्या घोंसलों की संसार में कमी है?

चन्द्रा—हाँ, किसी दीन पंछी के झोंपड़े पर अगत्या अधिकार जमाता है!

चन्द्रगुप्त—दीन नही, अशक्त कहो। शक्तिहीन के लिए यह पृथ्वी नहीं है, चन्द्रे!

चन्द्रा—देख रही हूँ, उसीसे शक्तिशाली रन-बन की धूल फाँकते फिर रहे हैं!

चन्द्रगुप्त—रण, वन! चन्द्रे, शक्तिशाली के लिए, बलवान के लिए, वीर के लिए दो ही प्रिय स्थान होते हैं, रण या वन। रण—जहाँ भुजायें फड़कती हैं, तलवारें चमकती हैं। जहाँ पौरुष रक्त की होली खेलता है, संहार की विजया मनाता है, बलिदान की दीपावली सजाता है! भालों की उछाल, ढालों की सम्हाल। वीरों का जयनाद—कायरों की आर्तपुकार! रण ही बताता है, दो पैर और दो हाथ पाने से ही कोई मानव मानव नहीं बन जाता। और बन!—जहाँ हिंस्र पशुओं से पंजा लड़ाया जाता है, मणिधर नागों के

फणों से खिलवाड़ किया जाता है; जहाँ पर्वत के उत्तुंग शृंगों को पैरों से रौंदा जाता है, प्रकृति के उत्संग वक्षस्थल से जीवन-रस चूमा जाता है! हाँ, हाँ—रण या वन ? (आवेश में उसकी भुजायें फड़कने लगती हैं)

चन्द्रा—देखो, देखो माँ, तुम्हारा गरुड़ पंख फड़फड़ाने लगा; अरे यह कहीं उड़ न जाय! (मुस्कुराती है)

माँ—देख, यों आपस में नहीं लड़ा जाता बेटी। आई थी कहने, रसोई ठंडी हो रही है और लगी लड़ने। जा, इसे ले जा, मै आई, अभी आई।

(वह जाती है : चन्द्रगुप्त कुछ देर तक चन्द्रा की ओर आँखें गुरेड़ता है, चन्द्रा भी उसकी आँखों में आँखें डाल निस्पन्द खड़ी रहती है : फिर वह हँस देती है : चन्द्रगुप्त झुँझला कर अस्त्र-शस्त्र सम्हालने लगता है)

चन्द्रा—लाइये, मैं भी आपकी सहायता कर दूँ। (वह भी अस्त्र-शस्त्र सम्हालने लगती है)

चन्द्र—चन्द्रे, अलग रहो, मत छूना इन अस्त्रों को।

चन्द्रा—क्यों? क्या मेरे छूने से तुम्हारे अस्त्र अपवित्र हो जायँगे? मैं छूऊँगी, सम्हालूँगी। एक लक्ष्य का बेध नहीं कर लिया कि अपने को अलक्षेन्द्र ही मान लिया है!

चन्द्र—ऐसा लगता है, तूने अलक्षेन्द्र को देखा ही था!

चन्द्रा—क्या उसे देखने के लिए बंदी बनना ही आवश्यक था? मुझे तो वह ढोंगी और कायर जँचा!

चन्द्रगुप्त—ढोंगी! कायर!

चन्द्रा—जो मूँछें मुड़ा कर अपने को सदा किशोर सिद्ध करना चाहे, सर पर मेढ़े के सींग बाँध कर अपनी युद्ध-प्रियता की घोषणा करता फिरे— वह ढोंगी नहीं, कायर नहीं, तो क्या हो सकता है?

चन्द्रगुप्त—ओहो! इतनी दूर तक जाती हो!

चन्द्रा—ये पुरुष होते हैं, जो ऊपर-ऊपर तैरते फिरते हैं! (हँसती है)

चन्द्रगुप्त—क्या बोली? माताजी ने तुझे सर-चढ़ी बना रखा है।

चन्द्रा—सर-चढ़ी नहीं, सर-मढ़ी। मैं उनकी दुलारी बेटी हूँ। गुरुदेव ने जो आपके लिए किया है, माँ ने मेरे लिए किया है। आप समझते हैं, आप सीख रहे हैं, मैं कुछ नहीं सीख रही। हाँ, गुरुदेव ने आपके लिए ढोल पीटे हैं, माँ ने मुझे गुप्तरूप से सिखलाया है। (लक्ष्य से लटके हुए भाले की ओर दिखलाती हुई) कहो, ऐसा लक्ष्य मैं भी वेध दूँ! (वह दौड़ कर एक भाला उठाती है)

चन्द्र—क्या कहा ? तू लक्ष्य-वेध करेगी ?

चन्द्रा—करूँगी नहीं, करती हूँ। जिस दिन से तुमने यह अभ्यास प्रारम्भ किया, माताजी ने मुझे भी इसका अभ्यास प्रारम्भ कराया है। कहती है, बेटी, चन्द्र के आधे भाग का तू अधिकारिणी है, तू वह सब जान ले, जो चन्द्र जानता है। निर्बल को भाग नहीं मिला करता !

चन्द्रगुप्त—ओहो, तो आप मेरे आधे भाग की अधिकारिणी हैं !

चन्द्रा—जी ! हाँ ! (मुस्कुराती है)

(श्वेतकेतु का प्रवेश)

श्वेतकेतु—अरे, आप दोनों ने कैसा आधा-आधा बाँट लिया; जैसे मेरे भाग्य में कोई भाग ही नही है !

चन्द्रगुप्त—श्वेतकेतु ! अच्छे आये तुम !

श्वेतकेतु—अच्छे आये और, बुरे भी आये ! अच्छे आये, क्योंकि आप दोनों की जोड़ी देख कर प्रसन्नता हुई और बुरे आये, क्योंकि अस्त्र-शस्त्र देखते ही मुझे ज्वर लग जाता है !

चन्द्रगुप्त—देखो, देखो चन्द्रे! कविजी को पकड़ो, बेचारे ज्वारावेग से कहीं गिर न पड़ें ! (निकट जाकर) अरे, तुम्हारा शरीर सचमुच काँप रहा है, श्वेत !

श्वेतकेतु—तुम व्यंग्य-विद्रूप कर लो, किन्तु बार-बार कहता आया हूँ, फिर कहता हूँ, चन्द्र, कि संसार में केवल युद्ध, मारकाट, रक्तपात, विजय, आदि ही नहीं है। यहाँ ऐसे पदार्थ भी हैं, जो दर्शनीय हैं, स्पर्शनीय हैं, उपभोगनीय हैं ! वह सामने पहाड़ है न ? तनिक ध्यान से देखो, मेरे मित्र ! क्या उसमें सिर्फ पत्थर ही पत्थर है ? नहीं ! ऊपर देखो, उसके शिखर पर वह सुहावना बादल उमड़ रहा है, नीचे देखो, वहाँ उसके पद-तल पर झरना झरझर झर रहा है। ऊपर बादल, नीचे जल और पत्थर पर भी कैसी हरियाली उग आई है। पत्तियाँ सर हिला रही हैं, फूल मुस्कुरा रहे हैं ! जीवन यह है ! ! किन्तु, तुम क्या समझो ? तुम तो दो चट्टानों के बीच में पड़े हो।

चन्द्रा—दो चट्टानों ?

श्वेतकेतु—हाँ, एक ओर वह ब्राह्मण और दूसरी ओर..... (रुक जाता है)

चन्द्रा—और दूसरी ओर ?

श्वेतकेतु—घबराइये मत, आप नहीं, माताजी !

चन्द्रा—(आश्चर्य से) माताजी ?

श्वेतकेतु—हाँ, माताजी ! आप को आश्चर्य हो रहा है ? देवीजी, मिट्टी और पत्थर एक ही तत्व से हैं, किन्तु किसी प्रबल भीषण दबाव से सिमट, सिकुड़ कर, मिट्टी का ही तत्व पत्थर बन जाता है। लगता है, माताजी के जीवन में भी कोई, नहीं नहीं, कितने दबाव आयें हैं, जिन्होंने उन्हें पत्थर ही नहीं, चट्टान बना दिया है। नहीं तो आप ही बताइये, कोई समझबूझ वाली स्त्री, जैसी कि अपनी माताजी हैं, अपने एकलौते बेटे को ऐसे सनकी ब्राह्मण के हाथ सौंप सकती है ?

चन्द्रा—(क्रोध से) गुरुदेव को आप जो कुछ कह लीजिये, किन्तु माताजी पर.............

श्वेतकेतु—चन्द्रे, तुम पगली मत बनो। मैं माताजी को दोष कहाँ देता हूँ, किन्तु, तुम्हें देखना चाहिये, माताजी जो बाहर से दीखती हैं, वह वह नहीं हैं। उनमें करुणा की कमी नहीं। बल्कि उन्हें देख कर तो मुझे उस चट्टान की याद आती है, जिसपर झरना अनवरत झरा करता हो। कठोरता और आर्द्रता का अद्भुत सम्मिश्रण ! इसके विपरीत वह ब्राह्मण मुझे वैसी चट्टान लगता है जिसके भीतर अब भी ज्वालामुखी शान्त नहीं हुई है, वह न-जाने फिर कब आग उगलने लगे। किन्तु चट्टान फिर भी चट्टान है, चाहे उसके भीतर ज्वाला-मुखी धधक रही हो, या उसके ऊपर झरना झर रहा हो !

चन्द्रगुप्त—अरे, छोड़ो इन चट्टानों की बात; देखो, यह चन्द्रा मुझसे झगड़ पड़ी है, इसे मना दो !

श्वेतकेतु—तुम चन्द्रा को धोखे में रख लो, चन्द्र ! मुझे धोखा नहीं दे सकते। यह भी समझती है, तुम इसे प्यार कर रहे हो। किन्तु, तुम्हारे ऐसे लोगों के निकट प्यार का क्या मूल्य है—यदि यह बेचारी जान पाती !

चन्द्रा—कविजी, मैं न प्यार जानती हूँ, न चाहती हूँ। माताजी का स्नेह ही मेरे लिए बहुत है ।

श्वेतकेतु—इस विश्वास में मत रह चन्द्रे कि माताजी तुझे वह दिला सकेंगी, जो वह चाहती हैं। नहीं, नहीं। वह ब्राह्मण कब क्या रचना कर देगा, कोई कह नही सकता ?

चन्द्रगुप्त—क्यों, क्या बात है कि गुरुदेव पर आज बहुत बिगड़ पड़े हो, श्वेत।

श्वेतकेतु—तुम गुरुदेव कह लो, मेरे लिए तो वह निछछ ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण भी कैसा, काला ? वह जाति से ब्राह्मण हो सकते हैं, वर्ण से नहीं । और यह भी एक अद्भुत बात हो रही है

कि लोग जिस वर्ण को खो रहे हैं, उसीसे अधिकाधिक चिपटते दिखाई पड़ते हैं! (व्यंग्यपूर्वक मुस्कराता है)

चन्द्रगुप्त—(आवेश में) श्वेत, अब तुम सीमा का उल्लंघन कर रहे हो! कह दिया, गुरुदेव की निन्दा मेरे सामने मत किया करो! समझे?

चन्द्रा—अरे, तो आज आप दोनो लड़ेंगे भी। लेकिन मैं जो लड़ने दूँ। श्वेतजी, मेरी रसोई ठंढी हो रही है, चलिये! (चन्द्रगुप्त से) आप भी इस खटराग को जल्दी सम्हालिये, चलिये।

चन्द्र—चलो, चन्द्रे, परोसो, मैं अभी आया।

चन्द्रा—मैं आपलोगों को साथ लिये बिना नहीं जाती। कहीं फिर आपको लक्ष्य-वेध की धुन समाये और कविजी ही को कोई कविता सूझ पड़े!

चन्द्र—(अस्त्रों को सम्हालते हुए) श्वेत, मैं तुम्हें जानता हूँ—भगवान ने तुम्हारी रचना फूलों से की है। तुम्हारे भीतर-बाहर सब जगह फूल-ही-फूल है। लेकिन, ऐसा सौभाग्य कितनों को मिल पाता है मेरे कवि? विधाता के भडार में भी इतने फूल कहाँ है कि तुम्हारे ऐसे अधिक आदमी रचे जा सकें। यहाँ वहाँ सब जगह तो काँटे-ही-काँटे हैं!

श्वेतकेतु—तभी तो हम सब काँटों के चक्कर में फँसे हैं। कहाँ से उस दिन वे कुश-कांटे उस काले खुरदरे तलवे में गड़ गये!

चन्द्रगुप्त—तुम फिर गुरुदेव की बात ले आये!

श्वेत—लाऊँगा और बार-बार लाऊँगा, चन्द्र। मैं ब्राह्मण हूँ। देखो, यह शुद्ध रक्त, देखो, यह विशुद्ध वर्ण। तुमने कहा, मैं फूलों से बनाया गया हूँ; मैं कहता हूँ, ब्राह्मण वर्ण को ही फूलों से बना होना चाहिये। कोमलता, दया, क्षमा ये हमारे आभूषण है। काँटे अपना स्वभाव न छोड़ें, तो क्या हम काँटे बन जायँगे? क्या बन भी सकते हैं? पैर में काँटे गड़े, तो गड़ा करें? हम काँटे बन कर उनकी जड़ें खोदें और उनमें मट्ठा डालें! कहता हूँ चन्द्र, यह ब्राह्मणत्व नहीं है, नहीं है।

चन्द्र—गुरुदेव असाधारण पुरुष हैं, उन्हें साधारण मापदंड से मत नापो, श्वेत।

श्वेतकेतु—असाधारण पुरुष! (मुस्कुराता हुआ) समझता हूँ चन्द्र, समझता हूँ। और दो असाधारण पुरुष संयोग से एक केन्द्रविन्दु पर आ मिले हैं! कुछ होकर रहेगा, कुछ घट कर रहेगा। और यह भी कोई

कम सौभाग्य की बात नहीं कि जब इतिहास रचा जा रहा हो, तो उसके निकट से देखने का किसी को सुअवसर मिल जाय। किन्तु, सच कहता हूँ, मुझे चन्द्रा के भाग्य पर बार-बार तरस आता है। तुम पाओगे, गुरुदेव पायेंगे, माताजी पायेंगी—सब अपने-अपने मनोरथ पूरे करेंगे, किन्तु यह बेचारी!

चन्द्रा—(झपट कर) मेरे लिए मत दुबले होइये कविजी। चलिये, (चन्द्रगुप्त की ओर) चलते हो चन्द्र! चलो!

(चन्द्रा झपट कर आगे बढ़ती है, दोनों उसका अनुगमन करते हैं)

दूसरा अंक

स्थान : पाटलिपुत्र का राजप्रासाद

समय : मध्याह्न

राजप्रासाद के एक कक्ष में विजेता चन्द्रगुप्त का प्रसाधन उसकी माँ और उसकी प्रेयमी चन्द्रा कर रही है।

अत्याचारी नंद पराजित हो चुका है। अब पाटलिपुत्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार है। आज संध्या को उसका विधिवत् राज्याभिषेक होगा।

राजप्रासाद का यह कक्ष सभी राजकीय उपकरणों से सुसज्जित है।

एक रत्न-खचित मंच पर चन्द्रगुप्त बैठा है। उसकी कटि में रेशमी पीली धोती है, जिसकी लाल किनारी पर सोने के काम हैं। कंधे पर रेशमी लाल उत्तरीय है, जो सोने-पन्नों के कामों से जगमग हो रहा है।

कलाइयों पर, भुजाओं पर रत्नजटित आभूषण हैं। गले में रत्नजटित निलड़ी चमचमा रही है और छाती पर मोतियों और रत्नों की कई मालायें झूल रही हैं।

उसके मुखमंडल को बिन्दियों से चित्रित कर दिया गया है।

माँ उसके सर पर फूल सजा रही है और चन्द्रा उसके पैर में महावर लगा रही है।

माँ आनन्द-पुलकित है; अन्ततः उसके मुख से वाणी फूट पड़ती है—

माँ—अहा! यह दिन भी देखने को मिला। (उसकी आँखों में आनन्द के आँसू उमड़ आते हैं)

चन्द्रगुप्त—यह सब तुम्हारा आशीर्वाद है, माँ। कहाँ मैं पाटलिपुत्र की धूल में पड़ा था, कहाँ देश के कोने-कोने में भटकता-फिरता था, और कहाँ आज पाटलिपुत्र का यह राजभवन......

माँ—और, कुछ देर में उसका स्वर्ण-सिंहासन भी तुझसे सुशोभित होगा बेटे। बेटे, बेटे, आज मैं फूली नहीं समा रही हूँ (आनन्दाश्रु को आँचल से पोंछती है)

चन्द्रगुप्त—फिर कहता हूँ माँ, यह सब तुम्हारा आशीर्वाद है।

चन्द्रा—तुम्हारा, तुम्हारा, तुम्हारा! जैसे मेरा इसमें कुछ है ही नहीं।

माँ—है क्यों नही बेटी ? यह तेरा सौभाग्य ही तो है। तू भी तो पाटलिपुत्र की धूल पर ही मुझे मिली थी। और जिस दिन तुझे वहाँ से उठा कर अपने घर लाई, उस दिन से मेरी कुटिया आनन्द-निकेतन बन गई। और, अब तो तेरे लिए यह राजभवन....

चन्द्रगुप्त—माँ, तुमने चन्द्रा का सर फिरा दिया है!

चन्द्रा—अरे, इस सर पर मुकुट तो पड़ने दो, तब पाओगे, किसका सर अधिक फिरा हुआ है?

माँ—चन्द्रे! आज झगड़ने का अवसर नहीं है बेटी! तू चन्द्र का प्रसाधन तो पूरा कर दे। पाटलिपुत्र के सिंहासन के अनुरूप ही तो प्रसाधन भी चाहिये न? गुरुदेव आते ही होंगे। कहेंगे—मैंने उतना कर लिया, तुमलोगों से इतना भी पार नहीं लगा।

चन्द्रा—गुरुदेव ने क्या कर लिया है, माँ! तिगड़म, तिगड़म, तिगड़म! क्या यही सबकुछ है?

चन्द्रगुप्त—उहूँ, सबकुछ तो है बात, बात, बात! तुम्हारी जीभ कतरनी नहीं बनी होती, तो कुछ हो पाता भला?

चन्द्रा—आप भी यह न समझिये कि आपकी भुजाओं के बल ने ही सारा किया-कराया है। बड़े-बड़े बलवानों और युद्धविशारदों की वीरता और चतुरता घास चरती रह जाती है! जिसके पुण्य-प्रताप से यह सब हुआ है, वह बेचारी तो उसे जीभ पर भी कभी नहीं लाती। (माँ की ओर देखती है)

माँ—लेकिन उसे तू जो चुप रहने दे! बेटी, इस पुण्य-बेला में उन पुरानी बातों की याद मत दिला। जो कुछ हुआ, सब गुरुदेव की कृपा से हुआ; वह ब्राह्मण हैं......

(श्वेतकेतु का प्रवेश)

श्वेतकेतु—माँ, कौन ब्राह्मण है? ब्राह्मण तो तुम्हारे सामने खड़ा है। वर्ण देखले, रूप देख ले, आचरण देख ले। ब्राह्मण कहीं काला होता है? और भीतर तो और भी कालाघुप्प!

(चन्द्रगुप्त की भवों पर तेवर चढ़ जाते हैं)

चन्द्रा—बहुत सही कह रहे हो श्वेत! भीतर तो और भी काला-घुप्प! (चन्द्रगुप्त की ओर देख कर मुँह बनाती है)

चन्द्रगुप्त—लेकिन चन्द्रे! तू इस तरह मत बोल। अभी तेरी चोटी उसी काले ब्राह्मण के हाथ में है।

चन्द्रा—हट, वह अपनी चुटिया की कुशल मनावे!

श्वेतकेतु—उसकी वह चुटिया नहीं है, नागिन है नागिन! नन्द-वंश को वह सूंघ गई और न जाने किस-किस को वह सूंघ कर रहेगी, वह काली नागिन! बाप रे!

चन्द्रगुप्त—श्वेत, तुम फिर सीमा का उल्लंघन कर रहे हो!

माँ—ओहो! तुम सब फिर उलझ गये। इस मंगल-बेला में यह सब नहीं कहते-सुनते। चन्द्रे! बातों में मत फँस, तू शीघ्र प्रसा-धन पूरा कर दे, बेटी!

श्वेतकेतु—यह भी क्यों नहीं कह देती माँ कि चन्द्र का प्रसाधन पूरा कर तू भी शीघ्र प्रसाधन कर ले। चन्द्र के आधे भाग की अधि-कारिणी न इसे बना रखा है तुमने?

चन्द्रा—माँ ने बना रखा है, तो मैं हूँ भी! आप समझते क्या हैं?

श्वेतकेतु—तो आज आधे सिंहासन को भी तू सुशोभित करेगी! क्यों?

माँ—श्वेत, चन्द्रा भी उस सिंहासन पर बैठेगी. बैठेगी। जो भग-वान चन्द्र को उस सिंहासन पर बिठलाने जा रहे हैं, वह एक दिन चन्द्रा को भी उसपर बिठला कर रहेंगे, बेटे।

श्वेतकेतु—तो मैं कहूँ, शुभस्य शीघ्रम् क्यों नहीं किया जाता है माताजी?

माँ—अरे, लग्न तो आने दो। मैं अपनी बेटी का व्याह रचाऊँगी, अग्निदेव को साक्षी रख कर चन्द्र की अर्द्धांगिनी बनाऊँगी; फिर आधा सिंहासन तो इसे आप हीं मिल जायगा। क्यों बेटी? (चन्द्रा की ठुड्डी पकड़ कर स्नेह से दुलराती है)

श्वेतकेतु—माताजी, लगता है, आपको भी उस ब्राह्मण ने चकमे में डाल दिया है। मैं कहता हूँ, वह ब्राह्मण जब जिसको चाहेगा, सिंहासन पर बिठला देगा, लग्न की बात भी नहीं सोचेगा !

चन्द्रा—कविजी, चन्द्रा को सिंहासन की भूख नहीं है ! और जो उसे मिलना है, कोई भी उससे वंचित नहीं कर सकता ?

माँ—बहुत सही कह रही है मेरी बेटी। वाह री, मेरी दुलारी बिटिया ! जो जिसे मिलना होता है, कोई भी उससे उसे वंचित नहीं कर सकता। यदि किसी में ऐसी सामर्थ्य होती, तो क्या मुझी को यह दिन देखने को मिलता ? आह ! वे दिन ! कैसे थे वे दिन, कैसे कटे वे दिन !

(सहसा उसकी आँखों में आँसू उमड़ जाते हैं, फिर वे झर-झर कर गिरते हैं। तीनों चकित हो रहते हैं। श्वेत घबरा उठता है)

श्वेत—माताजी, माताजी, मुझसे कोई धृष्टता हो गई क्या ?

चन्द्रगुप्त—क्यों माँ ? यह क्या माँ ? ये आनन्दाश्रु तो नहीं हैं ! तुम विह्वल क्यों हो गई माँ ?

माँ—बेटे, बेटे ! (लिपट जाती है, चूमने लगती है) लगता है, आज हृदय को हल्का कर लूँ बेटे ! तू भी बार-बार पूछा करता था न ? आह ! वह इन्द्रजाल ! वह कुहेलिका !......

(सहसा दासी का प्रवेश)

दासी—गुरुदेव पधार रहे हैं।

(गुरुदेव का नाम सुनते ही चारो सजग हो उठते हैं। माँ और चन्द्रा चन्द्रगुप्त के प्रसाधन में लग जाती है। श्वेत शान्त भाव से बैठ जाता है। चाणक्य आता है। चारो उसका सादर अभिवादन करते हैं। चन्द्रगुप्त की ओर देख कर वह बोल उठता है)

चाणक्य—अहा ! कैसा सुन्दर, कैसा दिव्य ! हाँ, लगता है, मेरे बेटे पर आज देवत्व उतर आया है। क्या देवराज भी इतना सुन्दर होगा ? (माँ की ओर लक्ष्य करके) माताजी, देखिये तो, यह दिपता हुआ मुखमंडल! यह प्रशस्त ललाट! यह वरेण्य मस्तक ! लगता है, यह मस्तक राजमुकुट पहनने के लिए ही बनाया गया था, यह ललाट जैसे राज-तिलक की ही प्रतीक्षा में था ! (चन्द्रा से) बेटी चन्द्रे ! कितना सुन्दर प्रसाधन कर दिया है तूने । माताजी ने तुझे कितना गृहकुशल बना दिया है ? (श्वेतकेतु की ओर) और कविजी, कहिये, इस शुभ अवसर के लिए कोई गीत-वीत रचा है आपने !

श्वेतकेतु—रचे हैं गुरुदेव। किस कवि की वाणी ऐसे अवसरों पर मुखर हुए बिना रह सकती है। आज तो पाटलिपुत्र की गली-गली गीत-वाद्य से मुखरित हो रही है। जिनकी जिह्वायें सदा बंद रहीं, उनके कंठ से भी अनायास गान फूट रहे हैं। फिर कवि-वाणी कैसे मौन रह सकती है, गुरुदेव! आज गीत सावन की घटा की तरह उमड़-घुमड़ रहे हैं, उन्हें अक्षर बाँध कहाँ पाते हैं? तोभी कुछ को तो बाँध ही सका हूँ।

चाणक्य—(एक वक्र मुस्कान के साथ) क्या कोई आपत्ति हो, यदि हम आपके एकाध गीत पहले सुन लें!

श्वेतकेतु—किन्तु, मेरे पास जो नहीं गुरुदेव। और कोई वाद्ययंत्र भी तो यहाँ नहीं है!

चाणक्य—(चन्द्रा से) तो बेटी, तू भी श्वेत के साथ जा और अपनी वीणा ला। और देखना श्वेत, तुम दोनों स्वर-साधन उसी ओर करके आना, जिसमें यहाँ विलम्ब नहीं हो। समझे न?

श्वेतकेतु—जी!

चन्द्रा—जैसी आज्ञा!

(दोनों जाते हैं: जाते समय श्वेतकेतु मर्म-भरी दृष्टि से चाणक्य को देखता है)

चाणक्य—(माँ से) और, माताजी, क्या मंगल के सारे काम आपने सहेज लिये? यदि कोई कमी रह गई हो, तो उसे शीघ्र पूरा कर लेना चाहिये न; क्यों?

माँ—हाँ, हाँ, कई काम रह गये हैं, गुरुदेव। मैं उन्हें सम्हाल कर अभी आई।

(माँ भी जाती है: चन्द्रगुप्त कुछ उद्विग्न हो उठता है)

चाणक्य—बेटे, तुम उद्विग्न मत हो। कुछ बातें हैं, जो हमलोग एकान्त में ही कर लें, तो अच्छा हो। हाँ, कोई उतनी बड़ी बात भी नहीं!

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव की जो इच्छा, जो आज्ञा!

चाणक्य—देखो, चन्द्र, आज मेरे मनोरथ पूरे हुए। नन्दकुल का नाश हुआ। किन्तु जिस नाश के पीछे निर्माण नहीं होता, वह नाश अधिक नाशकारी सिद्ध होता है, बेटे। अब तुम्हें पाटलिपुत्र के स्वर्ण-सिंहासन पर बैठना है और एक ऐसे राज्य की, नहीं, साम्राज्य की नींव रखनी है, जो हमारे पूज्य ऋषियों की चक्रवर्त्तित्व की कल्पना को सार्थक करे।

चन्द्रगुप्त—चक्रवर्त्तित्व की कल्पना ?

चाणक्य—हाँ, हाँ, चक्रवर्त्तित्व की कल्पना। तुम्हें उसे साकार करना है, जिसकी स्थापना के लिए राम ने वनवास का दुख उठाया, लंकाकांड रचाया ; जिसके लिए कृष्ण ने महाभारत का वह लोम-हर्षक युद्ध कराया, अपने सम्पूर्ण गोत्र को वलि चढ़ाया ! किन्तु, तो भी, जो कल्पना अधूरी ही रही। आसेतु हिमाचल के एकछत्र राज्य की वह कल्पना—जब देश की सम्पूर्ण इकाई एक तरह से सोचे, काम करे ! ऋषियों की वह कल्पना आज भी कल्पना ही बनी पड़ी है बेटे।

चन्द्रगुप्त—यह असाध्य साधन और मुझ से ? गुरुदेव ! (झुक कर चाणक्य का चरण छूता है)

चाणक्य—हाँ, हाँ, तुमसे। यह साध्य है, इसे प्राप्त करना है, तुम करके रहोगे। किन्तु, एक बात है, बेटे। कहते हुए संकोच होता है, किन्तु कहना ही है और उसपर आवश्यकता होने पर सोचना भी है।

चन्द्रगुप्त—वैसी कौन-सी बात है, गुरुदेव, जिसपर आपको भी सोचना पड़े !

चाणक्य—सुनो, बेटे। मेरी दृष्टि एक बार सदा एक ही लक्ष्य की ओर जाती है। जब उस दिन संयोगवश तुम्हें वह खेल रचाता हुआ पाया, मैंने निश्चय कर लिया, तुम्ही को लेकर अपने स्वप्न को साकार करूँगा। तुम्हारे शरीर में वैसे लक्षण थे कि मैंने आवश्यकता भी नहीं समझी कि तुम्हारा कुल-गोत्र पूछूँ। पीछे जब माताजी ने बताया, तुम अनाथ हो, मैंने इसे सौभाग्य ही समझा, क्योंकि तुम्हारे ऊपर कोई बोझ नही, अतः तुम्हारा विकास मनमाने ढंग से किया जा सकता था। किन्तु, चन्द्र, आज जब तुम सिंहासन पर बैठने जा रहे हो, यह आवश्यक है कि तुम्हारे कुल-गोत्र की घोषणा की जाय।

चन्द्रगुप्त—कुल-गोत्र की ? क्या सिंहासन पर बैठने के लिए किसी विशेष कुछ-गोत्र का होना आवश्यक है, गुरुदेव ?

चाणक्य—यदि हो, तो और अच्छा।

चन्द्रगुप्त—और यदि नहीं हो ! (गर्व से) गुरुदेव, राज-सिंहासन विजेता को खोजता और वरण करता है !

चाणक्य—(मुस्कुराता हुआ) हाँ बेटे, सिंहासन विजेता को खोजता और वरण करता है। किन्तु वरण करने के बाद वह भी

चाहता है कि वह, जो उस पर बैठने जा रहा है, घोषणा करे, वह किसी उच्चकुल से है। जो स्वयं ऊँचा है, वह ऊँचाई की ओर ध्यान रखे, तो आश्चर्य क्या ?

चन्द्रगुप्त—किन्तु ऐसी घोषणा.....

चाणक्य—ऐसी घोषणायें की गई हैं और राजसिंहासन की महिमा देखो, उन घोषणाओं को लोगों ने सर-आँखों पर लिया है। सूर्य और चन्द्र तो आकाश के देवता हैं न ? कहीं उनका वंश पृथ्वी पर हो सकता है ? किन्तु घोषणायें की गईं, हम सूर्यवंशी हैं, हम चन्द्र-वंशी हैं, और लोगों ने सर झुका कर उन्हें स्वीकार किया ?

चन्द्रगुप्त—जैसे पृथ्वी-पुत्र में शासन की क्षमता नहीं !

चाणक्य—शासन पृथ्वी-पुत्र ही करता है, किन्तु यदि वह ऊँचे से, ऊपर से, प्रेरणा ले, तो कोई बुराई होगी ?

चन्द्रगुप्त—यह झूठी महत्ता.......

चाणक्य—(फिर मुस्कुराता) तो लगता है, तुमने सत्य को ही संसार मान लिया है। संसार मिथ्या है और महत्ता तो मिथ्या-ही-मिथ्या है। किन्तु यदि संसार में रहना है तो मिथ्याओं की सृष्टि करनी पड़ती है, करनी पड़ी है, चन्द्र !

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, यह क्या कह रहे हैं आप ?

चाणक्य—(गम्भीरता से) हाँ, हाँ चन्द्र ! तुम वीर हो, पुरुष-पुंगव हो, नर-केसरी हो। तुम्हें अपनी भुजाओं पर भरोसा है और उन भुजाओं पर विजय की देवी ने अपने हाथों विजय-कंकण बाँध दिया है। तुम्हें गर्वित होने, घमंड करने का अधिकार भी प्राप्त हो चुका है, चन्द्र ! किन्तु, तुम जान पाते, विजय की इस देवी को प्रसन्न करने के लिए इस काले ब्राह्मण को क्या-क्या काले कृत्य....... (आवेश में उसका कंठ अवरुद्ध हो जाता है, उसकी आँखों से चिनगारियाँ फूटने लगती है)

चन्द्रगुप्त—(आश्चर्य मिश्रित विनम्रता से हाथ जोड़ता हुआ) गुरुदेव !

चाणक्य—हाँ, काले कृत्य ! काले, काले कृत्य ! दूसरा कोई चारा भी तो नहीं था और जब तक उनमें लगा था, उनके रूपरंग देखने का अवकाश भी कहाँ था ? उन्हें देखा है तब, जब यह शिखा बँध चुकी है, जब लक्ष्य-प्राप्ति हो चुकी है। और जब देखा है, तब काँप उठा हूँ। किन्तु मैं काँप कर, डर कर रह जाने वाला, रुक जाने-वाला मनुष्य नहीं हूँ, चन्द्र। जिसे प्रारंभ किया जाय उसे उसके तार्किक

परिणाम तक पहुँचाना ही पड़ता है, पहुँचाना पड़ेगा—मुझे भी और तुम्हें भी। (आवेग में वह टहलने लगता है)

चन्द्रगुप्त—(झुक कर उसका चरण छूता हुआ) किन्तु गुरुदेव, आप सोचिये....

चाणक्य—मैं सोच चुका हूँ। मुझे आश्चर्य हो रहा है, जो युद्ध-भूमि में इतना वीर है, वह राजनीति में इतना कातर......

(माँ का प्रवेश)

माँ—गुरुदेव, सूर्यवंशी कभी, कहीं भी, कातरता या कायरता नहीं दिखा सकता !

चन्द्रगुप्त— }
चाणक्य— } एँ, सूर्यवंशी ! !

माँ—हाँ, गुरुदेव ! अब तक मैं अपनी जीभ पर ताला जड़े रही। किन्तु इस मंगलमय दिवस को उस रहस्य का उद्घाटन करने से मैं अपने को रोक नहीं सकती। चन्द्र, बेटे, तू सूर्यवंशी है, शाक्यवंशी है। जिस वंश से राम आये, बुद्ध आये, तू उसी का आभूषण है, बेटे !

चन्द्रगुप्त—(माँ से लिपटता हुआ) माँ, माँ !

माँ—लो, इन्द्रजाल टूटा न बेटे ?

चाणक्य—(साश्चर्य) इन्द्रजाल ?

माँ—गुरुदेव, एक इन्द्रजाल ही गुरुदेव, जिसमे हमारा आज तक का जीवन आवृत रहा—कहाँ कपिलवस्तु ! कहाँ पिप्पली कानन ! कहाँ पाटलिपुत्र !

चाणक्य—कपिलवस्तु ! पिप्पली कानन ! यह क्या सुन रहा हूँ ? आपने कभी ऐसी चर्चा नहीं की।

माँ—कैसे करती गुरुदेव ! आपको राजवंश से ही घृणा हो गई थी। कहीं कोप की वह शिखा कभी कदाचित हमारी ओर बढ़ जाती ! और यदि किसी तरह कोशल-नरेश को यह समाचार मिल जाता...

चाणक्य—कोशल-नरेश ! अरे, यह जाल इतना विस्तृत है ?

माँ—(करुण मुद्रा में) हाँ, गुरुदेव, हम कोशल-नरेश विडुरथ के मारे हुए हैं ! विडुरथ, जिसे संसार शाक्यकुल का नाती मानता रहा है ! किन्तु, एक दिन उसे इसकी यथार्थता मालूम पड़ी और उसने गुरुदेव की ही तरह एक भीषण प्रतिज्ञा कर ली !

चन्द्रगुप्त—कैसी प्रतिज्ञा माँ ?

माँ—"मैं शाक्यकुल का मूलोच्छेद कर दूँगा।"

चन्द्रगुप्त—ओह ! (व्याकुल हो जाता है)

चाणक्य—सचमुच भीषण ! 'शाक्यकुल का मूलोच्छेद कर दूँगा !' किन्तु वह कौन-सी बात थी मातार्जी, कि उसे ऐसी भीषण प्रतिज्ञा करनी पड़ी ? अवश्य ही उसके भीतर कहीं अपमान रहा होगा !

माँ—(कातर स्वर में) हाँ, अपमान ही था गुरुदेव ! जब विडुरथ के पिता ने कपिलवस्तु पर विजय प्राप्त की, उसने एक शर्त रखी, शाक्य राजकुल अपनी कन्या उससे ब्याह दे। शाक्यों को यह कैसे स्वीकृत हो सकता था ? किन्तु, कोई उपाय तो करना ही था ! विजयी क्या तर्क सुन सकता है? अतः छल की शरण ली गई। एक दासी-पुत्री को राजकन्या कहकर अर्पित कर दिया गया। विडुरथ उसी से उत्पन्न हुआ।

चाणक्य—दासी-पुत्री से राजकन्या; उससे उत्पन्न राजकुमार। फिर तो कुछ होना ही था। बताइये, आगे क्या हुआ ?

माँ—विडुरथ जब किशोर हो गया, एक बार वह अपने ननिहाल आया। उसका सम्मान नाती की ही तरह होता रहा, किन्तु जब भोजन का समय होता, वह पाता, सबलोग किसी-न-किसी बहाने से हट गये हैं। उसे अकेले ही भोजन करना पड़ता। धीरे-धीरे उसका संदेह बढ़ा और उसने अपनी मामियों से पूछना प्रारम्भ किया।

चाणक्य—और किसी मामी ने भंडाफोड़ कर दिया ? (चन्द्रगुप्त की ओर देख कर मुस्कुराता है, मानो कह रहा हो, नारियों पर विश्वास नहीं किया जा सकता)

माँ—हाँ, छोटी मामी उसे बहुत प्यार करती थी। उसे उद्विग्न देख, बेचारी ने बता दिया कि क्यों वे लोग उसके साथ भोजन नहीं करते ? बेचारी मामी ! वह क्या जानती थी, उसका प्यार कौन-सी आग लगाने वाला सिद्ध होगा ! विडुरथ यह सुनते ही क्रोध में पागल बन गया। भीषण प्रतिज्ञा कर बैठा—"जिसने मेरे कुल में कलंक लगाया है, उस शाक्यकुल का मूलोच्छेद करके ही मैं दम लूँगा।"

चाणक्य—ओहो, प्रगट इतिहास के पीछे क्या-क्या छिपा रहता है ? कोशल और कपिलवस्तु के उस सर्वनाशी युद्ध का रहस्य आज खुला।....किन्तु आप लोग कैसे बच निकले ?

माँ—आपलोग कहाँ ? तब चन्द्र का जन्म भी कहाँ हुआ था गुरुदेव ? वह गर्भ में था। न-जाने क्यों, मेरे मन में यह संकल्प उठा, कम-से कम इस बच्चे को मैं बचाऊँगी। मैं कपिलवस्तु से भागी और मारी-मारी पिप्पली कानन पहुँची। वहाँ के मोरियों को जब सारी बातें

मालूम हुई, उन्होंने मुझे अपनी शरण में ले ली। किन्तु, उनसे एक भूल हो गई—शान में आकर उन्होंने इसकी घोषणा कर दी! फिर क्या था, विडुरथ वहाँ भी चढ़ दौड़ा और पिप्पली-कानन को भी उसने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

चाणक्य—प्रतिहिंसा बड़ी क्रूर होती है, माताजी!

माँ—देखती आई हूँ गुरुदेव; और, देख रही हूँ। किन्तु, मातृत्व की भावना भी तो कुछ कम प्रबल नहीं होती? मैं वहाँ से भी भगी और गंगा पार कर पाटलिपुत्र पहुँची। यहीं चन्द्र का जन्म हुआ, किन्तु मैंने कभी यह प्रगट नहीं होने दिया कि शाक्यकुल या किसी भी राजकुल से हमारा कोई सम्बन्ध है। जितना बन पड़ता, परिश्रम करती; दासी के आस्पद को भी अर्घ्य की तरह सर चढ़ाती रही, अपमान सहती रही। यह नटखट चन्द्र! प्रायः पूछ बैठता, मैं कौन हूँ, मेरे पिताजी कौन हैं, कहाँ हैं? किन्तु मैं क्या कहती भला? (आँसू पोंछती है)

चाणक्य—आपने अपने चन्द्र को गुप्त ही रखना चाहा! (चन्द्रगुप्त की ओर देख कर मुस्कुराता है) किन्तु क्या आप ऐसा कर सकीं!

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, गुरुदेव! बहुत दिनों से मैं अपनी शिराओं में एक अद्भुत ध्वनि सुना करता था, जो मानो कहता था, तुम वह नहीं हो, जो संसार समझ रहा है, या तुम स्वयं समझते हो। बार-बार पूछे जाने पर माताजी ने एक दिन कहा था, बेटे, माता का मुँह बन्द रहे, एक दिन तुम्हारी शिराओं का यह रक्त स्वयं बोलेगा और जिस दिन तुम उसे सुन लोगे, अपने पर अभिमान करोगे! सचमुच आज मैं फूला नहीं समाता। (माँ से) माँ, माँ, तुमने मेरे लिए कितने कष्ट सहे माँ! (वह माँ से लिपट जाता है: उसकी आँखों से आँसू झरने लगते हैं)

माँ—बेटे, मुझे अपने दुख की चिन्ता नहीं। किन्तु बार-बार सोचता हूँ, हमारे लिए ही मोरियों ने अपना सर्वनाश कराया। उनके ऋण से कैसे उद्धार पा सकूँगी?

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव! तो घोषणा कराइये, मैं मोरिय-कुल से हूँ। आज से मैं अपने को मौर्य कहूँगा—उस कुल को अमर कर दूँगा, जिसने हमारी रक्षा में अपने को बलि चढ़ा दिया।

चाणक्य—साधु बेटे, साधु! यह तुम्हारे ही अनुरूप निर्णय है बेटे। ध्यान दिया है न, यह पाटलिपुत्र संगम पर बसा हुआ है। तीन-

तीन महानदियों का संगम-स्थल है यह। उत्तर, दक्षिण और पश्चिम से गंडकी, शोनभद्र, गंगा ये तीन महान नदियाँ आकर यहाँ मिली है और तीनों एक होकर पूर्व दिशा को प्रधावित हुई हैं। इसके सिंहासन को संगम का ही प्रतिनिधित्व करना चाहिये ! एक और बात—और बहुत महत्वपूर्ण बात ! अपने महान देश के मान-चित्र पर तुमने पाटलिपुत्र के स्थान पर कभी दृष्टि डाली है ?

चन्द्रगुप्त—कभी ऐसा अवसर नहीं मिला है, गुरुदेव ! मैं तो अस्त्र-शस्त्रों में ही व्यस्त रहा !

चाणक्य—इस दिव्य मातृ-मूर्ति की कल्पना तो बहुत दिनों से होती आई है—हिमालय मस्तक, जिसपर कश्मीर की किरीट जगमग कर रही। सिन्धु, ब्रह्मपुत्र—माता के आँचल के दो छोर दोनों ओर अजस्र लहरा रहे। विन्ध्य मेखला। सह्याद्रि, मलयाद्रि माता की दो जानुयें। और, कन्याकुमारी पदनख—जिसे निरंतर रत्नाकर प्रच्छालित करता है ! अब इस मातृ-मूर्ति में पाटलिपुत्र को ढूंढ़ो। गंगा-कछार के विस्तृत वक्षस्थल में, किंचित बायाँ हट कर, छोटा-सा विन्दु यह पाटलिपुत्र। किन्तु, यही हृदय है। इस हृदय को आनन्दित उच्छ्वसित होने दो, सारा देश, सम्पूर्ण भारत, पुलकित-प्रफुल्लित हो उठेगा ! मैंने तक्षशिला को छोड़ कर पाटलिपुत्र को अपना कर्मस्थल बनाया है, वह कोई अचानक निर्णय नही है, बेटे !

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव का कोई निर्णय क्या अकारण होता है ?

(भीतर से संगीत के स्वर सुनाई पड़ते हे : चौंक कर चाणक्य सुनने लगता है)

माँ—यह चन्द्रा बजा रही है गुरुदेव। उसकी वीणा—एक विचित्र झंकार निकालती है उस वाद्ययंत्र से मेरी बेटी !

चाणक्य—वीणा ! वीणा ! (थोड़ी देर के लिए वह स्तब्ध हो रहता है, उसकी आँखें पसीज उठती हैं : दोनों उसके मुखमंडल की ओर देखते रहते हैं—फिर झट वह जैसे आत्मबोध प्राप्त करता है और बोल उठता है) नहीं, नहीं, मुझे इन कोमल भावनाओं में नहीं उलझना चाहिये ! बेटे, मैं चला !

चन्द्रगुप्त—यह क्या गुरुदेव ? चन्द्रा अब आई ही—उसके उत्साह के लिए भी तो थोड़ा सुन लीजिये। फिर श्वेत भी आ ही रहा होगा।

चाणक्य—नहीं चन्द्र, नहीं ! मेरे भाग्य में यह गीत-संगीत नहीं बदा है। जो छिन जाता है, सदा के लिए छिन जाता है ! और अब तो जो काम मुझे करना पड़ रहा है, उसके लिए भी आवश्यक है

कि कोमल भावनाओं को जागृत करने वाले इन सारे उपकरणों से मैं दूर ही रहूँ ! नहीं, नहीं—मुझे जाने दो। मेरी ओर से बेटी चन्द्रा और कविजी से क्षमा माँग लेना ; मैं चला। (चादर की खूँट से आँखें पोंछता वह जाता है)

चन्द्रगुप्त—यह क्या माँ ? गुरुदेव सहसा इतने विचलित क्यों हो गये ?

(वीणा लिये चन्द्रा आती है)

चन्द्रा—माँ, माँ ! गुरुदेव को क्या हुआ ? वह आँखें पोंछते जा रहे हैं !

चन्द्रगुप्त—आज अचानक चट्टान पिघल गई है, चन्द्रे। गुरुदेव की आँखों में यह पहली बार आँसू देखे हैं मैंने। और, सुनोगी, विश्वास करोगी, तुम्हारी वीणा की झंकार सुनकर ही ऐसा.....

चन्द्रा—मेरी वीणा की झंकार सुन कर !

चन्द्रगुप्त—हाँ, हाँ, तेरी वीणा की झंकार सुन कर। कुछ देर ध्यानस्थ होकर सुनते रहे, फिर 'वीणा! वीणा!' बड़बड़ा उठे और अन्त में यह कह चलने बने—जो छिन जाता है, सदा के लिए छिन जाता है! (माँ से) माँ, माँ, लगता है, गुरुदेव के जीवन में कोई दर्दीला पहलू भी है।

माँ—हाँ, कोई बात है कि बेटी, तुम्हारी वीणा की झंकार सुनते ही उनकी आँखें पसीज आईं, वह इस तरह भाव-विकल हो उठे !

(श्वेत का प्रवेश)

श्वेतकेतु—नहीं माँ, नहीं। इसमें भी कोई ढोंग होगा, ढोंग ! उस चट्टान से ज्वालामुखी ही फूट सकती है—केवल ज्वालामुखी !

माँ—गुरुदेव चट्टान हैं, उनके भीतर ज्वालामुखी धधका करती है, यह तो प्रत्यक्ष है। क्या इसे देखने के लिए कवि-दृष्टि की अपेक्षा है श्वेत ! आश्चर्य है हमारा कवि यह देख नहीं पाता कि हर ज्वालामुखी के निकट कहीं कोई रस का सोता होगा, नहीं तो वह दिन-रात आग ही उगला करती, संसार में केवल ज्वाला-ही-ज्वाला फेंकती होती !

श्वेतकेतु—नहीं माँ, वहाँ रस का सोता कहाँ ? रस और उस काले ब्राह्मण के हृदय में। नहीं, नहीं, नहीं !

चन्द्रगुप्त—(क्रोध में) श्वेत !

माँ—क्रोध मत करो बेटे। (श्वेतकेतु से) प्यारे बेटे ! तुम कवि हो, तुम्हें भीतर तक देखना चाहिये न ? ऊपर-ऊपर तो सब देखते

हैं ! बेटे, आदमी क्या वही होता है, जैसा हम बाहर से देखते हैं ? यदि आदमी उतना सरल होता, तो जगत में इतना कोलाहल नहीं दिखाई पड़ता श्वेत ! मुझे लगता है, गुरुदेव के जीवन में कुछ अद्भुत ग्रंथियां उलझी पड़ी हैं । तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक कोई यों ही नहीं आ सकता ; किसी कोरे आदर्शवाद से प्रेरित होकर भी नहीं ! निश्चय जानो, उस दिन नन्द की राजसभा में जो शिखा खुली, वह मन के भीतर कब से न खुली-खुली रही होगी । और क्या कुश-कंटकों ने कुछ इतना बड़ा अपराध किया था कि उन्हें जड़ से खोदा जाय, और मट्ठा पटाया जाय ! ये सब सूचित करते हैं, गुरुदेव वही नहीं हैं, जैसा हम ऊपर से देखते हैं—एक क्रोधी, दृढ़निश्चयी, आत्मनिष्ठ, सतत चौकस, और संदेहशील चतुर ब्रह्मण-मात्र ! न जानें इन सब बाहरी लक्षणों का मूल-स्रोत कहां है ? ऊपर से जो यों भयानक लगता है, उसके भीतर क्या है—उसे अन्तर्यामी ही जानता है, बेटे !

(मां गम्भीर बन जाती हैं। सब के मुखमंडल पर गम्भीरता छा जाती है—उस गम्भीरता को कम करती है चन्द्रा—)

चन्द्रा—किन्तु सच पूछो तो, मां, मैं उन्हें देख कर ही डर जाती हूं। उनके आंसुओं ने तो मुझे और डरा दिया है !

मां—डरती तो मैं भी हूं बेटी। नारियों को वह कभी स्नेह या वत्सलता की दृष्टि से नहीं देख पाते, यह तो स्पष्ट है। और मुझसे तो न जानें क्यों एक विचित्र तनाव रखते हैं, मेरी समझ में नहीं आती, बात क्या है ?

श्वेतकेतु—मैं कहूं, क्या बात है ? वह आपसे ईर्षा करते हैं कि यह चन्द्र आपकी कोख से क्यों पैदा हुआ—वह नारी क्यों न हुए कि चन्द्र को उत्पन्न करने का सौभाग्य भी उन्हें ही मिल जाता ! और चन्द्रे, तुम्हें देख कर तो उनके मन में आधे सिंहासन का ही लोभ उदय हो जाता है !

(सब हँस पड़ते हैं)

चन्द्रगुप्त—क्या अच्छा कहा तुमने श्वेत ! फिर तुम्हारी कविता झंकृत हुई। श्वेत, तुम्हारे मुँह से ऐसे ही फूल झड़ने चाहिये। और हां, हां, वह तुम्हारा गीत। गुरुदेव ने कहा है, मैं उनकी ओर से क्षमा मांग लूं........ . . . . .

श्वेतकेतु—क्षमा की आवश्यकता नहीं है चन्द्र ! मैं गुरुदेव को जानता हूं, उन्हें पहचानता हूं—वह मुझे हटा कर तुमसे बातें करना चाहते थे, जिसके लिए उन्होंने वह बहाना किया था। नहीं तो कहां गीत-

संगीत और कहाँ गुरुदेव? किन्तु, गुरुदेव ऐसे लोगों के होते हुए भी गीत-संगीत के चाहक रहे हैं और रहेंगे चन्द्र! गीत-संगीत! अहा! हमारे ही हृदय में निहित, उदात्त, अस्पष्ट भावनायें जब सहसा स्वर के रूप में साकार हो उठती हैं और इस जगत में गुमसुम पड़ी वैसी ही अनेक भावनाओं को झंकृत कर उन्हें सपक्ष होकर उड़ने को वाध्य कर देती हैं! गीत-संगीत—संसार की सबसे मधुर, कोमल अभिव्यक्ति! किन्तु उसी तरह सुकुमार तुनुक। जहाँ वातावरण में थोड़ी-सी खटक पड़ी, वह लुप्त हुआ। गुरुदेव ने यहाँ के वातावरण को संगीत के योग्य नहीं रहने दिया—चलो, माताजी के कक्ष में। हम वहीं गायेंगे, बजायेंगे और यदि चन्द्रा चाहे, तो नाचेंगे भी। हाँ, हाँ, चन्द्रे चलो, हम नाचें। आज हमारे ही जीवन का नहीं, देश के, राष्ट्र के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हो रहा है। आज हमारी कला किस प्रकार मौन-अचल रह सकती है? चलो चन्द्रे, चलिये माताजी, चलो चन्द्र, हम चलें। आज माताजी के कक्ष को हम गीत-नृत्य-वाद्य से भर दें, भर दें!

(भावावेश में चन्द्रा का हाथ पकड़ कर वह खींचता हुआ जाता है। चन्द्रा हँस रही है। चन्द्रगुप्त मुस्कुरा रहा है। माँ के मुखमंडल पर भी उल्लास की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। चारो आनन्द-उल्लास के बीच जाते हैं)

तीसरा अंक

स्थान : सिन्धु-तट के निकट का युद्ध-शिविर

समय : निशीथ

सम्राट चन्द्रगुप्त की सेना ने यवनों के सेनापति सेल्यूकस की सेना को आज पराजित कर दिया है।

सेल्युकस ने अपनी कन्या चन्द्रगुप्त को अर्पित कर दी है। और यौतुक में भारत के अधिकृत अंचलों के अतिरिक्त यवन-सेनापति ने सीमाप्रदेश के कई अंचल भी अर्पित कर दिये हैं।

भारतीय शिविर में आनन्द और उत्साह का समुद्र आज संध्या से ही हिलोरे ले रहा था। किन्तु अब चारो ओर शांति है।

आज पूर्णिमा है। चमचमाता चन्द्रमा आकाश के आधे भाग को पार कर चुका है। चारो ओर शीतल चन्द्रिका छिटक रही है।

सामने चन्द्रगुप्त का राजकीय शिविर है।

नील वर्ण का वह सोने-चाँदी के तारों से मढ़ा शिविर चाँदनी पड़ने से तारा-मंडित आकाश की तरह चमचम कर रहा है।

शिविर के आगे एक युवक टहल रहा है।

गम्भीर है मुख-मंडल उसका। टहलता-टहलता रह-रह कर वह ठहर जाता है, उसाँसें लेता है, अचानक उसके होंठ हिलने लगते हैं।

वह युवक कौन है ?

वह है भारत का सम्राट्, महान विजेता, चन्द्रगुप्त ! क्या बात है कि इस विजय की रात्रि में, जब यवन-राज की कन्या उसे अर्पित की जा चुकी है, वह यवन-कन्या उसके शिविर में है, वह इस प्रकार व्याकुल बना बाहर टहल रहा है ?

देखिये, फिर वह रुका, उसाँसें लीं और उसके होंठ फिर हिल उठे। वह आप ही आप क्या बोले जा रहा है—

चन्द्रगुप्त—विजय! विजय! विजय! यहाँ लड़ो, वहाँ लड़ो—ऐसे लड़ो, वैसे लड़ो,—इसे जीतो, उसे जीतो। किन्तु सारे किये-कराये का, लड़ाई-झगड़े का जो निष्कर्ष आता है, उसका नमूना आज सामने है। सिन्धु के उस पार हाय-हाय मची रही, इस पार रंगरलियाँ मनती रहीं! हम विजेता हैं—आमोद-प्रमोद हमारा अधिकार है। आनन्द मनाओ, आनन्द मनाओ—खाओ, पीओ, नाचो, गाओ। फिर,. . . . फिर थकथका कर सो जाओ! सभी सो गये हैं, कैसा सन्नाटा! सिन्धु के दोनों ओर सन्नाटा है इस समय। जो रोये, वे भी सो गये, जो हँसते-हँसते लोटपोट हो रहे थे, वे भी सो गये। किन्तु, चन्द्र, चन्द्र! तुम्हारे भाग्य में सोना भी नहीं बदा है। क्योंकि तुम विजेताओं के विजेता हो। विजेता! विजेता! (आकाश की ओर देखता हुआ) तारों की पलकों पर भी नींद छा रही है, किन्तु तुम्हारी पलकों पर! अरे, कोई कैसे सो सकता है, जब. . . . .

(माँ का प्रवेश)

माँ—अरे! बेटे! तू; यहाँ? अब तक जगा है?

चन्द्रगुप्त—ओहो, माँ! तुम भी नहीं सो सकीं माँ! आज उत्सव का दिन है, सब सो गये हैं—

माँ—जब बेटा जगा हो, क्या माँ को नींद आ सकती है? जा बेटे, सो जा, सो जा! वह बेचारी क्या सोचती होगी?

चन्द्रगुप्त—हाँ, बेचारी? बेचारी ही तो! कितना बड़ा सत्य निकल गया तुम्हारे मुख से माँ!

माँ—तू यह क्या बोल रहा है बेटे? वह बेचारी है?—यवनराज की कन्या आज आर्यावर्त्त की राजरानी है! उससे बढ़कर कौनसी लड़की इस धराधाम पर शौभाग्यशालिनी होगी रे?

चन्द्रगुप्त—और वह भी सौभाग्यशाली ही है, जिसकी बगल में उस सौभाग्यशालिनी को सुला दिया गया है। क्यों माँ? क्या राजाओं का विवाह ऐसा ही होता है? कभी किसी की बगल में कोई दासी-कन्या सुला दी गई, कभी किसी की बगल में किसी राजकन्या को लिटा दिया गया!

माँ—लिटा दिया गया है! (आश्चर्य से उसे नीचे से ऊपर तक देखती है)

चन्द्रगुप्त—तो क्या वह स्वयं आई है माँ ?

माँ—उसके पिता ने उसे अर्पित किया है, बेटे।

चन्द्रगुप्त—क्योंकि वह पराजित हो चुका था ! और उसमें इतनी समझ थी कि वह जाने, इस स्थिति में उसे क्या करना चाहिये ? अर्थात अपनी पराजय को जय में बदल देने की बुद्धिमानी उसमें थी।

माँ—ये सब क्या सोच रहा है तू बेटे ! जा, सो जा। वह बेचारी......हाँ, फिर कहती हूँ, वह बेचारी क्या सोचती होगी ?

चन्द्रगुप्त—कुछ नहीं सोच रही होगी माँ, वह तो खुर्राटे लेकर सो रही है, जैसे कोई विजेता सोता हो !

माँ—विजेता ? यह क्या-क्या सूझ रहा है तुझे ?

चन्द्रगुप्त—माँ ! बड़ा तमाशा रहा ! वह आई, मुस्कुराई, कुछ बोलने की चेष्टा की ! किन्तु क्या बोलती ? थोड़ी देर आश्चर्य-चकित इधर-उधर देखती रही। फिर शय्या पर इस तरह लुढ़क गई, जैसे कोई रुई का गट्ठर लुढ़क जाय ! और कुछ क्षणों में ही वह खुर्राटे लेने लगी। उसकी वह लापरवाही की नींद ही मेरी इस रत-जगी में परिणत हो गई है, माँ। बार-बार सोचता हूँ, यह क्या हो गया ? एक ऐसी लड़की, जिससे न जान, न पहचान, जो न हमारी भाषा जानती है और न हम जिसकी भाषा जानते हैं, एक दिन अचानक जीवन-भर के लिए गले में बाँध दी गई और संसार में घोषणा यह की गई कि यह विजय की भेंट है—आह री विजय, वाह री भेंट !

माँ—गुरुदेव ने जो कुछ किया है, सोच-समझ कर ही किया होगा, बेटे !

चन्द्रगुप्त—माँ, इधर पा रहा हूँ, तुम्हारा भाव गुरुदेव के प्रति बदल रहा है। याद है, तुम्हींने कहा था—वह जादूगर हैं, मैं उनसे डरती हूँ, वह हमें भटका रहे हैं। और, वही तुम हो, जो अब गुरुदेव की प्रशंसा करती हुई नहीं अघाती। यह अद्भुत परिवर्तन है, माँ।

माँ—हाँ, परिवर्तन है, किन्तु तू इसे अद्भुत क्यों कहता है ? यह स्वाभाविक है। गुरुदेव की नीति सफल हुई है !

चन्द्रगुप्त—सफल ! मानो जीवन के लिए सफलता ही सबसे बड़ी वस्तु हो।

माँ—ओहो, बहस छोड़। जा, सो।

चन्द्रगुप्त—मैं सो नहीं सकता माँ, सो नहीं सकता !

(सहसा चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य—सोना तो खोना है! आदमी जितना जगता है, उतना ही अधिक पाता है। कोई बात नहीं चन्द्र, यदि तुम सो नहीं पाते! ज्यों-ज्यों उत्तरदायित्व बढ़ता है, निद्रा दूर भागती जाती है। सुख चैन, भोग विलास—ये सब छोटे लोगों के लिए हैं। ये पाशविक वृत्तियाँ हैं, जो मानव में अभी तक वर्तमान हैं!

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, (व्यंग्य से) आप भी अबतक नहीं सोये गुरुदेव!

चाणक्य—मेरे लिए यह पहली रात नहीं है चन्द्र, जब सारी-सारी रात अनिद्रा में ही बीत गई हो! थोड़े दिनों के बाद तुम्हें भी इसका अभ्यास हो जायगा, बेटे!

माँ—गुरुदेव, यह क्या कह रहे हैं, गुरुदेव! ऐसा अभिशाप मेरे बेटे को......

चाणक्य—माताजी, अब यह चन्द्र तुम्हारा ही बेटा नहीं है। देखो, क्या यह वही चन्द्र है, जिसे तुमने मुझे सौंपा था? वह चन्द्र तो अब भी पाटलिपुत्र के निकट गायें चरा रहा होगा! यह तो सारे देश का चन्द्र है, जो सिंधु-तट पर संसार के विजेताओं के विजेता के रूप में खड़ा है। जो मातृभूमि का त्राता है, जिसने माता के सर के कलंक के ीका को दूर किया है! एक ही देश, टुकड़ों-टुकड़ों में बँटा! कहीं स्वतंत्रता, कहीं परतंत्रता! और सब जगह छिन्नभिन्नता! ऋषियों की कल्पना साकार की है इसने! यह ऋषिपुत्र है, देवपुत्र है। तुम्हारे सामने भारत का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् खड़ा है माताजी! देखो, अच्छी तरह देखो, क्या यह तुम्हारा चन्द्र है?

माँ—गुरुदेव, मुझसे मेरा बेटा मत छीनिये, गुरुदेव!

चाणक्य—(मुस्कुराता हुआ) कौन किससे छीनता है? हाँ, जो जिसके लिए होता है, वह उसे प्राप्त हो जाता है। कहाँ जन्म लिया होगा उस यवन-कन्या ने? आज वह आपकी पुतोहू के रूप में आपके घर में सोई है।

माँ—गुरुदेव, उसी के कारण तो मेरे बेटे को नींद नहीं आ रही है।

चाणक्य—(मुस्कुराते हुए) सच बेटे?

चन्द्रगुप्त—इसलिए ही नहीं, गुरुदेव! मुझे लगता है, उस यवन-सेनापति ने आपको पराजित कर दिया! सिन्धु-तट पर जहाँ मेरी सेना ने अभूतपूर्व विजय प्राप्त की, आपकी बुद्धि ने घुटने टेक दिये!

आज वह पराजित होकर विजयी बना है! जो कभी इस देश के एक छोटे से अंश का अधिपति था, वह अपनी कन्या भेज कर आपके चक्रवर्तित्व के स्वर्णसिंहासन के आधे भाग पर अधिकार पा गया है। उसकी वह कन्या विजय की नींद ले रही है, मैं आपकी पराजय पर छटपटाता फिर रहा हूँ!

चाणक्य—ओहो, बड़ी दूर की बात सोची है तुमने चन्द्र। लेकिन दूरी कुछ इतनी बड़ी है कि इस बात से भी अधिक दूर की बात सोची जा सकती है बेटे।

चन्द्रगुप्त—दूसरी कौन-सी बात हो सकती है, गुरुदेव?

चाणक्य—बेटे, बात तो सचमुच इतनी दूर की है कि कदाचित वहाँ तक किसी की कल्पना तक नहीं जाय। हो सकता है, समय के पहले ही उसका शुभारम्भ हमने किया हो। प्रत्येक देश में चक्रवर्ती शासन—किन्तु उसके बाद? जगन्नाथ का रथ क्या यहीं रुक जायगा? मुझे लग रहा है, आज सिन्धुतट पर हमने जिस सम्बन्ध की नींव डाली है यदि वह सफल हुआ तो फिर पूरब-पश्चिम, श्याम-श्वेत—वर्ण-भाषा, सीमा-दिशा आदि के सारे भेदभाव नष्ट हो जायँगे! यवन सेनापति ने चाहे जिस उद्देश्य से अपनी कन्या को उपहार रूप में भेजा हो, मैंने स्वीकार करने के पहले भलीभाँति सोच लिया है, चन्द्र!

चन्द्रगुप्त—तो आप अपने चक्रवर्तित्व की सीमा को स्वयं तोड़ रहे हैं।

चाणक्य—सीमायें टूटती ही हैं। पखेरू अंडे में पलते हैं, किन्तु एक दिन अंडा टूटता है, तभी पखेरू के पंखों की सार्थकता सिद्ध होती है। पिंड, अंड, ब्रह्मांड–हमारे ऋषियों ने सभी कल्पनायें कर रखी हैं बेटे।

चन्द्रगुप्त—किन्तु इसकी नींव में पराजय है, इससे मुझे डर है, आपका प्रयत्न सफल नहीं हो सकेगा, गुरुदेव!

माँ—(व्याकुलता और कातरता से) ऐसा मत कहो बेटे!

चाणक्य—चन्द्र, दो डालें कभी अचानक आ मिली हों, किन्तु सदा यह देखा गया है, कलम बाँधी जाती है—दो ओर से दो डालें लेकर उन्हें मिलाया जाता है! और जहाँ दो मिलाये जाते हैं, वहाँ थोड़ा बल का प्रयोग करना ही पड़ता है।

चन्द्रगुप्त—मानव को स्वयं मिलना चाहिये गुरुदेव, जहाँ मिलाने की चेष्टा हुई, मानवत्व समाप्त होकर रहेगा! और एक संकोच की बात है, किन्तु आज मैं उसे छिपा कर नहीं रख सकता गुरुदेव!

आप ही कहिये, क्या मिली हुई दो डालों को हटा कर तीसरी को मिलाने की चेष्टा एक महान अन्याय नहीं है गुरुदेव ?

चाणक्य—तुम चन्द्रा की बात सोच रहे हो ?

माँ—हाँ, गुरुदेव, उस बेचारी पर यह महान अन्याय हुआ है ! हाय ! उसके जीवन भर की साधना और साध की जैसे हत्या हो गई ! आज इस सिंधु-तट पर सैनिक ही नहीं मरे हैं, एक भोली बालिका की क्रूर हत्या हुई है, मुझे ऐसा लग रहा है ! मैं चेष्टा करके भी सो नहीं पाई हूँ, गुरुदेव ! गुरुदेव, यह आपने क्या कर दिया ? (करुणा से विह्वल आँखें पोंछने लगती है)

चाणक्य—(दृढ़ता भरे शब्दों में) हत्या हुई है! हाँ, हुई है! मानता हूँ, स्वीकार करता हूँ ! किन्तु याद रखिये माताजी, किसी की हत्या होती है, तभी कोई जीवन पाता है। जहाँ राष्ट्र का प्रश्न है, वहाँ व्यक्तियों के प्रश्न को नहीं घुसेड़ा जा सकता। और सुन लो चन्द्र, महान उद्देश्य और कोमल भावना साथ नहीं चल सकते। कहीं कठोर होना पड़ता है, और वही यह स्थल है।

चन्द्रगुप्त—किन्तु गुरुदेव, यह कोमल भावना है, जो मानव को मानव बनाता है, बनाये रखता है; क्या कोमल भावना ऐसी तुच्छ वस्तु है कि उसे सदा यों ठुकराया जाय ?

चाणक्य—(पूरी गम्भीरता से) चन्द्र, बेटे, जिसे मैं सुला पाया हूँ, उसे खोद कर मत जगाओ। मुझे बहुत कुछ कहना है—और उनमें से कुछ का साक्षी यह सिन्धु है ! (व्याकुल होकर टहलने लगता है! फिर रुक कर कहता है)—चन्द्र, कहीं तुमने देखा है, ब्राह्मण काला हो। मेरे माता-पिता ने यह रंग मुझे नहीं दिया था बेटे ! मैं भी कभी सुन्दर था, मेरा वर्ण भी तपाये सोने-सा दपदप करता था ! किन्तु जिसके भीतर दिनरात धुआँ-धुआँ हो, वह स्वर्ण-कलश कब तक अपने रंग को सुरक्षित रख सकता है ? आह रे वह धुआँ, धुआँ ! जिसकी घुटन ने इस शरीर को, इस मन को इतना विकृत कर दिया ! ओहो ! ओहो ! ! (चेहरे पर उन्माद की-सी भावना)

चन्द्रगुप्त—(आश्चर्यमय भय के साथ) गुरुदेव, गुरुदेव !

माँ—(झुक कर चरण छूती है) गुरुदेव !

चाणक्य—(विकलता की वाणी में) हाँ, यह सिंधु ही साक्षी है ! इसी सिन्धु के किनारे वह घटना घटी थी। मेरा घर सिंधु-तट पर ही था। इसी तरह उन दिनों भी पूनम का चाँद उगता था और

चाँदनी ऐसी ही खिलती थी। दो हृदय दो झोपड़ों से निकलते थे, सिंधु-तट पर आते थे, मिलते थे, हँसते थे, गाते थे, नाचते थे! किन्तु इस सिंधु से यह सब नहीं देखा गया। ये नदियाँ क्या हैं? जानते हो? सदा निम्नगामिनी होती हैं ये। पतन ही इनकी दिशा है! ये गिराती हैं, उठाती नहीं! और जो गिरा, उसे बहा ले जाती हैं! एक को यह सिन्धु बहा ले गई और दूसरे ने निश्चय किया, वह सारे सिन्धुओं को सुखा देगा—पृथ्वी में कहीं तरलता का, सरसता का, फिसलन का, पतन का नाम नहीं रहने देगा! किन्तु, कैसा चक्र! यह सिन्धु आज भी बह रहा है, और उस ब्राह्मण ने अपनी ही ज्वाला से अपने को काला कर लिया। और, उस कालेपन पर पर्दा डालने को आदर्श का एक आवरण तो उसने ओढ़ लिया, किन्तु, जब वह आदर्श पूरा होने जा रहा है, अपनी नग्नता से वह घबरा रहा है! (व्याकुल हो टहलने लगता है)

चन्द्रगुप्त—नग्नता! यह क्या कह रहे हैं गुरुदेव?

चाणक्य—जो कह रहा हूँ, वही सत्य है! आज तक तुमने जो देखा, समझा, सब असत्य! आदर्शवाद! हाँ, यह एक आवरण है! किन्तु यह आवरण उतना ही आवश्यक है, जितना मनुष्य के लिए वस्त्रों की, परिधानों की आवश्यकता है। कोई वस्त्र के साथ जन्म नहीं लेता, किन्तु नंगा रहना कौन पसंद करेगा? मनुष्य में इतने छिद्र हैं कि उन्हें ढांकना ही पड़ता है। मानव-मन भी उसके तन के ही अनुरूप होते हैं। वहाँ भी छिद्र-ही-छिद्र हैं। आदर्श से ही उन्हें ढँकना होता है। वस्त्र जितने ही शुभ्र हों, सुन्दर हों, उतने ही अच्छे—आदर्श भी जितना ही उज्वल हो, प्रोज्वल हो, दिव्य हो, दिप्त हो, उद्दीप्त हो, उतना ही शुभकर! (अचानक रुक जाता है: ऊपर की ओर टकटकी लगा कर देखता रहता है: माँ और चन्द्रगुप्त भय-कातर दृष्टि से उसकी ओर देखते रहते हैं: फिर वह आप ही बोल उठता है) अपने छोटे-से संसार को अपने हाथों जलाकर उस युवक ब्राह्मण ने एक नये संसार की सृष्टि करनी चाही और उसे वह नया संसार ऋषियों की उस चक्रवर्तित्व की कल्पना में मिली। किन्तु, उसने आज इस सिंधु-तट पर उससे भी बड़ी एक कल्पना पाई है चन्द्र! "वसुधैव कुटुम्बकम्"—सारा संसार एक कुटुम्ब में परिणत हो, ऋषियों ने कहा तो, किन्तु उसका आरम्भ कैसे होगा, वह भी नहीं सोच सके थे! जब यवन-सेनापति ने यह संदेश भेजा, मुझे उसमें उस कल्पना की झलक मिली, मैंने झट स्वीकार कर लिया। और, अब इस कल्पना में मैं ऐसा

विभोर हूँ कि इच्छा होती है, एक बार फिर इस सिन्धु-तट पर गाऊँ, नाचूँ। (भावना-मग्न हो उठता है)

(श्वेतकेतु का प्रवेश)

श्वेतकेतु—हाँ, हाँ, चलिये गुरुदेव, चलिये, हम-आप दोनों ही नाचें। यह विमल धवल चन्द्रिका, यह शुभ्र सलिला सिन्धु, उसकी रजतमयी बालुका-राशि। चलिये, हम नाचें, नाचें गुरुदेव!

चन्द्रगुप्त—श्वेत, यह क्या बोल रहे हो श्वेत! सोचो, कहाँ हो? किसके सामने हो?

श्वेतकेतु—गुरुदेव आधुनिक दुर्वासा हैं, मुझे शाप दे लें; तुम अब सम्राट् हो, मुझे फाँसी दे दो! किन्तु आज मेरे आनन्द की सीमा नहीं है चन्द्र, जब गुरुदेव के मुँह से मैंने गाने और नाचने की बात सुनी है! गुरुदेव, गुरुदेव!—चलिये गुरुदेव! अपनी-अपनी कल्पनाओं में विभोर दो ब्राह्मण आज सिन्धु-तट पर नाचें और आकाश के देवता,—यह चन्द्र, ये तारे, यह ध्रुव—इस विस्मयकारी दृश्य को देखें और वे भी नाच उठें, नाच उठें! (नाचने लगता है)

चन्द्रगुप्त—(उसे पकड़ता हुआ) श्वेत, श्वेत! तुम होश में नहीं हो श्वेत! यह तुम्हें क्या हो गया है? गुरुदेव, गुरुदेव, क्षमा कीजिये!

चाणक्य—आज सबको क्षमा है चन्द्र! तुम सब का मंगल हो, कल्याण हो, मैं चला।

(चाणक्य जाता है: श्वेत की मुद्रा बदल जाती है: घृणा के स्वर में वह कहने लगता है)

श्वेतकेतु—ढोंगी ब्राह्मण! एक अबला की हत्या कर यहाँ माया पसारने आया था। इस सिन्धु-तट पर उसे क्या मिला? इतने लोगों को लड़ा मारा और पाया क्या? एक लड़की! और एक लड़की की हत्या कर उसके शव पर इस दूसरी लड़की को अधिष्ठित किया! बेचारी चन्द्रा! (उसकी आँखें सजल हो उठती है)

माँ—हाँ, बेचारी चन्द्रा! आह, जीवन-भर जिसकी आस लगाये रही, वह उससे अचानक छीन लिया गया! ओह!

श्वेतकेतु—अचानक नहीं छीन लिया गया माँ। यह सब उस काले ब्राह्मण का जानबूझ कर रचा गया षड्यंत्र है। जब पाटलिपुत्र में चन्द्र के राज्याभिषेक दिन उसने लग्न-मुहूर्त की बात कह कर आपको बहला दिया और उस बेचारी को स्वर्ण-सिंहासन पर नहीं बैठने दिया,

उसी दिन मैंने समझ लिया, उसकी टेढ़ी खोपड़ी में अवश्य कोई खुराफात है! और बात साफ है, वह नहीं चाहता होगा कि जब चन्द्र भारत का सम्राट् बनने जा रहा है, तो किसी साधारण कन्या से उसका विवाह हो। मुझे तो सन्देह है कि यदि उसे अन्त में यह पता नहीं चल जाता कि आपलोग किसी राजकुल से हैं, तो, इस बारे में भी वह सोचता कि चन्द्र को सिंहासन पर बैठने दे या नहीं।

चन्द्रगुप्त—तो तुम समझते हो, मैं गुरुदेव की कृपा से सिंहासन पर बैठा हूँ?

श्वेतकेतु—प्रश्न यह नहीं है, चन्द्र कि तुम क्या समझते हो? मूल बात यह है कि वह काला ब्राह्मण क्या समझता है? वह अपने को ऋषियों का प्रतिनिधि मानता है। जो कुछ करता है, सोचता है, वह उनके आदर्शों को ही मूर्त रूप दे रहा है। और इन आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए वह चाहे जो कुछ भी कर सकता है। तुम्हें शायद पता नहीं हो, एक नया शास्त्र ही बना रहा है वह। कहता है, ऋषियों ने धर्मशास्त्र बनाये, मोक्ष-शास्त्र बनाये। किन्तु वह भूल गये, मानव जीवन की चतुर्विध प्राप्ति का प्रथम चरण है अर्थ। पहले अर्थ पर शास्त्र बनना चाहिये। कुशल यह हुई कि वह गृहस्थ नहीं रहा, नहीं तो एक कामशास्त्र भी बना डालता!

चन्द्रगुप्त—तुम कैसे समझते हो, गुरुदेव कभी गृहस्थ नहीं रहे?

श्वेतकेतु—तो मान लो, वह कामशास्त्र पर भी लिख कर रहेंगे। हाँ, यहाँ भी चालाकी से काम लेंगे। तुम्हें मालूम है, उनके कितने नाम हैं? और किस नाम से क्या काम करते हैं?

(चन्द्रा का प्रवेश)

चन्द्रा—इस उतरती रात में किसके नामों और कामों की गिनती हो रही है? अरे, यहाँ आज तो जैसे मेला लगा है! माँ, आप अब तक जगी हैं—चन्द्र, तुम यहाँ? उसे अकेली.............

(माँ चन्द्रा की उपस्थिति से ही उद्विग्न हो उठती है; चन्द्रगुप्त की सारी सुप्त स्नेह-भावना जैसे जग जाती है; वह अपनी अश्रुसिक्त आँखों को पोंछने लगता है। श्वेत कहता है)

श्वेतकेतु—चन्द्रे! सब का अपना भाग्य होता है।

चन्द्रा—उसका भाग्य? भारत की सम्राज्ञी! विजेता की अर्द्धांगिनी! आज उससे बढ़कर कौन ललना सौभाग्यशालिनी होगी इस धराधाम में कविजी?

चन्द्रगुप्त—क्षमा करो चन्द्रे !

माँ—बेटी, बेटी ! तू अधीर मत हो बेटी ! आह ! यह क्या हो गया ?

चन्द्रा—क्या हुआ माँ ? कुछ भी तो अप्रत्याशित या अनुपयुक्त नहीं हुआ। चन्द्र अब राजाधिराज हैं, उनकी पत्नी किसी अधिराजा की राजकुमारी ही तो हो सकती है। हम दुख के साथी थे। क्या सुख में भी हमें भाग मिलना ही चाहिये ? आपलोग राम के वंश से हैं न ? इस कुल की सीता तो सदा से जंगल-जंगल मारी फिरती रही है ! मेरा बड़ा सौभाग्य यही हो कि मुझे वनवास नहीं मिले, अपने राम के चरणों के निकट पड़े रहने के लिए दो बित्ता जगह मिल जाय। राज्य का स्वर्ण-सिंहासन ! राज-प्रासाद का केलि-भवन ! यह तो राजकुमारियों के लिए ही सुरक्षित रहने चाहिये न माँ !

(अब श्वेत और भी विचलित हो उठता है : उसकी आँखें डबडबा आती हैं)

माँ—बेटी, तू क्या बोले जा रही है, बेटी !

चन्द्रा—कुछ नहीं, माँ, कुछ नहीं। (चन्द्रगुप्त की ओर) चन्द्र, समझ रही हूँ, तुम्हारे हृदय में कौन-सा द्वन्द्व उठ रहा होगा इस समय। तुम सो नहीं सके। हाँ सो नहीं सकते थे तुम। किन्तु धीरे-धीरे बातें भूल जाया करती हैं; नहीं तो भुला देनी पड़ती हैं। तुम भी भूल जाओगे, या भुला देना पड़ेगा तुम्हें। माँ ने उस दिन बताया था न, उन्होंने मुझे धूल पर पाया था। मैं जहाँ थी, वहीं रहूँगी ! धूल उतनी उपेक्षनीय भी नहीं !

श्वेतकेतु—किन्तु धूल पर ही तो फूल खिलते हैं, चन्द्रे !

(उसके इस कथन से माँ की आँखें एकाएक चमक पड़ती हैं)

माँ—तुम्हारे मुँह में घी-खाँड़ पड़े बेटे। (चन्द्रा से) बेटी, गुरुदेव की बात, गुरुदेव जानें। मैं भी जहाँ थी, वहीं खड़ी हूँ। बेटे, चन्द्र, अब मैं चुप नहीं रह सकती। माँ का भी कोई अधिकार होता है ! मैं आज उस अधिकार का उपयोग करूँगी—कभी नहीं की; आज करूँगी, अवश्य करूँगी। हाथ बढ़ा बेटे ! विजय बड़ी चीज है, तो प्रणय की महिमा उससे भी बड़ी है और जिस प्रणय के साथ सेवा जुड़ी हो, वह तो अलौकिक, स्वर्गिक हो जाता है। वह अजेय है, अपरिमेय है। उसे कोई रोक नहीं सकता, उसे कोई बाँध नहीं सकता। बेटी, अपना हाथ दे। आज ही वह लग्न आ गई है बेटी ! इस पूर्णचन्द्र के नीचे, उस ध्रुव को साक्षी देकर, मैं तुम दोनों को

परिणय-सूत्र में बाँधती हूँ। बेटे श्वेत, मँगल-मंत्र पढ़ो बेटे! इस निर्मल, विशुद्ध, पवित्र मंगल-पर्व के लिए तुम्हारे ऐसे निर्मल हृदय, विशुद्ध हृदय, पवित्र हृदय पुरोहित भी दूसरा कौन मिलेगा? पढ़ो, मंगल-मंत्र पढ़ो बेटे!

(श्वेतकेतु मंत्र पढ़ने लगता है: माँ चन्द्रा और चन्द्रगुप्त के हाथों को लेकर एक साथ जोड़ती है: चारो की आँखों से आनन्दाश्रु प्रवाहित हो रहे हैं: चन्द्रा कुछ देर आत्मविभोर रहती है: फिर चन्द्रगुप्त से कहती है)

चन्द्रा—चन्द्र, तुम अब उस शिविर में जाओ। वह अकेली.....

चन्द्रगुप्त—मैं वहाँ जा नहीं सकता चन्द्रे! नहीं, नहीं..........

चन्द्रा—भावना में मत बहो चन्द्र! जो जिसे प्राप्य है, उसे प्राप्त होना चाहिये। तुम उस यवन-कन्या को वह सबकुछ दो, जो सिंहासन दे सकता है। उसे सिंहासन चाहिये, वह इसी के लिए भेजी गई है। वह उसी से सन्तुष्ट होगी। मुझे जो मिलना था, माँ ने मुझे दे दिया है। मुझे उसीसे सन्तोष है। वह विदेशिनी बालिका है, ऐसा न समझे कि हमारे देश के लोग कोई अशिष्टता भी कर सकते हैं। यह हमारी परम्परा भी नहीं है। तुम अब हमारे देश के सारे धर्मों और कर्तव्यों के प्रतीक हो। प्रणय या परिणय उसमें स्खलन क्यों आने दे? जाओ, शिविर में जाओ....... . . .

माँ—धन्य बेटो धन्य! आर्य-ललना के अनुकूल ही तुम्हारी बाणी है।

श्वेतकेतु—धूल पर फूल खिले, फूल में फल लगे! जय हो! जय हो!

(चन्द्रा मुस्कुरा पड़ती है: माँ पुलकित हो उठती है: चन्द्र भी मुस्कुरा पड़ता है)

चौथा अंक

स्थान : नीलगिरि की तलहटी में एक कुटिया
समय : संध्या

भारत माता के पद-भाग में स्थित नीलगिरि-पर्वत की तलहटी में बनी घास-फूस की इस कुटिया में, कुश की साथरी बिछा कर, उस पर अर्द्ध ध्यान-मग्न मुद्रा में वह कौन बैठा है ?

शरीर पर केवल श्वेत वस्त्र ! श्वेत वस्त्र से ही आच्छादित घास-फूस की एक तकिया उसके पृष्ठ भाग में है।

भारत-सम्राट्, महान विजेता चन्द्रगुप्त—यहां इस वेश में इस मुद्रा में ? कोई पहचाने तो कैसे ?

बात क्या है ?

सम्राट् की विजय की आकांक्षा परितृप्त हो चुकी है। भारत में एक चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की उनकी गुरु की कल्पना भी साकार हो चुकी है।

विजेता की आत्मा व्याकुलता में एक नये सन्देश की पुकार सुन पाती है। वह सन्देश, पाटलिपुत्र के पड़ोस में ही स्थित, वैशाली से निसृत हुआ है और सारे भारत को छा रहा है !

वह सन्देश है अहिंसा का। ज्ञाति-पुत्र भगवान महावीर ने पहले-पहल यह सन्देश संसार को दिया था !

जीवन भर हिंसा में ही जो लीन रही, वह आत्मा ऊब कर, इस सन्देश की ओर आकृष्ट हो, तो आश्चर्य क्या ?

कि इसी समय भारत के कई भागों में घोर अकाल पड़ता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त सोचते हैं, इस अकाल का उत्तरदायित्व किसपर ? और उसका क्या प्रायश्चित्त ?

एक निर्णय : गम्भीर निर्णय ! जैन-धर्म के विधान के अनुसार साठ दिनों तक निर्जल निराहार व्रत रख कर वह प्राण त्याग देंगे !

यह शुभ यज्ञ कहाँ हो ? उत्तर भारत में उत्पन्न यह सम्राट् अपनी अन्तिम समाधि के लिए दक्षिण भारत को चुनता है।

यहाँ, इस नीलिगिरि की तलहटी में, इस कुटिया में, वह अपने से ही रचाई मृत्यु-शैया पर आ बैठे हैं !

चन्द्रा आती है। उनके चरणों में झुक कर बोलती है—

चन्द्रा—सम्राट्, सम्राट् ! यह क्या निर्णय कर लिया आपने ? इस निर्णय को छोड़िये, सम्राट् ! छोड़िये इस निर्णय को और चलिये, चलिये, पाटलिपुत्र ! मैं पैरों पड़ती हूँ सम्राट् ! (वह पैरों से लिपट जाती है)

चन्द्रगुप्त—मैं भी किसी के पैरों पर ही पड़ा हूँ, सम्राज्ञी ! गुरुदेव ने उस दिन देश-माता की एक कल्पना-मूर्ति मेरे सामने रखी थी। जीवन-भर उसकी आराधना करता हुआ अब अन्त में उसके चरणों पर आ गिरा हूँ ! यह नीलगिरि, इसके बाद ही तो माता का वह पद-नख—कन्याकुमारी है ! हहर-हहर कर महासागर की उत्ताल तरंगें उस पद-नख को धो रही हैं ! मैं उन लहरों की ध्वनि यहाँ से ही सुन रहा हूँ। आप क्या नहीं सुन रही हैं, सम्राज्ञी ?

चन्द्रा—मैं कुछ नहीं सुनती सम्राट् और न सुनना चाहती हूँ ! मैं आपके श्रीमुख से केवल एक ही वाणी सुनना चाहती हूँ—इस निर्णय के छोड़ने की घोषणा कीजिये !

चन्द्रगुप्त—सम्राज्ञी, आप क्या बोल रही हैं ? चन्द्रा यह बोल सकती थी, किन्तु भारत की सम्राज्ञी की यह वाणी ! जिस सम्राट् के निर्णय बदलने लगें, वह भी कोई सम्राट् होगा, सम्राज्ञी ?

चन्द्रा—सम्राज्ञी कह कर मुझ पर व्यंग्य मत कीजिये, सम्राट्। मैं सदा आपकी दासी रही और हूँ ! मैंने सिंहासन की कामना कभी नहीं की। गुरुदेव ने तो यह सिंहासन उस यवन-कन्या को अर्पित किया था......

चन्द्रगुप्त—वह यवन-कन्या ! सोचता हूँ, यदि आज वह यवन-कन्या यहाँ होती, तो देखती, सिंहासन का क्या मूल्य है इस विचित्र देश में !

चन्द्रा—आह ! मैंने उस दिन व्यंग में कहा था, उससे बढ़ कर सौभाग्यशालिनी नारी इस धराधाम पर कौन होगी ? सचमुच वह परम सौभाग्यशालिनी सिद्ध हुई और परम अभागिनी सिद्ध होने जा रही है यह दीना-हीना चन्द्रा ! यदि आपको यही करना था, तो मुझे वहीं छोड़ दिये होते, सम्राट्, जहाँ मैं खड़ी थी ! (ऊपर ओर देखती हुई) माताजी, माताजी, आप भी चल बसीं माताजी ! देखिये, माताजी, आपकी चन्द्रा आज फिर वहीं खड़ी होने जा रही है जहाँ से आपकी कृपा की बाहों ने उसे उठाया और सिंहासन पर बिठाया था। आज तुम कहाँ हो माँ ! माँ ! माँ ! (हाथों से चेहरा ढँक कर फूट-फूट कर रोने लगती है)

चन्द्रगुप्त—सम्राज्ञी ! यह कातरता की वाणी नहीं ! इस शय्या के निकट कातरता की कोई वाणी नहीं निकलनी चाहिये ! इस शय्या की एक पवित्रता है ! आपको इस पवित्रता की रक्षा करनी चाहिये ! भगवान अर्हंत के विधान में कोई व्यवधान क्या उचित है ?

चन्द्रा—आह रे यह विधान ! भारत का सम्राट् आज इस कुटिया में पड़ा..........

चन्द्रगुप्त—हाँ, इस कुटिया में पड़ा भारत का सम्राट् मृत्यु का आह्वान कर रहा है ! कैसा दिव्य विधान है यह। जो कल तक पृथ्वी की विजय के लिए व्याकुल था, उसी व्याकुलता से, आतुरता से वह मृत्यु पर विजय करने को आगे बढ़ा है ! सम्राज्ञी, आप नहीं देख रही हैं, कि यह कितनी बड़ी बात होने जा रही है? आप शायद देख नहीं पातीं, हाँ, हममें केवल श्वेत ही यह देख सकता है—उसी की दृष्टि उतनी निर्मल है ! श्वेत कहाँ है सम्राज्ञी ?

चन्द्रा—सम्राट् ! आपके इस निर्णय ने क्या किसी की बुद्धि को, चेतना को ठिकाने रहने दिया है ! जिन्हें सूचना मिली है, सब पूछते हैं, क्या हुआ ? सम्राट् ने ऐसा निर्णय क्यों किया ? कहाँ, किससे, क्या त्रुटि हुई ? सभी कारण ढूँढ़ रहे हैं, पूछ रहे हैं ?

(श्वेतकेतु का प्रवेश)

श्वेतकेतु—मैं न ढूँढ़ रहा या पूछ रहा, सम्राज्ञी ! मैं तो जानता था, यही होकर रहेगा ! गुरुदेव ने जो पथ पकड़ा और हमसे पकड़वाया, उसकी परिणति यही होनी थी। उन्हें एक नेता चाहिये था, विजेता चाहिये था। सम्राट् उन्हें मिल गये। उन्होंने उनसे वह सब कराये, जो वह चाहते थे। सम्राट् क्षमा करें, वह भी क्या एक महत्वाकांक्षा

से अभिभूत नहीं थे ? उन्होंने भी सब सानन्द किया ! माताजी रोक सकती थीं, तो वह खोये वैभव को पुनः संस्थापित देखने के लिए अंधी बन गई थीं। जीवन एकाकी बनकर बहता रहा, बहता रहा। कबतक वह इस तरह बहता रह सकता था सम्राज्ञी ?

चन्द्रा—श्वेतजी, श्वेतजी, आप क्या बोल रहे हैं यह ? सम्राट् को समझाइये श्वेतजी !

श्वेतकेतु—कौन किसको समझा सकता है ! जो जीवन-भर नहीं कर सका, क्या अन्त में वह मैं कर लूँगा ? मेरी वाणी तो सदा विद्रोह में उठती रही है, सम्राज्ञी; किन्तु किसी ने उस पर ध्यान दिया ? मुझे तो कवि मान लिया गया है न ? यह विचित्र प्राणी है सम्राज्ञी ! इसे सब लोग चाहते हैं, सब लोग प्यार देते हैं, इसकी वाणी सुनने को भी लोग उत्कंठित रहते हैं। किन्तु न इसे, न इसकी वाणी को कोई गम्भीरता से लेता है। कभी कहा गया हो, कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू—किन्तु जिस आस्पद से पहले भगवान को भी सम्बोधित किया जाता था, वह पुण्य-पवित्र आस्पद, आह, अपनी सारी गरिमा खो चुका ! (उसाँसे लेता है)

चन्द्रगुप्त—श्वेत ! श्वेत ! तुम ऐसे उदास मत हो मेरे कवि-मित्र ! तनिक इधर आओ ! (उसकी पीठ पर हाथ सहलाते हुए) हाँ, तुम्हारी वाणी पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। किन्तु तुम्हें आनन्दित होना चाहिये कि आज तुम्हारी ही वाणी चरितार्थ होने जा रही है, श्वेत !

श्वेतकेतु—आनन्दित होना चाहिये ! पाटलिपुत्र के सम्राट् आज इस नीलगिरि की तलहटी में, घास-फूस से बनी इस कुटिया में, कुश की साथरी बिछा कर, यह प्रतिज्ञा करके उसपर आ बैठे हैं कि साठ दिनों का निराहार-निर्जल व्रत रख कर प्राण त्याग कर दूँगा और उनका यह कवि-मित्र इसी पर आनन्द मनाये कि अन्ततः उसकी वाणी सफल तो हुई ! कवि ! कवि ! तुम्हें क्या समझ रखा है लोगों ने ! न तुम्हें आदि में समझते हैं, न अन्त में....... आह !

चन्द्रगुप्त—ओह ! तुम भी मेरा पक्ष नहीं ले रहे हो, श्वेत ! तुम भी नहीं देख रहे हो ! तुम्हारी दृष्टि तो....

श्वेतकेतु—मेरी दृष्टि भी आज कुंठित हो रही है, यह स्वीकार करते हुए मैं लज्जा का बोध कर रहा हूँ, किन्तु सत्य बात यही है सम्राट् ! आह ! आज माताजी होतीं ! (विह्वल हो जाता है; आँसू पोंछने लगता है)

चन्द्रगुप्त—कैसा आश्चर्य ! आज कवि भी मोहित हो रहा है ! यह क्या कर रहे हो, श्वेत ? शरीर से यह मोह ! और आदर्श से ?

श्वेतकेतु—आदर्श या तो आपके गुरुदेव जानें, या आप जानें ! मैं इसकी भूलभुलैया में कभी नहीं पड़ा सम्राट् और न अब आज उसका कोई पाठ सुनना चाहता हूँ ! मैं आज एक क्रूर सत्य देख रहा हूँ और जीवन-भर जिस सत्य की उपासना करता रहा, वही जब अपनी सारी विभीषिका के साथ सामने खड़ा है, मेरा रोम-रोम काँप रहा है ! देखिये, यह देखिये ! (अपने रोमांचित हाथ बढ़ाता है)

चन्द्रगुप्त—श्वेत ! श्वेत !

चन्द्रा—सम्राट्, सम्राट् ! अपना निर्णय बदलिये सम्राट् ! (फिर चरणों से लिपट जाती है)

चन्द्रगुप्त—सम्राज्ञी ! सम्राज्ञी !

चन्द्रा—क्या सम्राज्ञी बना कर आप मुझसे दंड भुगतवाना चाहते हैं ? मुझसे कौन-सा अपराध हुआ है, सम्राट् !

चन्द्रगुप्त—ओह ! तुम लोग नहीं मानोगे ! तो सुनो, अपराध तुम से या किसी से नहीं हुआ है, अपराध सम्राट् ने किया है। और यह क्या अन्याय नहीं होगा कि अपराध प्रजा करे तो उसे दंड भुगतना पड़े किन्तु सम्राट् बेलाग छूट जाय ! और, हत्याकारी के लिए प्राण-दंड की ही व्यवस्था है सम्राज्ञी !

चन्द्रा—हत्याकारी ! प्राणदंड !

चन्द्रगुप्त—हाँ, सम्राट् ने हत्या की है—हत्या ही क्यों, हत्यायें की हैं !

श्वेतकेतु—तो क्या युद्ध बिना हत्या के किया जा सकता है ? और विजय के साथ ही क्या हत्यायें संलग्न नहीं हैं ? यदि यही बात हो, तो सभी सम्राटों और सामन्तों को सूली पर लटकना पड़ेगा ! तब मुझे भी दुख नहीं होगा, यदि सभी सम्राटों और सामंतों के साथ एक हमारा सम्राट् भी सूली पर चढ़ाया जाय या चांडाल के हाथ से खाँड़े की धार उतारा जाय ! सम्राट्, सम्राट्—यह नियम आज ही घोषित किया जाय, सम्राट् ! तब यह आपका कवि-मित्र सचमुच आनन्द से नाच उठेगा !

चन्द्रगुप्त—मैं युद्ध में की गई हत्याओं के सम्बन्ध में नहीं कह रहा हूँ, श्वेत, वे क्षम्य भी मान ली जायें किन्तु जो शासक अपनी निरीह प्रजा को तड़पा-तड़पा कर मारे, उसके लिए दंड का क्या कोई विधान नहीं होना चाहिये ?

चन्द्रा—(साश्चर्य) प्रजा को तड़पा-तड़पा कर !

चन्द्रगुप्त—हाँ, प्रजा को तड़पा-तड़पा कर ! सम्राज्ञी, क्या आपको यह भी ज्ञात नहीं कि आपके राज्य में कई वर्षों से अकाल पड़ा है; अन्न के अभाव से प्रजा में हाहाकार मचा है; प्रतिदिन कितने ही बच्चे, बूढ़े, जवान तड़प-तड़प कर प्राण दे रहे हैं। चारो ओर रुदन-रुदन है, क्रंदन-क्रंदन है ! सम्राज्ञी प्रजा की माँ होती हैं। वह कैसी माँ समझी जायगी जो अपने तड़पते-मरते बच्चों का रुदन-क्रंदन तक सुन नहीं पाये !

चन्द्रा—सम्राट्, सम्राट् ! जले पर नमक मत छिड़किये सम्राट् !

चन्द्रगुप्त—यह जले पर नमक नहीं छिड़कना है, यह तो कर्तव्य की याद दिलाना है, सम्राज्ञी ! आप माँ हैं, तनिक कल्पना तो कीजिये, यदि आपके बच्चे को इसी तरह तड़प-तड़प कर मरना पड़े, तब आपको कैसा लगे ? नहीं, अपराधी को दंड मिलना ही चाहिये, चाहे वह साधारणजन हो या सम्राट् ! और साधारणजन की अपेक्षा सम्राट् को कठिनतर दंड चाहिये, कठिनतम, कठोरतम हो, तो और अच्छा !

चन्द्रा—क्या इससे भी कोई कठोरतम दंड हो सकता है ? साठ दिनों तक निर्जल-निराहार...... आह !

चन्द्रगुप्त—(दृढ़तापूर्वक) निर्जल-निराहार ! हाँ हाँ, निर्जल-निराहार ! जब प्यास से गला सूखने लगेगा, भूख से अंतड़ियाँ ऐंठने लगेंगी। जब शिरा-शिरा में आग की लपटें दौड़ेंगी। जब मस्तिष्क में साँय-साँय मचता रहेगा। कभी चेतना लुप्त होगी, कभी वह स्फुलिंग-सी बल उठेगी ! कवि, क्या सोच रहे हो, कवि ? क्यों उदास मुख खड़े हो कवि ? कल्पना करो कवि, जब विजेता मृत्यु से पग-पग पर क्षण-क्षण लड़ेगा। लड़ेगा, लड़ेगा और अन्त में——.

चन्द्रा—सम्राट्, सम्राट् ! ओ हो . . हो (व्याकुल होकर चरणों से लिपट जाती है) श्वेतजी, श्वेतजी, सम्राट् क्या कहे जा रहे हैं श्वेतजी ! हायरे अभागी चन्द्रा, इससे तो अच्छा था कि तू धूल पर ही खड़ी होती !

श्वेतकेतु—धूल ! धूल ! धन्य हो तुम धूल ! फूलों की सेज पर सोने वाली सम्राज्ञी भी तुम्हें सर्वथा भूल नहीं पाती ! भूले भी कैसे, जब सबको एक दिन तुम्हीं में जा मिलना है ! किन्तु कैसी छलना ! जिस तरह हवा का एक हल्का झोंका धूल को उड़ा देता है, सुख की झलक पाते ही दुखकी याद भी क्षण में विलीन हो जाती है ! फिर याद में रह जाती है, अट्टालिका......

चन्द्रा—अट्टालिका ! अट्टालिका ! चन्द्रा अट्टालिका पर कभी नहीं भूली कविजी ! उसने तो किसी के चरणों पर आरम्भ में ही अपने को न्योछावर कर दिया था; वे चरण जहाँ रहे, वहीं चन्द्रा रही—चाहे फूल पर या शूल पर ! आह रे आदमी ! पैरों के नीचे के फूल तो वह देख पाता है, किन्तु हृदय में चुभे शूल कौन देखे, कौन परखे ! दुर्भाग्य कि कवि की दृष्टि भी उसे नहीं देख पाती !

श्वेत—धूल ! फूल ! शूल ! सचमुच हर नारी कवि होती है !

चन्द्रा—यह आपको क्या हुआ है कविजी ! आप स्थिति की गंभीरता भी नहीं समझ पाते ! यहाँ मेरे जीवन का, सम्राट् के जीवन का, राष्ट्र के जीवन का फैसला होने जा रहा है—और आप ऐसे बोले जा रहे हैं जैसे कोई दार्शनिक श्मशान में प्रवचन करने जा रहा हो ! ओह ! (व्याकुल होती है)

श्वेत—श्मशान में प्रवचन. . .नहीं चन्द्रे, नहीं ! वहाँ प्रवचन मेरा नहीं, गुरुदेव का होगा सम्राज्ञी ! वह शायद उस प्रवचन की ही तैयारी में हैं ! वह आते ही होंगे—प्रवचन उनसे सुन लीजियेगा, मैं चला। सम्राट् मुझे आज्ञा दीजिये—मैं यह सब देख-सुन नहीं सकता ! (चलने का उपक्रम करता है)

चन्द्रगुप्त—ठहरो श्वेत। तुम्हें साक्षी रहना है। प्रारम्भ से ही मेरे कर्मों के साक्षी रहे हो, अन्त में क्या मुझे दूसरा साक्षी ढूँढ़ना पड़ेगा ? और किसी दूसरे की छाती में यह दम है कि इस निष्ठुर अभियान का साक्ष्य कर सके !

(चाणक्य का प्रवेश : चन्द्रा दौड़ कर उसके चरणों से लिपट जाती है : श्वेतकेतु रुक्षभाव से खड़े-खड़े सिर नवाता है : चन्द्रगुप्त अपने आसन पर खड़े हो जाते हैं—)

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, क्षमा करें, इस आसन से. . . .

चाणक्य—सम्राट् को नहीं हटना है ! यह उनका निश्चय जो है ! सम्राट् का निश्चय या निर्णय कैसे टले ? यदि सम्राट् का निश्चय अटल नहीं हो, तो फिर इस चंचल जगत में अटलता की टेक कहाँ टिके ! कविजी, आप भी तो इससे सहमत होंगे !

श्वेतकेतु—मुझसे नहीं, सम्राट् से सहमति लीजिये गुरुदेव। अब अन्त समय में मेरी सहमति ?

चाणक्य—अन्त समय ! समय की कोई आदि है, जो अन्त होगा ! (चन्द्रगुप्त से) सम्राट्, बैठिये, लेटिये ! सब जान चुका हूँ, समझ चुका हूँ सम्राट्। एक नया धर्म चला है, जिसमें निषेध-ही-निषेध

है। यह निषेध, वह निषेध ! जिसमें युद्ध निषेध है, विजय निषेध है ! जिसमें हिंसा निषेध है, हत्या निषेध है। सब निषेध है, विधेय है केवल आत्महत्या ! वैशाली ! तू क्या-क्या देती रही है ?—जहाँ का हर नागरिक अपने को राजा समझता रहा है, वहाँ से जब जो न पैदा हो जाय !

चन्द्रगुप्त—(किंचित आवेश में) गुरुदेव ! आत्महत्या नहीं; आत्मबलिदान ! अब तक लोग मारना सिखाते रहे या सीखते रहे, वैशाली ने मरना सिखाया है। मरना भी कैसा—पलपल, क्षणक्षण घुलघुल कर, गलगल कर ! और, गुरुदेव क्या वह भूभाग धन्य नहीं, जहाँ प्रजा और राजा का भेदभाव नहीं। जहाँ का हर नागरिक अपने को राजा और हर बच्चा अपने को राजकुमार समझता है ! जहाँ राजसिंहासन योग्यता खोजता है, कुलगोत्र नहीं !

चाणक्य—सम्राट् ! इस आसन पर बैठने के बाद क्रोध की झलक भी नहीं आनी चाहिये ! किन्तु एक निवेदन सम्राट्, इसी पथ पर बढ़ना था, तो वैशाली में क्यों, अपनी कपिलवस्तु से ही आपको प्रेरणा मिल सकती थी !

चन्द्रगुप्त—यदि हम वैशाली या कपिलवस्तु के—भगवान् महावीर या तथागत के—सन्देश सुने होते, उनपर ध्यान दिये होते, तो आज संसार कुछ दूसरा ही होता, गुरुदेव ! हमने, संसार ने, उनके अहिंसा धर्म का, शान्ति धर्म का सन्देश नही सुना, फल हमारी आँखों के सामने है। हमने शास्त्रों के आधार पर, शस्त्रों के बल पर चक्रवर्ती साम्राज्य की तो स्थापना कर ली, किन्तु उस चक्रवर्ती राज्य की प्रजा को भूखों मरने से नहीं बचा सके ! आपकी चक्रवर्तित्व की कल्पना पर यह कैसा क्रूर व्यंग देवता ने किया है गुरुदेव !

चाणक्य—क्या कोई किसी को मरने से बचा सकता है सम्राट् ! मानव अपना कर्तव्यमात्र कर सकता है। क्या हमने कर्तव्य-पालन में कोई त्रुटि की है ? हमने सारे देश को एक सुशासन में सम्बद्ध किया है, उसकी श्रीवृद्धि के लिए वे प्रयत्न किये हैं, जो सोचे भी नहीं जा सकते थे। आज सारा देश एक है। एक छोर से दूसरे छोर को जोड़ने वाले राजपथों का हमने निर्माण किया है। उन पथों को निरापद बनाया है—उनपर निरस्त्र यात्रायें की जा रही हैं। लूट-पाट, छीना-झपटी का कहीं नाम नहीं है। कौन ऐसा राज्य है, जिसके नागरिक अपने घरों में बिना ताला लगाये, निश्चिन्त, उन्हें छोड़ सकते हैं, बाहर जा सकते हैं, तोभी एक तिनका इधर-उधर न हो ! हमने

नहरें बनाई हैं, सरोवर बनाये हैं। जहाँ मरुभूमि थी, वहाँ जल की लहरियाँ अठखेलियाँ करती हैं। देश के ही नहीं, विदेशों से होने वाले वाणिज्य-व्यापार में भी कितनी उन्नति हुई है—हमारे सार्थवंह जल-पथ से, थल-पथ से नाना प्रकार के पण्यों का आयात-निर्यात करते हैं। चारो ओर सुख है, समृद्धि है! इतने पर भी यदि अकाल पड़ा, तो क्या हमारा अपराध है? विधाता पर हमारा क्या वश है? पानी का बरसना हमने रोक दिया? देवताओं ने जो त्रुटियाँ कीं, उनके लिए हम कैसे उत्तरदायी हो सकते हैं, सम्राट्?

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव! मैं आपसे तर्क-वितर्क नहीं करना चाहता, उसका अवसर नहीं है, उसका कोई फल भी नहीं होनेवाला है। तर्क से सब बातें सिद्ध भी नहीं की जा सकतीं। मैं इतना ही जानता हूँ, राजा जिस समय शासन-सूत्र हाथ में लेता है, प्रजा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व उसपर आ जाता है। किसी भी कारण से—वह कारण भौतिक हो या आधिभौतिक, लौकिक हो या दैवी—यदि वह प्रजा के प्राण या धन की रक्षा नहीं कर पाता, वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है! और इस कर्तव्य-च्युति का दंड उसे भुगतना ही चाहिये।

चाणक्य—और वह दंड सदा प्राणदंड होगा!

चन्द्रगुप्त—हाँ, प्राण-हरण का दंड प्राण-दान के ही रूप में चुकाया जा सकता है! प्रजा यदि एक की हत्या करती है, तो उसे प्राणदंड दिया जाता है, और अपनी कर्तव्य-च्युति से जिसने इतनी हत्यायें कीं, उसे प्राणदंड से भी कोई कठोरतम दंड हो, तो मिलना चाहिये और उस दंड का विधान वैशाली के उस संत ने ही किया है! साठ दिनों तक निर्जल-निराहार रह कर प्राण त्याग दो—तिल तिल कर मरो, घुल-घुल कर मरो, तड़प-तड़प कर मरो! और तो भी मुँह पर उफ नहीं लाओ! तनिक भी उफ-आह आई कि प्रायश्चित भ्रष्ट हुआ! गुरुदेव, गुरुदेव, इस विधान से भी दिव्य, उदात्त क्या कोई विधान हो सकता है? मैं निश्चय कर चुका हूँ और आप भी कह चुके हैं, सम्राट् का निर्णय बदलना नहीं चाहिये! मुझे मरने दीजिये, गुरुदेव! आपने विजेता के रूप में मुझे गढ़ा है, इस अंतिम विजय से मुझे वंचित नहीं कीजिये, गुरुदेव!

चाणक्य—विजय! विजय की लालसा! कैसी प्रबल होती है यह लालसा! पृथ्वी पर विजय, जीवन पर विजय: फिर मृत्यु पर

विजय, स्वर्ग पर विजय! हाँ, विजेता सदा विजेता है! (शून्य की ओर एकटक देखने लगता है)

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव! गुरुदेव! (झुक कर चरण छूता है)

चाणक्य—किन्तु, बेटे, एक निवेदन है! तुम्हारे इस निर्णय की सूचना बाहर नहीं जानी चाहिये, नहीं तो देश में तुरत ही अराजकता फैल जा सकती है। और आज्ञा दो, हम पाटलिपुत्र जाकर शीघ्र कुमार का अभिषेक करें।

चन्द्रगुप्त—जो इच्छा हो गुरुदेव!

चाणक्य—सम्राज्ञी, चलिये, कुमार को हम पाटलिपुत्र ले चलें।

चन्द्रा—गुरुदेव, गुरुदेव! मैं इन चरणों को छोड़ कर जा नहीं सकती, जा नहीं सकती, गुरुदेव! (चरणों से चिपक जाती है)

चाणक्य—चन्द्रे! विह्वल मत बनो! इसमें सबसे बड़ी असफलता मेरी है! आज मुझसे दुखी इस संसार में कोई नहीं है। यह निर्मम, क्रूर ब्राह्मण एक ही व्यक्ति को प्रेम दे सका था; एक ही व्यक्ति के लिए इसने अपने हृदय में कोमल स्थान बनाया था। वह स्थान रिक्त हो रहा है। वहाँ हाहाकार ही हाहाकार है! छाती में दरारें पड़ रही हैं, वह फटना चाहती है! आह! जिसे टीले पर पाया, जिसे स्वर्ण-सिंहासन पर बिठलाया; उसे आज अपनी ही आँखों धूल में मिलने को छोड़े जा रहा हूँ! यह क्या होने जा रहा है? (भाव-विह्वल होकर) चाणक्य! चाणक्य! तुम्हारी नीति की यही परिणति थी! तुम्हारी सारी दौड़धूप, सारे संघर्ष-विमर्ष का यही फल होना था! ओह! (आँसू पोछता है) किन्तु, नहीं, नहीं। सम्राज्ञी, भावना एक अलग वस्तु है और राजधर्म दूसरी वस्तु। दोनों पृथक हैं, दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं! हम राजधर्म छोड़ देंगे, तो सारा किया-कराया समाप्त हो जायगा—ऋषियों की कल्पना धूल में मिल जायगी! राजा आता है, राजा जाता है! राज्य को स्थायी होना चाहिये! सिंहासन को कभी सूना नहीं रहना है। हमें तुरत ही कुमार का अभिषेक कर देना है! मैं चलता हूँ, शिविर में पाटलिपुत्र चलने के लिए कूच की घोषणा कराता हूँ! शीघ्र आइये! (द्रुतगति से जाता है)

चन्द्रा—श्वेतजी, श्वेतजी, अब आप ही बचाइये श्वेतजी!

श्वेतकेतु—सम्राज्ञी, व्याकुल मत बनिये! गुरुदेव कह गये हैं न, कोई किसी को बचा नहीं सकता!

चन्द्रा—गुरुदेव की बात मत कीजिये, उन्हीं के चलते यह सब हुआ है! हाय!

श्वेतकेतु—क्या उन्होंने यह स्वयं स्वीकार नहीं किया है! सत्य एक दिन ऊपर आता है और वह उसी के मुँह से बोलता है, जो सदा उसका शत्रु रहा! सत्य का यही जादू है! गुरुदेव को स्वीकार करना पड़ा, उनकी नीति असफल रही। किन्तु यह उन्हीं का मस्तिष्क है, जो आज भी अपने कर्तव्य को नहीं भूल मका! गुरुदेव, सचमुच अलौकिक पुरुष हैं! सम्राज्ञी, उनकी आज्ञा का अनुगमन होना चाहिये, आप विह्वल न हों! इस कवि की वाणी एक ही जगह पूर्णतः सार्थक हुई है—आपसे वह फूल खिला, जो आज पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन को सुशोभित करने जा रहा है। अभी वह अर्द्धस्फुटित ही है, जाइये उसे पूर्ण स्फुटित कराइये!

चन्द्रा—कवि, कवि! तुम भी आज इतने निष्ठुर बन रहे हो कवि!

श्वेतकेतु—निष्ठुर! कवि निष्ठुर नहीं हो सकता! किन्तु प्रकृति की पुकार की अवहेलना कौन कर मकना है? जो वाटिका वसंत में फूल-भरी, रंग-भरी, सुगंध भरी होती है, वही शिशिर में कैसी उजाड़ बन जाती है, झंखाड़ बन जाती है। फूल झड़ गये, पत्ते झड़ गये, रंग उड़ गये, सुगंध उड़ गई। किन्तु ये ही फूल, यही पत्ते वहाँ गिर कर खाद बनाते हैं, जिसे पाकर पौधों में फिर प्राण आते हैं—फिर कोपलें फूटती हैं, पत्तियाँ निकलती हैं, कलियाँ लगती हैं, फूल खिल हैं। फिर बाटिका हरी-भरी—फूल भरी, रंगभरी, सुगंधभरी बन जाती है! जो झड़ रहे हैं, झड़ने दीजिये, सम्राज्ञी! जाइये, नई पौध को, नये फूल को देखिये! सबका अपना-अपना कर्तव्य है। सम्राट् अपना कर्तव्य कर रहे हैं, आप अपना कर्तव्य कीजिये......

चन्द्रगुप्त—हाँ, चन्द्रे! कवि सत्य कर रहा है और इस आसन से जैसे एक और सत्य का मूर्त आभास मुझे मिल रहा है—मुझे लग. रहा है, तुमने जो इस वंश को फूल दिया है, उसी से कभी एक फूल और निकलेगा, जो सब फूलों मे विलक्षण होगा, अपूर्व होगा! उसका रंग पृथक होगा, सुगंध पृथक होगी! पाटलिपुत्र के सिंहासन को सुशोभित करनेवाला वह फूल राज्य का, शासन का, विजय का—सबका एक नया आदर्श देगा, एक नई व्याख्या देगा! जाओ, चन्द्रे,

जाओ—तुम उस फूल का सिंचन-परिवर्द्धन करो, मैं धूल में मिल कर भी उसकी शुभकामना करता रहूँगा !

चन्द्रा—मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकती चन्द्र ! (लिपट जाती है)

चन्द्रगुप्त—(उसकी पीठ सहलाते) जाओ, जाओ, पगली ! श्वेत, तुम भी जा सकते हो भाई !

श्वेतकेतु—मैं, जाऊँ ! तो इस अलौकिक विजय का साक्ष्य कौन करेगा ? अभी कह चुके हो न—भूल गये ? नहीं, नही ! जीवन-भर तुम्हारी पृथ्वी-विजय का साक्षी रहा, क्या स्वर्ग-विजय के साक्ष्य से मुझे वंचित करना चाहते हो—कर भी सकोगे—मेरे विजेता, मेरे सखा, मेरे चन्द्र ! (वह उससे लिपट जाता है)

[पटाक्षेप]

हम इनके कृतज्ञ हैं !

इस ग्रंथावली के प्रकाशन की योजना के मूल में यह आशा रही कि हर भाग के प्रकाशन के पूर्व हमें कम-से-कम सौ ऐसे सज्जन मिल जायेंगे जो सौ-सौ रुपये देकर पूरी ग्रंथावली के स्थायी ग्राहक बन जायेंगे। दूसरे भाग के प्रकाशन के पूर्व इन सज्जनों ने स्थायी ग्राहक बनकर हमारे लिए पथ प्रशस्त किया : हम इनके कृतज्ञ हैं–

बम्बई

१—श्री बाबूलालजी माखड़िया,
२—श्री सेठ ताराचन्द्र गुप्ता
३—श्री किशोरी लालजी ढाढ़निया
४—मंत्री, मारवाड़ी हिन्दी पुस्तकालय
५—मंत्री, सीताराम पोद्दार बालिका विद्यालय
६—श्री विश्वम्भरलालजी माहेश्वरी
७—श्री शिवकुमारजी भुआलका
८—श्री सेठ गंगाधरजी माखड़िया
९—श्री नाथूराम रामनारायण लिमिटेड
१०—श्री रामकृष्ण जी बजाज
११—श्री सुशील कुमारजी रूइया
१२—श्री पुरुषोत्तम जी लँगटा
१३— " " "
१४—प्रिन्सपल मारवाड़ी कर्मशियल हाईस्कूल
१५—श्री भगवती प्रसाद महावीर प्रसाद
१६—श्री पुरुषोत्तमजी लँगटा
१७—श्री ब्रजमोहनजी नेमानी
१८—श्री दामोदर लालजी जयपुरिया
१९—श्री " " "
२०—श्री सी० जे० शाह
२१—श्री खेतारामजी चौधुरी
२२—श्री जौहरीमल देवीप्रसाद
२३—मंत्री, बृजमोहन लक्ष्मीनारायण रूइया हिन्दी हाई स्कूल
२४—श्रीमती ललिता माखड़िया
२५—श्री कोठारी जी
२६—श्री देवी प्रसाद खंडेलवाल
२७—श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठक्करसी महिला कालेज

२८—श्री श्यामलाल खेमका
२९—श्रीमती तेजनारायण खेतान

गुजरात

१—श्री गोवर्धन भाईजी पटेल, कैरा

पूना

१—मंत्री, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा

पटना

१—श्री अनुग्रह नारायण सिंहजी, वित-मंत्री, बिहार सकार
२—श्री महेश प्रसाद सिंह, उद्योग मंत्री, बिहार सरकार
३—श्री दीप नारायण सिंह, सहयोग मंत्री, बिहार सरकार
४—श्री कृष्णबल्लभ सहाय, राजस्व मंत्री, बिहार सरकार
५—श्री वीरचन्द्र पटेल, उप-मंत्री, बिहार सरकार
६—डाइरेक्टर, जन-सम्पर्क-विभाग, बिहार सरकार
७—श्री डी० पी० शर्मा, रिटायर्ड आई० सी० एस०
८—चेयरमैन, डिस्ट्रिक बोर्ड, पटना
९—श्री रामदयाल जोशी, वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन
१०—श्री सीताराम सिंहजी, नेशनल फारमेसी
११—श्री राम नारायण अरोड़ा, पटना सीटी
१२—श्री राम विनोद सिंह, एम० एल० ए०
१३—श्री किशोरी गुप्ता, पुस्तक भवन
१४—प्रधानाध्यापक, मिड्ल स्कूल, अमरपुरा
१५— " " " बेऊना
१६— " " " सदीसोपुर
१७— " " " हुसाडीह
१८— " " " जलालपुर
१९— " आर० एम० मिड्ल स्कूल, सभयागढ़
२०—श्री बलदेव सहाय जी, ऐडवोकेट
२१—श्री महावीर प्रसाद, ऐडवोकेट जनरल

नई दिल्ली

१—श्री भरत रामजी
२—श्री रामनारायण सिंह एम० पी०
३—श्री जे० पी० श्रीवास्तव, एम० पी०

कलकत्ता

१—श्री वेणी शंकरजी शर्मा
२—श्री मातादीनजी खेतान
३—श्री प्रभुदयाल शिवचन्द्रराय दावड़ीवाला
४—श्री शिवभगवान गोयनका
५—श्री रामेश्वर प्रसाद पाटोदिया
६—श्री बी० पी० हिम्मतसिंहका
७—श्री कृष्णानन्दजी जालान

आसनसोल

१—श्री नन्दलालजी जालान
२—श्री रमैयाजी

राजस्थान

१—मंत्री, पब्लिक लाइब्रेरी, सरदार शहर

मध्यभारत

१—प्रबंधक, बनमौर सीमेन्ट वर्क्स, बनमौर

मानभूम

१—श्री यू० एन० झाजी, धनबाद
२—श्री ठाकुरदयाल सिंह, कुंडवाडीह

दरभंगा

१—चेयरमैन, म्युनिसिपैलिटी, दरभंगा
२—श्री के० डी० चूड़ीवाल, हसनपुर रोड
३—प्रिन्सपल, समस्तीपुर कालेज, समस्तीपुर

चम्पारण

१—मंत्री, श्री कृष्ण पुस्तकालय, विलासपुर
२—श्री राधा पाण्डे, एम० एल० ए०, रक्सौल

सिंहभूम

१—प्रबंधक, एशोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनी लिमिटेड, चाइबासा
२—श्री विश्वनाथजी मूँदड़ा, चाइबासा
३—मंत्री, एम० एल० लँगटा हाई स्कूल, चाइबासा
४—श्री हरलाल बर्जन राठौर, चाइबासा

५—जनसम्पर्क विभाग टिस्को, जमशेदपुर
६— " " " "
७— " " " "
८— " " " "
९— " " " "
१०— " " " "

मुंगेर

१—श्री जितेन्द्र नारायण सिंह, चौथम
२—श्री कपिलदेव नारायण सिंह, 'मुहृद', मुहृद-नगर
३—श्री विष्णुदेव नारायणजी, एल० एल० बी०, बेगूसराय
४—श्री श्यामकृष्ण दासजी, बेगूसराय

पूर्णियाँ

१—श्री लक्ष्मी नारायणजी "सुधांशु", रूपसपुर

संथाल-परगना

१—प्रधानाध्यापक, हाई स्कूल, फतेपुर
२—प्रधानाध्यापक, माध्यमिक विद्यालय, हंसडीहा
३— " माध्यमिक विद्यालय, वृन्दावन
४— " " " रोलाग्राम
५— " " " छोटाधमनी
६— " " " रघुनाथपुर

हजारीबाग

१—श्री रामगोपाल अग्रवाल, डोमचाँच

पलामू

१—मंत्री, गाँधी-मजदूर-यूनियन क्लब, जपला
२—मंत्री, स्टाफ एशोसियशन, जपला
३—मंत्री, वर्कर्स क्लब, बौलिया
४—मंत्री, स्टाफ क्लब, बौलिया
५—श्री केशव प्रसाद पाण्डेय, जपला
६—श्रीमती उमा सिन्हा, जपला
७—प्रधानाध्यापक, एच० एस० वी० हाई स्कूल, जपला
८—जेनेरल सेक्रेटरी एच० एस० वी० क्लब, जपला

शाहाबाद

१--प्रधानाध्यापक, हाई स्कूल, बौलिया
२— " क्वेरिज मिड्ल स्कूल, बौलिया
३—प्रधानाध्यापक, हाई स्कूल, नरहीचंडी

भागलपुर

१—श्रीमती श्यामलाल खेमका, कहलगांव

मुजफ्फरपुर

१—श्री महंथ रघुनाथ दास, जानकीस्थान, सीतामढ़ी
२--मंत्री, रघुनाथ प्रसाद नोपानी हाई स्कूल, बाजपट्टी
३—मंत्री शारदा सदन पुस्तकालय, लालगंज
४—श्रीदेवनन्दन प्रसाद सिंह, धनौर
५—श्रीमती रामज्योति कुअँरि, धनौर
६—श्री जगन्नाथ प्रसाद सिंह, धनौर

सारन

१—श्री विश्वनाथ मिश्र, वकील, छपरा
२—भारत सूगर मिल्स लिमिटेड, सिधवालिया,

नेपाल

१—श्री गुलाब नारायण झा, सलाहकार सभा, काठमांडू
२—श्री भगवती प्रसाद सिंह, न्यायाधीश, काठमांडू
३—श्री रामानन्द सिंह, कोइलाढ़ी
४—जनरल कैसर शम्शेर, काठमांडू
५—श्रीमती कैसर शम्शेर, काठमांडू
